सूर्यकुमारी पुस्तकमाला २७

तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य



लेखक
नागेंद्रनाथ उपाध्याय, एम० ए०
रिसर्च फेलो, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय



नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

मुद्रक : महताबराय, नागरी मुद्रण, काशी

प्रथम संस्करण, १६०० प्रतियाँ, संवत् २०१५

मूल्य ५)

कीर्तिशेष

पूज्य पिता की

पुण्य स्मृति

को

सादर

प्राक्कथन

: १ :

लेखक के अनुरोध पर उसके हिंदी में तान्त्रिक बौद्ध मत पर रचित नवीन रोचक ग्रंथ की एक लघु भूमिका प्रस्तुत करने की स्वीकृति के फलस्वरूप लिखित ये पंक्तियाँ एक प्राक्कथन से अधिक कहलाने का साहस नहीं करतीं। यह आनंदप्रद लक्षण है कि लोग अब बहुत दिनों से उपेक्षित तथा अंधकार में पड़े विषयों में अधिक से अधिक रुचि लेने लगे हैं। तंत्र भी उन उपेक्षित विषयों में है। तंत्रों की तरह वेदों तथा उनके अंतर्भूत परवर्ती साहित्य का अध्ययन करना ही संपूर्ण भारतीय संस्कृति का उसके विभिन्न पक्षों के साथ अध्ययन करना है। विचारों में धाराएँ तथा प्रतिधाराएँ होती हैं। उनका अध्ययन करने के लिये हमें उन विस्तृत (विभिन्न) बौद्धिक और आध्यात्मिक आंदोलनों को भी ध्यान में रखना चाहिए जो उस युग का निर्माण करते हैं।

अपने प्रारंभिक काल में तान्त्रिक अध्ययन ने अपनी आस्तिक दिशा में सर जान उडरफ जैसे महान् योरूपीय पंडितों तथा उनके कुछ तत्पर भारतीय प्रशंसकों एवं सहकर्मियों द्वारा पर्याप्त बल प्राप्त किया। इस तथ्य को देखते हुए भी कि आज तक का प्राप्त तान्त्रिक साहित्य अत्यल्प है, और साथ ही वह इतना विशाल और अनेक रूपात्मक है तथा उस साहित्य द्वारा प्रतिपादित साधन इतना गहन, गंभीर तथा दुर्बोध है कि हमें यह विवशतः स्वीकार करना पड़ेगा कि पूर्ण और स्पष्ट परिणामों को प्राप्त करने के लिये विषय में रुचि रखने वाले सहनशील, परिश्रमी, तथा उत्साही विद्वानों की पीढ़ियों की आवश्यकता पड़ेगी। साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखना होगा कि शैवों,

शाक्तों, वैष्णवों आदि से संघटित आस्तिक भारतीय समाज के साथ बौद्धों और जैनों के भी अपने अनुकूल ही तांत्रिक साधन और साहित्य हैं जिन पर वे आधृत थे।

महायान बौद्ध मत में अंतर्भूत तांत्रिक ग्रंथ अभ्युदय की दृष्टि से अपेक्षाकृत परवर्ती होते हुए भी अनेक हैं और उनमें से कुछ प्रमुख मूल ग्रंथ अब प्राप्य भी हैं। उनमें से कुछ के अनुवाद तथा टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। यह भी अच्छा ही हुआ है कि इन ग्रंथों के कुछ विद्वानों की कृतियाँ अब प्रकाशित भी हो चुकी हैं तथा उन कृतियों ने आगे के लोगों के लिये मार्ग भी प्रशस्त किया है। महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री तथा उन्हीं की तरह उनके योग्य पुत्र और उत्तराधिकारी डा० विनयतोष भट्टाचार्य के कार्य इस क्षेत्र में स्तुत्य हैं। डा० प्रबोधचंद्र बागची, डा० शहीदुल्ला, डा० शशिभूषण दासगुप्त, डा० तुसी, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, महापंडित राहुल सांकृत्यायन तथा अन्य लोगों ने इस क्षेत्र में बहुत कार्य किया है। अतः ऐसा अवसर आ गया है कि हम अब उन सबका संग्रह करें तथा यह देखें कि नवीन उद्घाटित विस्तृत साहित्य से हम लोगों ने क्या संकलित किया है।

वस्तुतः हिंदी में अभी इस विषय पर कुछ नहीं है। आचार्य नरेंद्रदेव अपने 'बौद्ध धर्म-दर्शन' नाम के स्मरणीय ग्रंथ में बौद्ध साधन के इस पक्ष पर बहुत कम कह सके हैं। उन्होंने व्यक्तिगत रूप से मुझसे अपने ग्रंथ के लिये अधिक से अधिक संभव यत्न से लिखी बौद्ध तंत्रों का प्रतिपादन करने वाली एक भूमिका प्रस्तुत करने के लिये कहा। मैंने भी उनकी इच्छा के अनुकूल ही अधिक से अधिक संभव यत्न से उसे पूरा किया किंतु एक भूमिका की सीमाओं के अंतर्गत विषय के साथ न्याय कर सकना, उसकी गंभीरता और विवेचनात्मकता को दृष्टिगत रखते हुए, संभव नहीं था। अतः मेरे लिये यह परम हर्ष की बात है कि विषय में रुचि रखने वाला तथा सभी प्रकार के आवश्यक ज्ञान से पूर्ण संपन्न, काशी हिंदू विश्वविद्यालय का एक युवक अध्येता तांत्रिक बौद्धों का विशेष और स्वतंत्र अध्ययन करने के लिये अग्रसर

हो। मैं उसके इस अमूल्य ग्रंथ की संस्तुति करता हूँ क्योंकि यह ग्रंथ तांत्रिक साधना के विकास में रुचि रखने वाले बौद्ध अध्येताओं के लिये उपादेय है।

: २ :

ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध साधना के दर्शन का गंभीर, सतर्क और व्यवस्थित अध्ययन अभी तक किसी भाषा में नहीं किया गया है। समय समय पर इस विषय में महत्वपूर्ण लेख अवश्य ही प्रकाशित होते रहे हैं। अभी तक जो कुछ भी किया गया है वह साधना के ऐतिहासिक विकास की रूपरेखा तथा उसके कुछ (पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती) रूपों का विवरण मात्र है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, अभी तक बौद्ध धर्मांतर्गत तांत्रिक साधन के पूर्ण विश्लेषण का प्रयत्न नहीं किया गया है। प्राचीन बौद्ध साधन का रहस्य शील, समाधि और प्रज्ञा अथवा सम्यक् आचार, ध्यान तथा ज्ञान में निहित है। ये तीनों निर्वाण तक ले जानेवाली सीढ़ी के तीन क्रमिक सोपान मान लिए गए हैं। प्राचीन बौद्धों का लक्ष्य निर्वाण था जिसका अर्थ था—तृष्णा या वासना का सर्वथा प्रणाश। तृष्णा को व्यक्तिगत और समष्टिगत दुःखों का मूल माना गया था। इस प्रकार, तृष्णा का प्रणाश दुःख निरोध का अवश्यंभावी हेतु है। तृष्णा का स्वरूप समग्र विश्व में व्याप्त है, केवलमात्र निम्नतम कामधातु या जड़ जगत् में ही नहीं, अपितु मध्यवर्ती रूपधातु नामक ज्योतिर्मय साकार तथा अरूपधातु नामक निराकार लोकों में भी वह व्याप्त है। सर्वोच्च भूमि की तृष्णा को भवतृष्णा कहते हैं। इन तीनो लोकों (कामधातु, रूपधातु, तथा अरूपधातु) में से प्रत्येक में तृष्णा के आश्रयस्वरूप एक चित्त रहता है जिसे लौकिक चित्त कहते हैं। लौकिक चित्त और लोकोत्तर चित्त का अंतर समझ लेना चाहिए। इन दोनों का अंतर इस तथ्य में निहित है कि प्रथम की उत्पत्ति बाह्य वस्तु तथा उसके संस्कारों से प्रभावित आलंबन से होती है। किंतु जब यही चित्त इस आलंबन का तिरस्कार विवेक बुद्धि से अथवा संन्यास के कारण कर लेता है तथा

उसके स्थान पर निर्वाण को आलंबन के रूप में स्वीकार कर लेता है, तब उसे लोकोत्तर चित्त कहते हैं। चित्त का यह स्रोत नित्य शांति की ओर स्वतः प्रवाहित होता रहता है।

प्राचीन साधन में ध्यान अथवा चित्त को एकाग्र करने की प्रक्रिया को प्रधान सहायक के रूप में स्वीकार किया जाता था। किंतु यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि ध्यानों में भी अंतर है। यह सर्वविदित है कि कामधातु से संबद्ध निम्नतम चित्त ध्यान के अनुकूल नहीं होता, किंतु सभी उत्तर चित्त, चाहे वे लौकिक हों या लोकोत्तर, ध्यानचित्तों के अंतर्गत ही हैं। लौकिक और लोकोत्तर चेतना के स्रोत में मुख्य भेद यह है कि प्रथम में (यदि वह कुशल है तो) जन्म और मृत्यु की परंपरा अबाध रहती है जब कि दूसरे में यह स्रोत क्रमशः निर्बल होते हुए, अंत में, निर्वाण में समाप्त हो जाता है।

कामधातु के निम्नतम चित्त का उत्कर्ष उचित उपदेश से, सोत्साह परिश्रम से तथा उपचार समाधि के माध्यम से उच्चतर ध्यानचित्त में परिणत हो सकता है। ध्यान, जिसे उपचारध्यान कहते हैं, स्थिर और अचंचल प्रतिभाग चित्त से निष्पन्न होता है, परिकर्म या उद्ग्रह निमित्त से नहीं। प्रत्यक्ष स्थूल दृष्टि के विषयीभूत आलंबन को परिकर्म कहते हैं किंतु उद्ग्रह अभ्यास की परवर्ती अवस्था की ओर संकेत करता है जिसका अर्थ है मानस दृष्टि का विषय। द्वितीय निमित्त पर एकाग्रता के परिणामस्वरूप यथासमय उसमें एक ज्योतिर्मय शुभ्र प्रकाश का दर्शन होता है। यही पूर्ववर्णित प्रतिभाग निमित्त का स्वरूप है। ज्यों ही इस निमित्त की यह द्युति प्रकट होती है, चित्त के पाँच प्रकार के आवरण (नीवरण) शक्तिहीन और क्षीण होने लगते हैं। इसके बाद समाधि की वह अवस्था आती है जिसे पारिभाषिक शब्दों में उपचार समाधि कहते हैं। यह ध्यान चित्त इस अवस्था में भी कामधातु की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकता।

लौकिक कामचित्त से, निर्वाण और चिर शांति को लक्ष्य के रूप में स्वीकार करनेवाले लोकोत्तर चित्त में परिणति का क्रम ऊपर कहे हुए क्रम

के अनुरूप है। यहाँ भी उपचार समाधि के माध्यम से ही अग्रगति होती है। भवांगस्रोत के सूत्र के टूट जाने पर कामधातु का विशिष्ट प्रकार का कुशल चित्त (कुछ क्षणों के लिये—चार क्षण अयोग्य लोगों के लिये तथा तीन क्षण योग्य लोगों के लिये) क्षणिक परिणामों (जवन) का अनुभव करता है। इस श्रेणी में 'गोत्रभू जवन' नाम का अंतिम क्षण निर्वाण को आलंबन के रूप में स्वीकार करता है। यह चतुर्थ क्षण है। इसके पूर्व परिकर्म, उपचार तथा अनुलोम क्षण होते हैं। लौकिक चेतना से लोकोत्तर चेतना में परिणति का विश्लेषण ही इन क्षणों का विचार-विषय है। पृथग्जन का आर्य होना तब तक संभव नहीं जब तक उनका चेतनास्रोत इन मध्यवर्ती क्रमिक सोपानों का अतिक्रमण न कर ले। अर्थात्, पृथग्जन इस मनोवैज्ञानिक क्रम के अवलंबन से ही आर्य हो सकता है। गोत्रभू के अनंतर आनेवाले क्षण अर्पणा के नाम से प्रसिद्ध हैं जो चेतना की परिणति के सूचक हैं। दूसरे शब्दों में, इस रूपांतर के परिणामस्वरूप, पृथग्जन, जहाँ तक उसके आध्यात्मिक रूपांतर का प्रश्न है, एक नवीन चेतना के क्षेत्र में प्रवेश करता है। इसके बाद एक लोकोत्तर गोत्र का आविर्भाव होता है जो पूर्व के जीवन के सभी प्रकार के संबंधों का विच्छेद कर देता है। इसके बाद भी उस क्षण का आविर्भाव और तिरोभाव होता है जिसे पारिभाषिक शब्दों में मार्गक्षण कहते हैं। इस महाक्षण में चार आर्यसत्यों का साक्षात्कार होता है। इससे यह प्रकट होता है कि उस महाक्षण में सभी धातुओं के, सभी प्राणियों के सभी प्रकार के दुःखों का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, साथ ही साथ दुःख का हेतु अज्ञान भी आनुषंगिक उपसर्गों के साथ लक्षित होता है। उसी समय, साथ ही, सभी प्रकार के दुःखों की निवृत्ति रूप निर्वाण तथा दुःखनिरोधगामी मार्ग अर्थात् अष्टांग मार्ग का भी दर्शन होता है। उसी एक क्षण में, एक साथ, एक समय ही इन चारों आर्यसत्यों का साक्षात्कार उसी प्रकार होता है जिस प्रकार बिजली की एक चमक में विभिन्न दृश्यों का। जब चित्त बलात् निर्वाणगामी स्रोत में आपन्न

हो जाता है तब किसी प्रकार के भविष्यत् पतन (अपाय) की आशंका भी नहीं रहती। इस प्रकार स्रोतापन्न की प्रथम अवस्था की उत्पत्ति होती है। मार्ग के इस परिशीलन से क्लेशों का उन्मूलन होता है। योग सूत्रों के व्यास-भाष्य के "चित्त नदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च" वाक्य से भी यही बात स्पष्ट होती है। स्रोतापन्न को, जो स्रोत में आपन्न हो चुका है, वह कल्याण की ओर ले जाती है, संसार की ओर नहीं। पतंजलि के श्रद्धा वीर्य आदि उपाय, वास्तव में, प्राचीन बौद्धों की परिभाषा में, बोधिपक्षीय धर्म हैं। मार्गचित्त के बाद फलचित्त का उदय होता है और उस समय मार्ग में विघ्न भी आ सकते हैं किंतु तब लक्ष्य की प्राप्ति में संशय नहीं रह जाता है और अकुशल चित्त के पुनः आविर्भाव की आशंका भी नहीं रह जाती।

: २ :

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन साधन निर्वाण मार्ग के आविष्कार और अनुसरण को ही लक्ष्य मानता था। यह निर्वाण अपने व्यक्तिगत दुःख और अनर्थ से मुक्ति के रूप में स्वीकार किया गया था। यह मुक्ति, जैसा औपनिषदिक और सांख्य मत में है, अंशतः इस देह में अवस्थान करते हुए तथा पूर्णतया देहांत में प्राप्त की जा सकती है। जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति तथा कैवल्य के आदर्श प्राचीन बौद्ध धर्म के प्रचारकाल में देश में प्रचलित थे। बौद्ध धर्म में इन आदर्शों का रूप सभी बंधनों से मुक्त देह विशिष्ट जीवित अर्हत् में तथा स्कंधमुक्त अर्थात् विदेह निर्वाणप्राप्त में देखा जा सकता है। इस प्रकार, सभी दृष्टियों से यह सिद्धि वैयक्तिक थी तथा एक अर्थ में श्रेष्ठ जीवन में भी स्वार्थमय तथा स्वाभिमानयुक्त भाव से मुक्त न थी! प्रत्येकबुद्ध की अवस्था यद्यपि निश्चय ही अपेक्षाकृत उत्तम थी तथापि जहाँ तक उसके लक्ष्य का प्रश्न है, उसमें हृदय के विस्तार तथा उदारता का परिचय अधिक नहीं मिलता। महायान

का लक्ष्य अधिक उदार था, क्योंकि वह उस बोधिसत्व के आदर्श को अधिक महत्व देता था जिसका जीवन प्रेम, करुणा और सेवा के लिए उत्सृष्ट है। बोधिसत्व वास्तव में बुद्ध की प्रारंभिक अवस्था हैं। बुद्ध शास्ता हैं, शिक्षक हैं, गुरु हैं ज्ञान के दाता हैं। ये अज्ञान का नाश तथा जीवन के दोषों तथा अनर्थों का अपसारण करते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती साधना का लक्ष्य था, श्रेष्ठ श्रावक या शिष्य के जीवन की रचना। परंतु परवर्ती साधना ने पारमिता नय और मंत्र-नय की पद्धतियों से, साधनमार्ग का उद्देश्य संपूर्ण चेतन प्राणिवर्ग के निर्वाण के लिये उद्यम करनेवाले शास्ता या गुरु के जीवन को माना। महायानी दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति प्रसुप्त बुद्ध है। ऐसी बात नहीं है कि वह केवल निर्वाण का अधिकारी होता है, अपितु वह अपेक्षाकृत अधिक विकसित एवं ऊँची अवस्था का अधिकारी हो सकता है जिसे विश्वगुरु कह सकते है। सत्य ही, स्वभावतः, इस गोत्रभेद के उलझे प्रश्न पर उस समय मतभेद था।

वस्तुतः एक जटिल प्रश्न है। किंतु यह प्रश्न केवल बौद्ध मत के लिये ही नहीं है। यह मनुष्य के स्वरूपगत मौलिक भेदसंबंधी सामान्य प्रश्न है। कुछ लोग इस भेद को स्वीकार करते हैं, कुछ नहीं। जैनों में भी हमें इसी प्रकार की विचारपरंपरा तीर्थंकर तथा केवलज्ञानी के भेद में मिलती है। इसी प्रकार का विचार हमें प्राचीन युग में वेदों के अध्यापन के अधिकारी तथा केवल अध्ययन के अधिकारी द्विजों में मिलता है। यह संपूर्ण प्रश्न व्यक्ति विशेष में शक्ति का विकास तथा उसके उपयोग सामर्थ्य के ऊपर निर्भर करता है।

: ४ :

महायान की साधना में अक्लिष्ट अज्ञान का स्थान महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें अविद्या या अज्ञान को सांख्य योग के सदृश क्लेश से अभिन्न तो माना ही जाता है, साथ ही क्लेश का लोप हो जाने पर भी अज्ञान की

सत्ता की संभावना स्वीकार की जाती है। यही अक्लिष्ट अज्ञान है जो बोधिसत्त्व में उसकी सभी अवस्थाओं में वर्तमान रहता है। ज्यों ज्यों वह बुद्धत्व की ओर अग्रसर होता है त्यों त्यों इसका क्षय होता जाता है। बोधिसत्त्व के जीवन में क्रमशः इसका क्षय ही उसकी विभिन्न अवस्थाओं को विशिष्टता प्रदान करता है। बुद्धत्व का आविर्भाव अज्ञान के पूर्ण नाश तथा धर्मनैरात्म्य की प्रतिष्ठा के साथ होता है।

पारमितानय और मंत्रनय की साधना के पूर्व बोधिचित्तोत्पाद आवश्यक है। यह उत्पत्ति सहानुभूति की प्रवृत्ति, सद्गुरु (जिसे बौद्ध मत में सन्मित्र, कल्याणमित्र आदि भी कहते हैं) के प्रभाव, स्वाभाविक करुणा या दुःख से तीव्र परावृत्ति से संभव होती है। मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन का विभाजन सामान्यतः दो या उचित रूप में तीन कालों में किया जा सकता है। प्रथम काल साधक का है जो पथ पर आरूढ़ हो जाता है और क्रमिक सिद्धि की अवस्थाओं में अग्रसर होता है। बोधिचित्त की उत्पत्ति या चित्तोत्पाद आध्यात्मिक परावृत्ति के समान ही है। दूसरा काल सिद्ध का है जिसमें वह क्लेशनिरोधयुक्त सम्यक् संबोधि को प्राप्त कर लेता है। तीसरा काल सिद्ध-गुरु का है जिसमें वह संपूर्ण प्राणिजगत् की सेवा में उद्यम करता है। ये तीन काल हेतु, फल और सत्त्वार्थक्रिया नाम से प्रसिद्ध हैं। परम ज्ञान को प्राप्त करने के पूर्व साधक को अपने साधनात्मक जीवन की दो या तीन स्थितियों को पार करना पड़ता है। प्रथम स्थिति आशय की है जब साधक का चित्त विश्व की दुःख की भावना से पूर्ण होता है तथा इस दुःख से मुक्ति देने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ होता है। दूसरी स्थिति वास्तव प्रयोग की है जिसमें पारमितासाधन का अनुरूप स्थान है। अधिमुक्त चित्त की अवस्था में केवल सात पारमिताओं की तथा अधिमुक्त चरित्र की अवस्था में संपूर्ण दस पारमिताओं की साधना में अग्रसर होना पड़ता है। प्रमाणवार्तिक की टीका में मनोरथनंदि ने इस संपूर्ण प्रक्रिया को बोधि पर आधृत माना है जिसका अर्थ है कि साधक अवस्था बोधि के क्रमविकास की अवस्था है,

जिसमें बोधि क्रमशः अंत में सिद्धावस्था में सम्यक् संबोधि को प्राप्त करता है।

पारमिता की साधना बोधिसत्त्व की विभिन्न भूमियों में होती है। प्रथम सात भूमियों में प्रयोग अशुद्ध, सापेक्ष और अभिसंस्कारयुक्त होता है। प्रथम छः भूमियों में समाधि के आभोग और निमित्त नाम के दोनों कारण-तत्त्व रहते हैं किंतु सप्तम भूमि में यद्यपि निमित्त नहीं रहता तथापि आभोग रहता है। आठवीं भूमि आभोग से भी मुक्त रहती है। इसीलिये इसे शुद्धभूमि कहते हैं जिसमें समाधि को अपने उद्बोध के लिये न आभोग की आवश्यकता रहती है न निमित्त की। इन स्तरों पर समाधि आगतुक न होकर प्राकृतिक (स्वरसवाही) हो जाती है।

केवल इसी प्रकार की समाधि से 'जगदर्थसंपादन' संभव है और इसी से कोई यथार्थ सर्वानुशासक भी हो सकता है। यह अवस्था दसवीं भूमि तक रहती है। इस उच्च साधकावस्था का आरंभ बुद्ध के मारविजय से होता है तथा अंत दस पारमिताओं की पूर्णता और सद्यः वर्णित सहज वज्रोपमसमाधि की प्राप्ति से होता है।

इस दृष्टि से सिद्धि की अवस्था ग्यारहवीं भूमि की है। यह पूर्ण ज्ञान और पूर्ण क्लेशक्षय की एक स्थिति है। इसके अनंतर सत्त्वार्थक्रिया का आगम होता है जो सिद्ध जीवन का मुख्य उद्देश्य है। यह धर्मचक्रप्रवर्तन से अभिन्न है। सत्यज्ञान के लिये बुद्ध का यह नैसर्गिक सेवाकार्य उनके आध्यात्मिक शासन के अंत तक रहता है।

: ५ :

तांत्रिक साधना की बहुत सी दिशाएँ हैं। इस साधना का मुख्य लक्ष्य है बिंदु सिद्धि। बौद्ध तांत्रिक परिभाषा में बिंदु ही बोधिचित्त नाम से प्रसिद्ध है मनोमयकोष का सारांश मन है। प्राणमयकोष का सारांश प्राण या ओजस् है तथा अन्नमय कोश का सारांश वीर्य या शुक्र धातु है। अज्ञानी

जीव के ये तीनों चंचल तथा मलिन होते हैं। साधना के प्रस्थानभेद के अनुसार कोई मन पर प्राधान्य आरोपित करता है, कोई प्राण पर और कोई बिंदु पर। इस प्रकार आपेक्षिक प्राधान्य के ऊपर ही योगक्रिया का अनुरूप अनुमान होता है। क्रिया के प्रभाव से बिंदु की निर्मलता तथा स्थिरता की सिद्धि होती है। वैदिक युग में ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य आश्रम की रहस्यसाधना में बिंदुसाधना का स्थान ही सर्वोच्च था। पहले आश्रम का लक्ष्य था बिंदुशोधन तथा बिंदुप्रतिष्ठा। उस समय सभी प्रकार से बिंदुक्षोभ निषिद्ध था, क्योंकि अशुद्ध बिंदु क्षुब्ध होने पर प्राकृतिक नियम से अधोगति की ओर उन्मुख होता है। इसी का नाम च्युति या पतन है जिसका फल है मृत्यु। इस बिंदु को धारण करके यदि कोई इसे ऊर्ध्वगामी कर सके तो वह अनिवार्य रूप से अमरत्वलाभ कर सकता है।

'मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदु धारणात्'—यह सिद्धांत सर्वसंमत है। ऊर्ध्वरेता की अवस्था का लाभ करने के लिये बिंदु का ऊर्ध्वगामित्व होना चाहिए। ऊर्ध्वरेता की अवस्था में मनुष्य का अंतःस्रोत सदैव ऊर्ध्वगामी रहता है। यही दिव्य अवस्था है। प्राचीन समय में गृहस्थ आश्रम में परिणीता धर्मपत्नी के साथ यह साधना चलती थी। 'सस्त्रीको धर्ममाचरेत्'—इस वचन का आंतरिक तात्पर्य यही है। उस समय पारिवारिक जीवन रस साधन के अनुकूल था। आधारभेद से नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिये यह साधन आवश्यक नहीं होता था। संयम तथा कठोर ब्रह्मचर्य के मार्ग से चलने से ही रस साधना में सिद्धिलाभ हो सकता है, अन्यथा नहीं। बौद्धों का महासुख साधन इस गुप्त रससाधन का प्रकारभेद मात्र है। औपनिषद साधन राज्य में पंचाग्नि-विद्या का नाम प्रसिद्ध है। उसका भी तात्पर्य रस साक्षात्कार छोड़कर और कुछ नहीं है। अन्नमयकोष से आनंदमयकोष पर्यंत ऊर्ध्वगति विभिन्न अग्नियों में आहुति दिए बिना हो नहीं सकती। प्रतिस्तर की सत्त्व वस्तु या सारांश को उसी स्तर की अग्नि में आहुति रूप में अर्पण करने से वह पावक संबंध से शुद्ध होकर ऊर्ध्वोन्मुख होता है। वस्तुतः यह शुद्धि अपेक्षिक

मात्र है, क्योंकि निम्न स्तरों में कुछ न कुछ मल रह ही जाता है। अंत में जब शुद्धि पूर्ण हो जाती है तब मल नहीं रहता और आहुति का प्रयोजन भी नहीं रहता। वस्तुतः वहाँ अग्नि की क्रिया समाप्त हो जाती है। वहीं विशुद्धतम अमृत का लाभ होता है। पाँचो स्तर में पाँच प्रकार के अमृत मिलते हैं। परंतु वह पंचम अमृत ही मुख्य माना जाता है जो आनंदमयकोष का उपादान तथा उपजीव्य है। भक्ति संप्रदाय इस अमृत का त्याग नहीं करते। यही भक्तिरस, प्रेम, मातृअंक है। शब्दांतर से इसे कुछ भी कह सकते हैं। परंतु शुद्ध ज्ञानी लोग इससे भी विरक्त तथा विविक्त होकर स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित होते हैं। वह भी आनंद है। वस्तुतः वही स्वरूपानंद है। वह कदापि हेय नहीं है। तान्त्रिकों के रहस्यसाधन में भी यही क्रम दीख पड़ता है—पहले पशुभाव में संयम, ब्रह्मचर्य, यम, नियमादि का आवश्यकत्व रहता है। इस भूमि में बिंदु की शुद्धि तथा स्थिरता सिद्ध हो जाती है। उसके अनंतर वीर भाव में प्रकृतिसंयोग या प्रकृतिसंभोग का अधिकार आता है। ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम का जो स्थान है, पशुभाव के बाद वीरभाव का स्थान भी प्रायः वैसा ही है। वीरभाव का प्रयोजन है। इस अवस्था में प्रकृति के साथ पुरुष का संघर्ष होता है जिसमें वीरत्व की आवश्यकता होती है। वस्तुतः प्रकृति को पराजित कर ही वीरत्व सिद्ध होता है। जो वीर है वह प्रकृति का स्वामी, भर्त्ता या अधिष्ठाता होता है। प्रकृति वीर के अधीन रहती है। प्रकृति की पराजय न होने पर प्रकृति अपने बल से साधक को गिरा देती है। तब साधक भ्रष्ट हो जाता है। वीरभाव के अनंतर प्रकृति के साथ सहयोग करते हुए साधक क्रमशः दिव्यभाव की ओर अग्रसर होता है। दिव्यभाव ही महाभाव है। यहाँ अद्वैत को छोड़कर द्वैत का कुछ भी संस्कार नहीं रहता। पहली दशा में प्रकृति का त्याग जैसे आवश्यक है। दूसरी दशा में योग्यतालाभ होने पर प्रकृति का ग्रहण भी वैसे ही आवश्यक है। तृतीय अवस्था में न त्याग होता है न ग्रहण। उस समय प्रकृति के अधीन होने पर पुरुष और प्रकृति दोनों सम्मिलित होकर एक अखंड सत्ता

में प्रवेश करते हैं। इस परम भाव में पुरुष और प्रकृति का भेद नहीं रहता। यही शिव शक्ति का सामरस्य है।

बौद्धों का बिंदुसाधन भी रससाधना का ही एक विशिष्ट अंग प्रतीत होता है। जिसको बिंदुक्षोभ कहा गया है वह वास्तव में उपाय तथा प्रज्ञा के योग से बोधिचित्त का उद्भव है। बिंदु का उद्भव होने पर, जिससे बिंदु का पतन न हो, अर्थात् वज्रमणि में उसका स्खलन न हो, इसके लिये उसे नाभिस्थित निर्माणचक्र में धारण करना पड़ता है। यह निरोध कृत्रिम है। स्वाभाविक अवस्था में यह भी नहीं रहता। बिंदु पारद के समान सदा चंचल रहता है। परंतु योगबल से इसे स्थिर करना आवश्यक है। तांत्रिक परिभाषा में चंचल बिंदु, संवृत्त बोधिचित्त है परंतु जब योगाभ्यास से इसे स्थिर किया जाता है तब यह संवृत्त न रहकर विवृत बन जाता है। संवृत का अर्थ है संकुचित, विवृत का अर्थ है फैला हुआ। बोधिचित्त जब विवृत हो जाता है तब वही महासुख रूप में परिणत हो जाता है। जैसे अन्नमयकोष का सार या सत्त्व शुक्र बिंदु आनंदमयकोष के परमानंद के रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। दोनों ही समरूप हैं। कुंदपुष्पनिभ संवृत बोधिचित्त ही योगप्रभाव से ऊर्ध्वगति लाभ करने पर महासुख रूप में परिणत होता है। यही रस है। इसीलिये एकमात्र महासुखचक्र या उष्णीष कमल में ही बिंदु स्थिर होता है, अन्यत्र नहीं। अन्यत्र गतिरोध हो सकता है, परंतु ऐसी स्थिति नहीं हो सकती जिसमें सहजानंद की अभिव्यक्ति हो सके।

बौद्ध तांत्रिक साहित्य में षडंगयोग का उपयोग विशेष रूप से किया गया है। षडंगयोग नाथ संप्रदाय में था और भास्कराचार्य की गीता की टीका से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन वैष्णव संप्रदाय में भी था, परंतु इन षडंग योगों से कहीं कहीं बौद्ध षडंग योग विलक्षण है। गुह्यसमाज तथा सेकोद्देश

टीका में इस योग के विवरण में छः अंगों का नाम निर्देश तथा क्रम दिया गया है, जैसे—प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि। यह कहने की बात नहीं है कि योगी का चरम लक्ष्य है, निरावरण प्रकाश की प्राप्ति। किसी प्रकार का आवरण यदि रह जाय तो समझना चाहिए कि अंतिम लक्ष्य की उपलब्धि नहीं हुई। परंतु तांत्रिक आचार्य वर्ग का सिद्धांत यह है कि सभी प्रकार के आवरण से मुक्त होने के लिये प्रभामंडल का उदय और योगी का उसमें प्रवेश अपेक्षित है। परंतु प्रभामंडल में प्रवेश सामान्य साधक के लिये तो दूर की बात है ही, अति उच्च स्तर के योगियों के लिये भी यह साध्य नहीं है। योगमार्ग में जब तक वज्रसत्त्व नामक अवस्था का उदय न हो तब तक प्रभामंडल में प्रवेश कदापि नहीं हो सकता। परंतु पहले बोधिसत्त्वलाभ न होने पर वज्रसत्त्व अवस्था की प्राप्ति असंभव है। बोधिसत्त्व होने के लिये पाँच अभिज्ञाओं का उदय होना चाहिए। षड्भिज्ञ बुद्ध का नामांतर है। परंतु अभिज्ञापंचक बोधिसत्त्व का लक्षण है। इन अभिज्ञाओं का आविर्भाव तब तक नहीं हो सकता जब तक मंत्रसिद्धि न हो। इसीलिये तांत्रिक योगी सबसे पहले मंत्रसिद्धि के लिये उद्यम करते हैं। प्रत्याहार नामक पहले योगांग के द्वारा मंत्रसिद्धि होती है। अनंतर ध्यान से अभिज्ञाओं का उदय होता है। प्राणायाम से बोधिसत्त्व भाव तथा धारणा से वज्रसत्त्वभूमि की प्राप्ति होती है। अनुस्मृति का फल है प्रभामंडल में प्रवेश तथा षष्ठ अंग समाधि का फल है निखिल आवरणों का क्षय या बुद्धत्व।

बिंदु को उद्बुद्ध कर निर्माणचक्र से उष्णीषकमल तक ले जाना पड़ता है। बिंदु का उद्बोध और कुंडलिनी शक्ति का जागरण वस्तुतः एक ही व्यापार है। तांत्रिकों की परिभाषा में इस जागरण को निर्माणचक्र में स्वशक्ति चांडाली का जागरण कहा जाता है। जिस क्षण में चांडाली का जागरण होता है, उसी क्षण में मस्तकस्थ चंद्रबिंदु से अमृतक्षरण होना आरंभ होता है। जब प्रज्ञा अथवा चित्तकमल और सहजानंद का उपाय, ये दोनों परस्पर

मिलित होकर साम्यलाभ करते हैं तभी यह जागरण होता है। यह जागरण या जलन वस्तुतः महासुखराग का उदय है। इस अनल से भाव तथा अभाव दोनों ही निर्मूल हो जाते हैं।

जो लोग कामकलारहस्य जानते हैं, वे कहते हैं कि अग्नि और सोम नाम के प्रसिद्ध दो विक्षुब्ध कलाओं का संबंध यही है कि अग्नि के प्रज्वलित होते ही उस जाग्रत शक्ति के प्रभाव से वह सोमबिंदु गलकर झरने लगता है। यही अमृत स्राव है। हठयोग शास्त्र में वर्णित है कि यह सोमधारा स्वभावतः अग्निकुंड में ही गिरती है और शोषित हो जाती है जिससे देह का क्षय, विकार, जरा तथा मृत्यु होती है। यदि किसी कौशल से इस अमृत धारा को अग्नि में प्रक्षिप्त न होने दिया जाय और खेचरी मुद्रा या और कोई उपाय से रसनागोचर किया जा सके तो देह का परिवर्तन हो जाता है। इस प्रक्रिया से समग्र मानव देह चंद्रकला से पूर्ण हो जाता है। आत्यंतिक रूप से इससे संपन्न होने पर देह सिद्धि या कायासंपत् का लाभ होता है और जरा मृत्यु से सदैव के लिये अव्याहत मुक्ति होती है।

बिंदु के निर्माणचक्र से स्खलित होकर नीचे उतरने से देह की रचना हो सकती है परंतु जब बिंदु की ऊर्ध्वगति होती है तब यह निम्न सृष्टि का मार्ग रुद्ध हो जाता है। निर्माणचक्रस्थ बिंदु पंचभूतात्मक है परंतु उसमें पृथ्वी का अंश अधिक परिमाण में है। इसीलिये वह मध्याकर्षण के प्रभाव से आकृष्ट होता है। परंतु जब वह बिंदु मध्यमार्ग का अवलंबन करता हुआ ऊर्ध्वोन्मुख होता है तब उसमें जलीय अंश प्रधान हो जाता है। पृथ्वी तत्व के जल तत्व में लीन होने से, उसका काठिन्य छूट जाता है। यह निर्माण-चक्र के ऊपर के चक्र की बात है। बिंदु का उत्थान और भी अधिक होने पर वह तेजः प्रधान होता है। उसका जलीय अंश प्रायः शुष्क हो जाता है। उसके बाद और भी ऊपर उठने पर वह वायु प्रधान और अंत में चित्तमात्र अथवा शुद्ध ज्योतिमात्र रूप में परिणत होकर उष्णीष कमल में लक्षित

होता है। उष्णीष कमल में बिंदु के स्थिर होने के साथ ही साथ देह सिद्ध होता है और दिव्यदृष्टि तथा दिव्यश्रुति का उदय होता है तथा सर्वज्ञत्व और विभुत्व गुण का भी। इसे एक प्रकार से बुद्धत्वलाभ कहा जा सकता है। परिभाषा भिन्न होने पर भी आगमशास्त्र में भी यही सिद्धांत मिलता है। पहले प्राण तथा अपान नाम की दो विरुद्ध शक्तियों का खेल चलने लगता है। उसके बाद दोनों का साम्य हो जाता है। तब समान शक्ति का उदय होता है। प्राण और अपान के साम्य से मध्यशक्ति जाग जाती है और मध्यमार्ग के उल्लास से ऊर्ध्वगमनशील उदानशक्ति का स्फुरण होता है। मध्यशक्ति के जागरण की पूर्वावस्था जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति रूप संसार की अवस्था है जिसमें देह, प्राण तथा पुर्यष्टक कलाओं के द्वारा जीव मोहित रहता है। जब उदानशक्ति का विकास होता है तब तुरीय दशा का उदय होता है। ऊर्ध्वशक्ति की चरम स्थिति, मस्तक स्थित ऊर्ध्वबिंदु में है। जब इसका भी भेद हो जाता है, तब वह विश्वव्यापक होता है। यही व्यानशक्ति का व्यापार है। इसी को नाम तुरीयातीत अवस्था है इस समय विभुत्व, सर्वज्ञत्व प्रभृति बुद्धत्व के अनुरूप अवस्था का प्राकट्य होता है।

एक बात यहाँ कहना आवश्यक है। पहले कहा गया है कि प्राचीन साधन का लक्ष्य था सत्शिष्य या श्रावक बन कर निर्वाण प्राप्त करना। परंतु नवीन साधना का लक्ष्य है केवल सत्शिष्य होना नहीं, अपितु सद्गुरु होने की योग्यता का अर्जन करना है। पारमितानय से मंत्रनय अधिक गंभीर है। मंत्रनय से सहजमार्ग और भी गंभीर है। परंतु यह सर्वापेक्षा सरल भी है, अवश्य ही, यदि सद्गुरु की कृपादृष्टि मिल जाय। प्राचीन मत में पृथग्जन गोत्र का त्याग करके लोकोत्तर गोत्र में आवर्तित न होने से मार्गक्षण का उत्पाद और निरोध नहीं होता था। मार्गक्षण ही साक्षात्कार का क्षण है। इसी एक क्षण में ही, एक ही समय में, युगपत् चारो आर्य-

सत्यों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसके प्रभाव से साधक का चित्त निर्वाण-गामी स्रोत में आपन्न होता है। इसके बाद वही स्रोत उस चित्त को आगे ले चलता है और अर्हत् या जीवन्मुक्त की अवस्था तक पहुँचा देता है। परंतु यह वैयक्तिक मुक्ति है, सामूहिक नहीं। मंत्रनय में बिना दीक्षा के यथार्थ साक्षात्कार या दिव्य ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। वस्तुतः यह दिव्यज्ञान श्रावक के पूर्वोक्त निर्वाणप्रापक ज्ञान से विलक्षण है। शैवागम में भी है। पहले सद्गुरु विहित दीक्षा के प्रभाव से आणवमल या पौरुष अज्ञान की निवृत्ति होती है। यह कृपा का व्यापार है। इसके बाद साधना या उपासना के प्रभाव से बौद्ध ज्ञान का उन्मेष होता है और तज्जन्य बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति भी। यह साधक के अपने उद्यम का फल है। उस समय 'शिवोऽहं' रूप से जीवन्मुक्ति होती है। देहांत में शिवत्व लाभ होता है।

तांत्रिक साधना का गुप्त उपदेश यह है कि बिना दीक्षा के सत्य ज्ञान का उदय नहीं होता है। और बिना अभिषेक के उस ज्ञान के अन्यत्र संचार की सामर्थ्य भी नहीं आती। इसीलिये जिसका यथार्थ पूर्णाभिषेक नहीं हुआ है वह गुरुपद में आसीन होने के योग्य नहीं है। धर्मचक्र प्रवर्तन ही गुरुकृत्य है। संबुद्ध गण भी अभिषेक द्वारा इसका संपादन करते हैं।

वस्तुतः अभिषेक तत्व एक गहन रहस्य है जिसका उद्घाटन न यहाँ उचित है, न संभव पर ही। पारमार्थिक अभिषेक अनुत्तर अभिषेक नाम से प्रसिद्ध है। यह अत्यंत दुर्लभ है। संवृत्ति रूप में अभिषेक दो प्रकार का है—पहला निम्न स्तर का है जिसका नाम है पूर्वसेक या पूर्वाभिषेक तथा दूसरा ऊर्द्ध्व स्तर का है जिसका नाम है उत्तरसेक या उत्तराभिषेक। उदकादि सात सेक अधर संवृति या पूर्वसेक हैं। इससे लौकिक सिद्धि का उदय होता है। उच्च स्तर के कुंभ आदि तीन सेक योगिसंवृति नाम से प्रसिद्ध हैं। यही उत्तरसेक है। यह लोकोत्तर सिद्धि का मूल है और परमार्थ के अनुकूल भी। यहाँ कहना चाहिए कि उत्तरसेक के लिये मुद्रा की आवश्य-

कता होती है, पूर्वसेक के लिये नहीं, अनुत्तरसेक के लिये भी नहीं। उत्तरसेक चर, अचर और स्पंद भेद से तीन प्रकार का है। अनुत्तर या पारमार्थिक सेक निस्पंद है। कुंभ सेक में चतुर्दल उष्णीष कमल से बिंदु अवतीर्ण होकर ललाटस्थ सहस्रदल की कर्णिका में आता है। इसका फल है आनंद लाभ (काय, वाक्, चित्त तथा ज्ञान में)। गुह्य सेक में बिंदु कंठस्थ द्वात्रिंशद्दल कमल से हृदय की अष्टदल कमल की कर्णिका में आ जाता है। इसका फल है परमानंदलाभ (काया चतुष्टय में)। यह आनंद अधिकतर तीव्र है। प्रज्ञा सेक में बिंदु नाभिस्थ चतुष्षष्टिदलकमल से द्वात्रिंशदलगुह्यकमल में उतर जाता है। यहाँ तक कि वज्रमणि के रंध्र में पहुँच जाता है। इसका फल है विरमानंद लाभ। यही तृतीय आनंद है। यह परमानंद से भी उत्कृष्ट है।

पूर्वोक्त विवरण से सिद्ध होता है कि बिना उत्तर सेक के उष्णीषकमल में स्थिरीकृत बिंदु नीचे नहीं आ सकता है। पहले सेक में बिंदु का अवतरण थोड़ी दूर तक होता है। द्वितीय सेक में और भी अधिक होता है। तृतीय सेक में बिंदु अवतीर्ण होते होते वज्रमणि के अग्रभाग तक पहुँच जाता है परंतु फिर भी बिंदु का स्खलन नहीं होता।

इसके बाद अनुत्तर सेक में बिंदु के पतन की आशंका ही नहीं रहती। यद्यपि प्रज्ञासेक में बिंदु का पतन नहीं होता उस समय बिंदु स्पंदहीन नहीं रहता। परंतु अनुत्तर सेक में बिंदु सर्वथा निस्पंद हो जाता है। अब बिंदु की ऊर्ध्वगति तथा अधोगति का कर्म समाप्त हो जाता है। समाप्त होकर आवर्तन पूरा हो जाता है। यही सहजानंद की अवस्था है।

बिंदु को उष्णीषकमल में स्थिर करने का जैसा प्रयोजन है, वैसा ही स्थिर बिंदु के उतारने का प्रयोजन है। आरोह तथा अवरोह दोनों ही आवश्यक हैं। अनंतर किसी की आवश्यकता नहीं रहती। धर्मचक्रप्रवर्तन व्यापार में गुरुकृत्य करना पड़ता है, ऐसा पहले कहा जा चुका है। लेकिन

पिता जैसे संतान के प्राकृत देह का जनक है, सद्गुरु, वैसे ही संतान के अप्राकृत देह का जनक है। इसीलिये आध्यात्मिक दृष्टि से गुरु पितृ तुल्य है। इस ज्ञानदान व्यापार को प्राचीन समय में लोग एक प्रकार का गर्भाधान समझते थे। बिना शुद्ध बिंदु के अवतरण के शुद्ध देह की रचना या द्वितीय जन्म हो नहीं सकता। ऋषि लोग इस शुद्ध देह को ज्ञानदेह, बैंदव देह प्रभृति विभिन्न नामों से वर्णन करते थे।

सद्गुरु की कृपा की अपार महिमा है। स्वाधिष्ठान रूप तृतीय शून्य में वज्रगुरु का अधिष्ठान होने पर चतुर्थ शून्य आप ही आप आकर उससे मिलित होता है। उस समय युगनद्ध मूर्ति के दर्शन का अवसर आता है। उसके प्रभाव से विचित्रादि क्षणों के द्वारा चतुर्थ आनंद को संबोधित करके स्थिति-लाभ करना पड़ता है। इसके बाद मध्यमा का भी निरोध हो जाता है तथा अशेष प्रकार के प्रकृति दोष और समाधिमल का ध्वंस होता है। इससे अनुत्तर बोधि का उदय होता है जिसको हमने पहले षडंग योग के वर्णन प्रसंग में निरावरण प्रकाश की अभिव्यक्ति कहा है। उस समय ज्ञान में से ग्राह्य तथा ग्राहक, ये दोनों ही विकल्प निवृत्त हो जाते हैं। यही निर्विकल्प ज्ञान है जिससे सब धर्मों का अनुपलंभ होता है। जिस बिंदु से जन्म होता है, विषय-विकल्पहीन उसी बिंदु में जाकर उसको जानना पड़ता है। इसके बाद निज बिंदु की शक्ति में प्रतिष्ठित रहकर उस शक्ति की सहायता से चतुर्थ आनंद के संवेदन की सब बाधाओं को दूर करना पड़ता है। तब साकार तथा निराकार का शाश्वत विरोध सदा के लिये निवृत्त हो जाता है। यही तथता है।

बौद्ध तांत्रिक साधना का मर्मविश्लेषण करना इस प्राक्कथन का उद्देश्य नहीं है। भूमिका में यह हो नहीं सकता और उसकी योग्यता भी हम में नहीं है। मैं समझता हूँ, इस क्षेत्र में बहुकर्मी साधकों की दीर्घकाल व्यापी गवेषणा आवश्यक है। जैसे जैसे अधिकाधिक ग्रंथों का प्रकाशन होगा, वैसे

वैसे, उसी प्रकार अधिकाधिक मनीषी विद्वज्जन भी नव प्रकाशित साहित्यलब्ध ज्ञान के आलोक से पूर्व संचित ज्ञानभंडार को आलोकित और समृद्ध करेंगे। दीर्घकाल नैरंतर्य और सत्कार के साथ उद्यम करने पर यह उपेक्षित क्षेत्र भी किसी समय माहैश्वर्य की प्रसूति रूप में परिणत हो सकता है। केवल घृणा से दिव्य संपद लाभ नहीं होता। विभिन्न कारणों से तंत्रसाधना कलंकित हो पड़ी, यह साधन का स्वकीय अपराध नहीं है। परंतु अनधिकारी साधक के द्वारा किए गए साधन के दुरुपयोग का फल मात्र है।

२।ए, सिगरा, वाराणसी
१०-५-५८

गोपीनाथ कविराज

———

दो शब्द

तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य की ओर बहुत दिनों तक पंडितों का ध्यान नहीं रहा है। परन्तु सन् ईसवी की बीसवीं शती के आरंभ से इस ओर भारतीय विद्वानों का ध्यान जाने लगा है। तिब्बत और नेपाल में प्राप्त सहजयानी बौद्ध ग्रंथों के अध्ययन से इस विषय को अधिक महत्व प्राप्त हुआ है। परन्तु तांत्रिक बौद्ध साहित्य का अध्ययन बड़ा कठिन विषय है। एक तो यह साधना का साहित्य है, केवल बौद्धिक तर्क का नहीं। साधना की परंपरा भूल गई है, इसलिये केवल शब्दार्थ को पकड़कर इस साहित्य का रहस्य समझना दुष्कर कार्य है। सौभाग्यवश हमारे देश में नाथों, शाक्तों, और अन्य संप्रदायों का तांत्रिक साहित्य, और साधना पद्धति भी, बहुत कुछ जीवित है। इसके सहारे हम भूली हुई कहानी को कुछ समझ सकते हैं। इधर आधुनिक ढंग से शास्त्रानुशीलन करनेवाले विद्वानों का ध्यान इस संपूर्ण साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ है। हिंदी में अभी यह चर्चा बहुत थोड़ी हुई है। तंत्र-साहित्य बहुत गंभीर चिंतन-मनन की अपेक्षा रखता है। सब समय आधुनिक ढंग के आलोचक इसके ऊपरी आवरण में ही उलझ जाते हैं। यह स्वाभाविक है, पर कभी कभी इससे साहित्यिक क्षति भी होती है। मर्म तक पहुँचने का प्रयास बहुत कम होता है। मर्म तक पहुँचने के लिये पूर्ववर्ती और परवर्ती साधना साहित्यों की निपुण जानकारी आवश्यक है और उससे भी अधिक आवश्यक श्रद्धापूर्वक मनन-चिंतन। पर जो भी हो, इस विषय की चर्चा होने अवश्य लगी है जो शुभ लक्षण है। मेरे प्रिय विद्यार्थी श्री नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने तांत्रिक बौद्ध साहित्य के विभिन्न अंगों का अच्छा अध्ययन किया है। उन्होंने अपनी जानकारियों को इस पुस्तक में

सजाकर सुरक्षित किया है। निस्सन्देह इस पुस्तक से तांत्रिक बौद्ध साहित्य के प्रति विद्वानों का आकर्षण बढ़ेगा। जब बहुसंख्यक विद्वान् इस विषय की चर्चा करेंगे तो इस साहित्य का मर्म भी उद्घाटित होकर ही रहेगा। इस पुस्तक में नागेंद्रनाथ जी की विद्वत्ता और कर्मठता सजीव होकर प्रकट हुई है। भगवान् से मेरी प्रार्थना है कि वे श्री नागेंद्रनाथ को अधिकाधिक शक्ति देकर उन्हें दीर्घ जीवन और अक्षय स्वास्थ्य दें ताकि वे हिंदी में उत्तम श्रेणी का साहित्य निर्माण कर सकें। तथास्तु।

काशी
१०-५-५८

हजारीप्रसाद द्विवेदी

निवेदन

विगत तीन वर्षों में "नाथ और संत साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन" विषय पर शोधकार्य करते हुए तांत्रिक बौद्धों पर लिखे गए विभिन्न आकर ग्रंथों का अध्ययन कर कुछ निष्कर्षों पर पहुँचा। हिंदू और बौद्ध तंत्रों की विषय सामग्री, शैली, साधनापद्धति की कुछ समानताओं को देखकर बौद्ध तांत्रिक साधना को भी भाव और आचार की दृष्टि से देखने की प्रेरणा मिली। इस अध्ययन का आरंभ अपने शोधविषय की भूमिका के लिये ही किया गया था। सामग्री की संपन्नता तथा कुछ नवीन विचारों से प्रेरित होकर कटु-तिक्त परिस्थितियों में स्वावलंबिता की कठिनाइयों से साहस प्राप्त कर यह ग्रंथ लिखा गया। साधक-बाधक तत्त्वों को स्मरण करने की परंपरा में उन मित्रों और आत्मीय जनों को स्मरण करना ही चाहिए जिन्होंने निराशा के पुल से पार उतारा है।

इस ग्रंथ के लिखने की प्रेरणा सर्वप्रथम श्री शिवकुमार शर्मा 'मानव' ने बुद्ध की पचीस सौवीं जयंती के पूर्व दी थी और आशा की थी कि जयंती के पूर्व ही ग्रंथ प्रकाशित हो जायगा। जैसे जैसे पढ़ता गया, विश्वविद्यालय के (एम० ए० के) संत साहित्य के विशेष अध्ययन के विद्यार्थियों की आवश्यकता जैसे जैसे अधिक स्पष्ट और प्रकट होती गई, विषय के स्पष्टीकरण के लिये अध्ययन का क्षेत्र और प्रकार भी बढ़ता गया। यह ग्रंथ प्रारंभ में 'सेवा' रूप में लिखे गए कुछ रूपरेखात्मक विवरणों और व्याख्याओं का ही परिष्कृत और विस्तृत रूप है। बहुत इच्छा रहते हुए भी, अनेक कठिनाइयों के कारण, 'तांत्रिक बौद्ध कला', 'बौद्ध रहस्यवाद', बौद्ध योग का विकास', 'तांत्रिक बौद्ध मत का मिश्रित परवर्ती विकास' आदि विषयों पर न लिख सका। ग्रंथ में यत्र-तत्र ही इनके कुछ सांकेतिक विवरण मिल सकेंगे। आशा

है, उत्साहित होने पर अगले संस्करण में इन विषयों पर कुछ लिख सकूं। विवेचित विषय के मूल्य पर 'आपरितोषाद् विदुषाम्' के अनुसार कुछ न कहना उचित समझता हूँ। दोष तो मेरे ही हैं। इतने पर भी ग्रंथ विलंब से प्रकाशित हो रहा है।

एम० ए० में 'सिद्ध, नाथ और संत साहित्य' का विशेष अध्ययन करते समय आदरणीय गुरुवर डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने सिद्ध साहित्य में मेरी रुचि उत्पन्न की थी। पढ़ाते समय विभिन्न जटिलताओं को उन्होंने प्रकाशित कर आगे कार्य करने के लिये उत्साहित किया था। बाद में भी इस विषय के अध्ययन में द्विवेदी जी के निर्देश मिलते रहे। पूज्य गुरुवर पं० पद्मनारायण जी आचार्य ने संत साहित्य के अध्ययन काल में संत साहित्य की भूमिका के रूप में बौद्ध सिद्ध साहित्य को देखने की प्रेरणा दी। रहस्यवाद संबंधी प्रसंग, इस ग्रंथ में, उनके ही निर्देश से आ सके हैं। 'पारिभाषिक शब्द पद संग्रह' में उन्होंने उत्साहित किया था। परमादरणीय महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ जी कविराज की महती कृपा से ही मैं इस ग्रंथ में कई स्थानों पर विवेचन संबंधी त्रुटियों से बच गया। उन्होंने छपते समय संपूर्ण ग्रंथ को देखने तथा उसका यथास्थान संस्कार करने की भी कृपा की थी जिसके लिये यह अकिंचन उनका आजीवन ऋणी रहेगा। 'प्राक्कथन' लिखकर उन्होंने मेरे आर्द्र निवेदन को स्वीकार किया। मेरे भारतीय दर्शन के पुराने गुरु तथा सेंट एंड्रूज कालेज के दर्शन विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष पं० शिवानंद जी शर्मा ने ग्रंथ के दार्शनिक अंश के लेखन में कृपापूर्ण निर्देश दिया है। पातंजल योग और बौद्धयोग संबंधी प्रारंभिक विवेचन उन्हीं की कृपा से बन पड़े हैं। इसी प्रकार मेरे मित्र पं० राममूर्ति जी त्रिपाठी, एम० ए०, साहित्याचार्य ने विभिन्न स्थलों पर आकर ग्रंथों के अर्थोद्घाटन में सहायता की थी। 'सभा' के कृपालु अधिकारियों और कर्मचारियों की 'व्यवस्था' से यह ग्रंथ शीघ्र प्रकाशित हो सका है। मैं इन सभी गुरुजनों, सहयोगियों और अधिकारियों का विनम्रतापूर्वक कृतज्ञ हूँ।

ग्रंथ में बोधिसत्त्व का चित्र प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान करने के लिए मैं भारतीय पुरातत्त्व विभाग तथा वज्रसत्त्व (युगनद्ध) के चित्र के लिए डा० विनयतोष भट्टाचार्य का आभारी हूँ।

इस ग्रंथ के लिखने में मैंने डा० विंटरनित्स, श्री डी० टी० सुज़ुकि, पं० बलदेव उपाध्याय, डा० दासगुप्त (द्वय), डा० बागची, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या आदि विद्वानों की कृतियों से पर्याप्त सहायता ली है। हिंदी में इस विषय के अध्ययन अध्यापन में सहयोग देने के उद्देश्य में यह ग्रंथ कहाँ तक सहायक हो सकता है, यह विज्ञ पाठकों पर निर्भर है। इसीलिये 'अनुक्रमणिका' और 'पारिभाषिक शब्द-पद-संग्रह' में थोड़ा परिश्रम किया गया है। हिंदी में भारतीय तांत्रिक साधना और दर्शन का परिचय देने वाले ग्रंथों का अभाव है। अतः श्री आर्थर एवेलेन (सर जान उडरफ) जैसे अधिकारी तांत्रिक विद्वानों के अंग्रेजी में लिखे ग्रंथों का अध्ययन आवश्यक है। नागराक्षरों में 'बौद्ध गान ओ दोहा' का वैज्ञानिक ढंग से संपादित संस्करण भी एक ऐसा ही अभाव है। आशा है, इस 'पत्रिका' से हिंदी के सुधी जनों का ध्यान उपर्युक्त अभावों की पूर्ति की ओर जायगा। यही संतोष की सीमा है।

काशी
१०-५-५८ } नागेंद्रनाथ उपाध्याय

विषयसूची

संकेताक्षरों का विवरण

अद्वय० सं०—अद्वयवज्रसंग्रह, सं० म० म० डा० हरप्रसाद शास्त्री।

आ० म० बु०—आउटलाइंस आव महायान बुद्धिज्म, डी० टी० सुजुकि।

आ० भा० आ०—आधुनिक भारतीय आर्यभाषा।

आ० रे० क०—आब्स्क्योर रेलिजस कल्ट्स, डा० शशिभूषण दासगुप्त।

इंट्रो०—इंट्रोडक्शन।

इं० बु० ए०—इंट्रोडक्शन टु बुद्धिष्ट एसोटेरिज्म, डा० बिनयतोष भट्टाचार्य।

इं० रे० ए०—इंसाइक्लोपीडिया आव रेलिजन ऐंड एथिक्स, सं० जेम्स हेस्टिंग्स।

इं० हि० क्वा०—इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली (जर्नल)।

ए० हि० इं० लि०—ए हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर, मारिस विंटरनित्स।

ऐन इं० तां० बु०—ऐन इंट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म, डा० शशिभूषण दासगुप्त।

ओ० डे० बें० लैं०—ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट आव बेंगाली लैंग्वेज, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी।

च०—चर्यापद (बौद्ध गान ओ दोहा)।

चर्या०—चर्यापद, श्री मणींद्र मोहन वसु।

ज० ए० सो० बें०—जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी आव बेंगाल।

ज० डि० ले०—जर्नल आव दि डिपार्टमेंट आव लेटर्स, कलकत्ता।

ज० रा० ए० सो०—जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी।

जे० हे०—जेम्स हेस्टिंग्स, 'इंसाइक्लोपीडिया आव रेलिजन ऐंड एथिक्स' के संपादक।

टू० व० व०—टू वज्रयान वर्क्स, संपादक डा० बिनयतोष भट्टाचार्य।

डा०—डाकार्णव, संपादक डा० नगेंद्रनारायण चौधरी।

प्रा० बां० सा० इ०—प्राचीन बांगला साहित्येर इतिहास, डा० तमोनाशचंद्र दासगुप्त।

बं० टी०—चर्यापदों की बंगला टीका, बौद्ध गान ओ दोहा।

बौ० गा० दो०
बौ० दो० }—बौद्ध गान ओ दोहा, सं० महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री।

म० भा० आ०—मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा।

वा०—वाल्यूम।

श्लो०—श्लोक।

सं० टी०—चर्यापदों की संस्कृत टीका, बौद्ध गान ओ दोहा।

स्ट० तं०—स्टडीज इन दि तंत्रज, डा० प्रबोधचंद्र बागची।

हि० इं० फि०—ए हिस्ट्री आव इंडियन फिलासफी, श्री सुरेंद्रनाथ दासगुप्त।

हि० स्ट० ही० म०—ए हिस्टारिकल स्टडीज आव दि टर्म्स हीनयान ऐंड महायान ऐंड दि ओरिजिन आव दि महायान बुद्धिज्म, आर० किमुर।

———

१. बुद्ध के उपदेश

बुद्ध के जीवन की घटनाओं में, जो परवर्ती जीवन का निर्माण करनेवाली हैं, दुःख और वेदना के भावों की प्रधानता थी। उन्होंने जितने उपदेश दिए, उन सभी में दुःख, करुणा और दुःख के कारण का ज्ञान प्रधान है। इस प्रकार के उपदेश के लिये केवल जीवन की घटनाएँ ही उत्तरदायिनी नहीं हैं, अपितु उस समय की परिस्थिति ने भी बुद्ध को इस प्रकार का उपदेश देने के लिये प्रेरित किया था। उस समय प्रगल्भ होकर सामयिक जीवन को प्रभावित करनेवाली विचारधाराओं में उपनिषदीय, जैन और याज्ञिक विचारधाराओं की गणना की जा सकती है। उपनिषदों में सच्चिदानंद के समाराधन और दर्शन की इच्छा व्यक्त की गई है। संपूर्ण विश्व में उस सच्चिदानंद ब्रह्म के व्याप्त रहते हुए (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) भी सर्वत्र अनित्यता, अनात्मता और दुःख ही दिखाई देता है। ऐसी अवस्था में इस संसार के ही वास्तविक रूप के ज्ञान की आवश्यकता है। बुद्ध ने संसार के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया है। इस संसार के ही वास्तविक ज्ञान से आत्यंतिक निवृत्ति की उपलब्धि संभव है। यदि इस संसार तथा मनुष्य के वास्तविक रूप का ज्ञान उपनिषदों में है तो उसकी उपलब्धि में किसी प्रकार की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता का बंधन लगाना अनुचित है। सबको उसका ज्ञान प्राप्त करने का समान अधिकार है। धर्म और आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में इस प्रकार की समता की भावना का मूल स्रोत उनकी लीलाभूमि कोशल जनपद में ही निहित था। धम्मपद से इसी की पुष्टि होती है।[१]

---

१. धम्मपद, नवम परिच्छेद, पापवग्ग १२६, पृ० १६० अंग्रेजी अनुवाद सहित मूल, सं० डा० एस० राधाकृष्णन्—गब्भमेको उप्पज्जंति निरयं पापकम्मिनो। सग्गं सुगतिनो यन्ति परिनिब्बन्ति अनासवा॥

बुद्ध ने यद्यपि तत्कालीन प्रचलित पुनर्जन्म, स्वर्गनरक आदि धारणाओं को स्वीकार कर लिया था किंतु उन सब के विषय में उनके अपने विचार थे। उन्होंने तत्कालीन जनप्रचलित आत्मा संबंधी विचारों को अस्वीकार कर दिया। उसी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार कर कर्मकांडीय आचार्य अनेक प्रकार के आडंबरों की सहायता से उसे नरक से स्वर्ग भेजने का दावा करते थे। अतः इस प्रकार के व्ययसाध्य, परिश्रमसाध्य और उच्चवर्णसाध्य आडंबरों से छुटकारा पाने के लिये उन्होंने आत्मा जैसे चेतन तत्व को अस्वीकार किया। उनके अनुसार "आत्मा नहीं है"—यही श्रवण, मनन, निदिध्यासन का विषय है। यही बुद्ध का अनात्मवाद था। आत्मा के गुण धर्म को न जानते हुए भी जो लोग आत्मा के सुख, स्वर्गगमन आदि के लिये अनेक कष्टसाध्य क्रियाएँ संपादित करते हैं, उनके ऐसे सभी क्रिया कलाप उपहासास्पद हैं। आत्मा के नित्य ध्रुवत्व, शाश्वता, नित्यता आदि का अनुभव करना बालधर्म का अनुगमन करना है।[२]

इस प्रकार के अनात्मवाद या नैरात्म्यवाद की स्थापना के पर्याप्त कारण हैं। इस संसार में दुःख व्याप्त है। इस दुःख का कारण है। इस दुःख का नाश होता है। इस दुःखनिरोध तक पहुँचाने वाला मार्ग है। किंतु व्यक्ति दुःख के कारणों को ठीक ठीक जान नहीं पाता। ज्ञान होने पर भी प्राणी कारणों को दूर नहीं कर पाता। प्राणी की इच्छा या काम जब अपूर्ण रह जाते हैं तो उसे पूरा करने के लिये उसे बारबार पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ता है। यह पुनर्जन्म स्वयं ही अत्यधिक कठोर दुःख है। तृष्णा, इच्छा, काम, लोभ, द्वेष, मोह, कामराग, व्यायाम, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य, अविद्या आदि दोषों के कारण मनुष्य को बारबार जन्म लेना

---

२. "अयं भिक्खवे ! केवलो परिपूरो बालधम्मो ।"—मज्झिम निकाय, १.१.२, हिंदी अनुवाद पृ० ८-९; बौद्ध दर्शन—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ३८-३९।

पड़ता है।[3] अतः इच्छा, तृष्णा आदि से छुटकारा पाना ही दुःख से छुटकारा पाना है। इसके लिये यद्यपि शील और समाधि का अभ्यास किया जा सकता है, तथापि प्रज्ञा का, इस विश्व की अनित्यता तथा अनात्मता के ज्ञान का, विशेष महत्व है। इस ज्ञान को 'विसुद्धिमग्ग' में 'अनुलोम-ज्ञान' कहा गया है।[४] इन दोषों से बचना या इच्छा न करना या वीतरागता ये तीनों एक ही बातें हैं। इसी आधार पर बौद्धों की मुक्ति की कल्पना कुछ भिन्न हो गई है। दुःख से आत्यंतिक निवृत्ति सब प्रकार के क्षोभों की अभाव, ही मुक्ति है। दुःख से आत्यंतिक निवृत्ति ही निर्वाण है। लोक परलोक सभी के प्रति राग न होना ही वीतरागता है। निर्वाण को प्राप्त पुण्यात्मा, निर्वापित दीपक की भाँति न धरती में समा जाता है, न आकाश में उड़ जाता है, दिशाओं और विदिशाओं में भी नहीं जाता, केवल क्लेश न रहने से शांति पा जाता है।[५]

धार्मिक दृष्टि से तत्कालीन समाज का जो वर्णन मिलता है, उससे पता चलता है कि उस समय के समाज, दर्शन, आचार और संप्रदाय सभी स्वच्छंद हो रहे थे।[६] छोटे बड़े सभी विचारक नवीन विचारों के उद्भावक होने का

---

३. विसुद्धिमग्ग-कौसाम्बी, २२.११-२०, पृ० ४७८--४८०—महायान, श्री भदंत शांतिभिक्षु, प्रस्ता० पृ० ॐ

४. विसुद्धिमग्ग—कौसाम्बी, २१.१.१२८-१३३, पृ० ४७४-४७५, महायान प्र० पृ० ≥

५. सौंदरनंद—अश्वघोष, १६.२८-२९, पृ० १०२—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥२८॥
एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥२९॥

६. बौद्धदर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० २५-३०।

दावा करते थे। इसीलिये वादों की निरंतर वृद्धि हो रही थी। जैनग्रंथों में ३६४ जैनेतर मतों का उल्लेख मिलता है। दीघनिकाय में बुद्धकालीन ६२ मतवादों के प्रचलित रहने का वर्णन मिलता है।[७] उस समय यद्यपि धार्मिक अनुष्ठान बड़ी तत्परता से किए जाते थे किंतु उसमें हृदय की भावना काम नहीं करती थी। आडंबर अधिक था। अनेक प्रकार के बुरे भले देवताओं की कल्पना हो चुकी थी। कर्मकांड की प्रधानता थी जिसमें पशु-हिंसा का आधिक्य था। समाज का एक वर्ग घोर विलासी और भौतिक साधनों की उन्नति का विश्वासी था और दूसरा अनेक प्रकार के कष्टप्रद कठोर व्रत उपवासों से हठात् शरीर को नियंत्रित कर उसको क्षीण कर रहा था। आध्यात्मिक क्षेत्र में जहाँ एक ओर उपनिषदों का ज्ञानमार्ग, कर्मकांड और रक्तसिंचित स्थूल यज्ञों के विरोध में खड़ा था वहीं कर्मकांड और जटिल यज्ञयागों को प्रतिष्ठित करनेवाले ब्राह्मण अनेक सूक्ष्म विधानों और आडंबरपूर्ण क्रियाकलापों से जन हृदय को आकर्षित करने का प्रयत्न कर रहे थे। ज्ञानवादियों में सारे संसार को छोड़कर आरण्यक जीवन बितानेवालों की संख्या कम न थी। वैराग्य धारण करने वालों के अनेक संप्रदाय थे जिनका वर्णन आजीविक, जटिलक, मुंडस्सावक, परिव्राजक, मागंधिक, गोतमक, तेदंडिक आदि नामों से मिलता है। ऐसे वातावरण में उत्पन्न होकर बुद्ध का शील, समाधि तथा प्रज्ञा पर जोर देना स्वाभाविक था। उन्होंने समाज में वैराग्य को नवीन रूप में प्रतिष्ठित किया। यह वैराग्य-साधन समाज में रहकर ही किया जा सकता था। निर्वाण की प्राप्ति संसार और समाज में रहकर ही सिद्ध हो सकती है। उसके लिए आरण्यक जीवन बिताने तथा बहुविध कर्मकांडीय बखेड़ों के करने की कोई आवश्यकता नहीं। इस वैराग्य की मूलभित्ति आचार है। शील से कायशुद्धि, समाधि से चित्त-

---

७. दीघनिकाय--हिंदी अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन, पृ० ६-१४।

शुद्धि तथा प्रज्ञा से अविद्या का नाश—धर्म और साधना की दृष्टि से बुद्ध के उपदेशों का यही सार है।

मुक्ति की प्राप्ति के लिये जो दो प्रकार के मार्ग उस समय प्रचलित थे उनका परिचय ऊपर दिया जा चुका है। ज्ञान और कर्म दोनों का आरंभ चित्त से ही होता है। बिना चित्त के शोधन के दोनों ही निरर्थक हैं। इस तत्व की बुद्ध के समय पर्याप्त उपेक्षा हो रही थी। इसीलिये बुद्ध ने चित्तशोधन और आचार जैसे तत्वों पर जोर दिया। ब्रह्मचर्य को उन्होंने भिक्षुक के जीवन के लिए सर्वाधिक श्रेयस्कर माना।[८] उनकी दृष्टि में भिक्षु का जीवन बहुजनहिताय और बहुजनसुखाय था।[९] भिक्षु न केवल ज्ञानोपलब्धि कर अपने उद्देश्य में सफल हो सकता है और न केवल कर्म कर। तत्कालीन समाज में ज्ञान और कर्म दोनों एक दूसरे के समीप नहीं आना चाहते थे। दोनों ही अतिवादी थे। बुद्ध ने भिक्षु के जीवन के लिए ज्ञान, कर्म और ब्रह्मचर्य इन तीनों का समन्वय किया। वे न तो तर्क के पचड़े में पड़ना चाहते थे, न व्ययसाध्य हृदय शून्य आडंबर में लीन होना चाहते थे और न पुनः पुनः जन्म मरण के पीड़ाचक्र में डालनेवाली तृष्णा और विलास में ही गल जाना चाहते थे। इसीलिये बुद्ध ने शील, आचार, समाधि, प्रज्ञा और संसार की अनित्यता और दुःखपूर्णता का उपदेश विशृंखल स्वच्छंद वृत्ति वाले समाज को दिया।

---

८. मज्झिम निकाय—१.३.९, पृ० १९७; हिंदी अनुवाद, पृ० १२१-१२३।

"इति खो भिक्खवे न ये इदम् ब्रह्मचरियम् लाभसक्कारसीलोकानिसंसम्, न सील सम्पदानिसंसम्, न समाधि सम्पदानिसंसम्, न ज्ञान दस्सनानिसंसम्। या च खो अयम् भिक्खवे अकुप्पा चेतोविमुत्ति; एतदत्थम्—इदम् भिक्खवे ब्रह्मचरियम् एतसारम् एतम् परियोसानन इति।"

९. संयुक्तनिकाय--४.१.४—बौद्ध दर्शन, रा० सांकृत्यायन, पृ० २७।

तर्कपूर्ण ज्ञान के वात्याचक्र का बुद्ध ने तिरस्कार किया। कर्मकांड का विरोध किया। शेष था शील और उचित आचार या ब्रह्मचर्य, जिसकी उस समय सर्वत्र उपेक्षा हो रही थी। दार्शनिक उलझनों में पड़ना रुचिकर और उपयोगी न होने के कारण उन्होंने शिष्यों द्वारा अध्यात्म विषयक दस अव्याकृत प्रश्नों के पूछे जाने पर उनकी व्याख्या न करना ही उचित समझा।[१०] दुःख से आत्यंतिक निवृत्ति प्राप्त करने के लिये कर्तव्य की आवश्यकता है, तर्क-वितर्क, अध्यात्म, वाद-विवाद की नहीं। इसी कर्तव्यमार्ग के मूल आधार के लिये उन्होंने चार आर्य सत्यों का उद्घाटन किया था।[११] दुःख के कारणों को, बौद्ध धर्म में "द्वादश निदान" कहा जाता है। वे निदान जरामरण, जाति (उत्पत्ति), भव, उपादान, तृष्णा, वेदना, स्पर्श, षडायतन, नाम रूप, विज्ञान, संस्कार और अविद्या के नाम से प्रसिद्ध हैं।[१२] इनके चक्र में घूमता हुआ प्राणी सदैव पीड़ित रहता है, शांति नहीं पाता। इन द्वादश निदानों में पहला दूसरे का कारण है। इस कारण-कार्य-परंपरा का निरोध ही निर्वाण है। यह निर्वाण मार्ग बुद्ध के मध्यमाप्रतिपदा के सिद्धांत से विशिष्ट बन गया है। समाज के दो

---

१०. मज्झिमनिकाय, चूलमालुंक्य सुत (६३), २.२.३, मूल पृ० ४२६-४३२, भाग १; हिंदी अनुवाद, पृ० २५१-२५३।

११. (१) दुःखम्, (२) दुःखसमुदय, (३) दुःखनिरोध, (४) दुःखनिरोधगामिनीप्रतिपद—दीघनिकाय, २२—महासतिपट्ठान सुत्त, पृ० ३०४-३१५, आर्यसत्य प्रकरण, भाग २; हिंदी अनुवाद पृ० १९५-१९८।

१२. विस्तृत वर्णन के लिये द्रष्टव्य—बौद्ध दर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय पृ० ८३-९१।

अतिवादी वर्गों के अतिचारी व्यवहार का अनुभव कर बुद्ध ने अष्टांगिक मध्यम मार्ग के अनुसरण का उपदेश दिया था।[13]

बुद्ध के समय में उपनिषदों में "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" जैसे पदों से ज्ञान का प्रतिपादन किया जा रहा था। इस ज्ञानतत्व को स्वीकार करते हुए भी बुद्ध ने उसके मूल में आचार को ही प्रधानता दी। जब तक शरीर शुद्ध नहीं, तब तक शुद्ध ज्ञानग्रहण संभव नहीं। इसलिये शरीर शोधन आवश्यक है। चित्त और काया शोधन के लिये समाधि और शील का अभ्यास आवश्यक है। भिक्षु और गृहस्थ दोनों ही पंचशील का अभ्यास करते हैं।[14] समाधि का उपयोग चित्त की एकाग्रता के लिये है किंतु इनकी अपेक्षा प्रज्ञा का महत्व अधिक है। इस प्रज्ञा से मनोमय शरीर का निर्माण, परचित्तज्ञान, दिव्य-चक्षु-उपलब्धि होने के बाद दुःखक्षय का ज्ञान प्राप्त होता है।[15]

तात्पर्य यह कि बुद्ध के उपदेशों में से यदि कोई मूल दार्शनिक बात हो सकती है तो वह यह कि यह विश्व अनात्मक, अनित्य और दुःखपूर्ण है, सच्चिदानंद नहीं, जैसा तत्कालीन अन्य विचारकों ने मान लिया था। धार्मिक दृष्टि से उन्होंने तृष्णा से बचने का उपदेश दिया जो उपरोक्त सिद्धांत का प्रयोग पक्ष है। तृष्णा से बचने के लिये शील और समाधि का आचरण आवश्यक है, तभी विश्व की अनात्मता, अनित्यता और अपूर्णता का ज्ञान हो सकेगा। दोनों पक्ष एक दूसरे के पूरक हैं। बुद्ध के उपदेशों का सर्वाधिक महत्व आचार और ज्ञान की परस्परावलंबिता को स्वीकार करने में ही निहित है।

---

१३. दीघ निकाय, २२—महासतिपट्ठानसुत्त २१९, पृ० २११-२१५, भाग २; हिंदी अनुवाद-पृ० १९७-१९८।

१४. दीघ निकाय, हिं० अनुवाद, पृ० २४-२८।

१५. दीघ निकाय, सामञ्ञफलसुत्त, हिं० अनुवाद, पृ० ३०-३२।

———

ग्रहण किया है।[९] शतपथ ब्राह्मण में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है।[१०] ऋग्वेद और शतपथ ब्राह्मणादि ग्रंथों की अपेक्षा आरण्यक और उपनिषद् ग्रंथ 'योग' शब्द का प्रयोग अधिक करते हैं। जो दस या ग्यारह उपनिषद् अत्यधिक प्राचीन माने जाते हैं, उनमें से कुछ ही ऐसे हैं जो बुद्ध के पूर्व के हैं। ब्राह्मण साहित्य कर्मकांड प्रधान है और औपनिषदिक साहित्य ज्ञानकांड प्रधान। यह भी निश्चित है कि उपनिषदों के मंत्रद्रष्टा केवल ब्राह्मण, पुरुष आदि वर्ग के न होकर राजा, स्त्री, किंबहुना निम्नवर्ग के भी थे। इसके लिये पुष्कल प्रमाण हैं कि उपनिषदों में अथर्व ब्राह्मण के रहस्यात्मक ज्ञान के सिद्धांतों का परिचय मिलता है। ऋषियों के वर्णों की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता का विचार न होने के कारण अनुमान किया जा सकता है कि कुछ उपनिषदों की रचना भारत के ब्राह्मणधर्म में पूर्ण रूप से लीन होने के पूर्व ही हुई होगी। यद्यपि इनका ठीक ठीक समय बतलाना कठिन है किंतु यह कहा जा सकता है कि प्राचीनतम उपनिषदों का निर्माण ६०० ई० पू० के लगभग हुआ होगा। अर्थात् कुछ उपनिषद् बुद्ध के पूर्व के हैं।[११]

उपनिषदों का उद्देश्य ब्राह्मण ग्रंथों की तरह भौतिक और सांसारिक वैभव और सुखों को प्राप्त करना नहीं है। उनका उद्देश्य जीव की सांसारिक स्थिति से मुक्ति पाना तथा जीवात्मा को विश्वात्मा में शुद्ध ज्ञान की सहायता से लीन करना है।[१२] इन विचारों के आधार पर उन्हें शुद्ध दार्शनिक और

---

९. हि० इं० फि०, वा० १, पृ०—२२६।

१०. शतपथ ब्राह्मण, ११.५.८।

११. ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर—एच० एच० गोवेन, पृ० १०७-११०।

१२. ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—ए० ए० मैक्डानेल, पृ० २१८।

शुद्ध काव्यात्मक न स्वीकार कर अर्द्ध दार्शनिक और अर्द्ध काव्यात्मक ग्रंथों के रूप में स्वीकार करना चाहिए। उनमें से प्राचीनतम उपनिषद् को ६०० ई० पू० का कहा जा सकता है। विद्वानों ने इन उपनिषदों को तीन वर्गों में, इतिहास और प्राचीनता की दृष्टि से, विभाजित किया है। प्राचीनतम विभाग में क्रमशः बृहदारण्यक, छांदोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, केन और कौषीतकि हैं जिनमें ब्राह्मण ग्रंथों की रूक्ष गद्यात्मकता मिलती है। कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मुंडक और महानारायण द्वितीय में तथा तृतीय में प्रश्न, मांडूक्य और मैत्रायणी को ग्रहण किया जा सकता है।[13] बुद्ध के पूर्व के योग, तप, ध्यान और समाधि आदि के लिये, ऐतिहासिक दृष्टि से केवल बृहदारण्यक, छांदोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौषीतकि और अधिक से अधिक केन और कठ पर विचार किया जा सकता है।

श्री बेल्वलकर और रानाडे ने वैदिक जातियों की विभिन्न प्रकार की गुह्य क्रियाओं में योग के लक्षण दिखाते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उस समय भी ध्यान, चित्तैकाग्रता, आध्यात्मिक साधना आदि को लोग शारीरिक मानसिक प्रभाव डालने वाला मानते थे। ऋग्वेद के दसवें मंडल के १३६ वें में सूक्त में योग शब्द से इसी ओर संकेत मिलता है।[14] उपनिषदों ने अपने योग को अध्यात्मयोग कहा है। इस कथन से परवर्ती सिद्धिपरक योग से उसका भेद भी स्थापित हो जाता है। कठोपनिषद् के अनुसार अध्यात्मयोग का प्रयोग अंतर्ज्ञानात्मक आत्मसाक्षात्कार

---

१३. ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—ए० ए० मैक्डानेल, पृ० २२६। तथा—हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी—श्री बेल्वलकर और रानाडे, वा २, पृ० ८९।

१४. हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी—श्री बेल्वलकर और रानाडे, वा० २, पृ० ४०५-६।

के लिये किया जाता है।[१५] आत्मसाक्षात्कार के अर्थ में या समधिक पारिभाषिक अर्थ में इस योग शब्द का प्रयोग बृहदारण्यक, छांदोग्य, तैत्तिरीय, कौषीतकि और कठ में उपलब्ध होता है।[१६] श्वेताश्वतर यद्यपि ६०० ई० पू० का नहीं है तथापि उसका प्रायः संपूर्ण द्वितीय अध्याय अपेक्षा कृत विकसित योग साधना का विवेचन करता है। कठोपनिषद् में योग का परिभाषिक ढंग से वर्णन है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

जब पंचज्ञानेंद्रियाँ स्थिर हो जाती हैं, विश्रांत हो जाती हैं, मन भी उनके साथ विश्रांत हो जाता है और उत्तर मानस (बुद्धि) भी जब निश्चेष्ट हो जाता है, तब उसी को 'परमागति' कहते हैं। उस स्थिर अवस्था को, जब इंद्रियाँ स्थिर हो जाती हैं, योग कहते हैं। तब साधक अत्यधिक अप्रमत्त, सावधान हो जाता है क्योंकि योग ही भव (उत्पति) और विभव

---

१५. वही, वा० १, पृ० ४०६, पादटिप्पणि। कठोपनिषद्-एट उपनिषद्स —श्री अरविंदो—अंग्रेजी अनुवाद सहित, अध्याय १, वल्ली २, मंत्र १२, पृ० ५८—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥१२॥

१६. बृहदारण्यक—३.३; ३.७; ४.३.२०; ४.४.२३; ४.५.६; १.२.६; ३.८.१०। छान्दोग्य—५.१०.१; ८.६; ७.६; ३.१७.४; ६.८.६। तैत्तिरीय— २.२. २.३; १.९.१; २.२१; ३.३.१। कठ—२.१२, १७, २०, २४; १.३.१३; २.१.१,१५; २.२.२; २.३.९,१०,१६,१८। कौषीतकि—४.१९।

(नाश) है।[१७] कहा गया है कि जब सभी हृदयस्थित इच्छाएँ अपने स्थान से मुक्तकर दी जाती हैं, तभी उस मर्त्य को अमृतत्व की प्राप्ति होती है और यहीं इस शरीर में ही वह ईश्वरानुभव करता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में ऋतादि शुभ कर्मों की अवश्यकर्तव्यता का विधान करते समय शम, सत्य, दम (इंद्रियदमन) आदि को स्वीकार किया गया है। सत्य, तप, स्वाध्याय और प्रवचन आध्यत्मिक साधना के लिये आवश्यक ठहराए गए हैं। वहाँ दम को बाह्यकरणोपशमन और शम को अंतःकरणोपशमन माना गया है।[१८] शंकराचार्य ने भृगुवल्ली के प्रथम अनुवाक् में प्रयुक्त तप को ब्रह्मविद्या का साधन माना है यद्यपि उन्होंने इसका ध्यान में लीन होने का अर्थ लिया है।[१९] अष्टम अनुवाक् में इस साधना के लिये अन्नत्याग का निषेध किया गया है। प्रथम वल्ली, जिसे शिक्षावल्ली कहा गया है, के नवम अनुवाक् में उस समय तप के तीन अर्थ मानने वाले मतों की ओर संकेत किया गया है—(१) सत्य वचन या वाणी नियंत्रण को तप का प्राण मानने वाले रथीवर के पुत्र सत्यवचा का मत; (२) तप अर्थात् कृच्छ्राचार या काया नियंत्रण को तप का प्राण मानने वाले तपोनिष्ठ पौरुशिष्ट का मत; (३) स्वाध्याय और प्रवचन को ही तप का प्राण मानने वाले मुद्गल के पुत्र नाक का मत। श्वेताश्वतर उपनिषद् के, प्रथम और द्वितीय अध्याय में ध्यान योग का विस्तृत विवेचन है। छांदोग्योपनिषद् में पुरुष को यज्ञ के रूप में कल्पित करते हुए तप, दान, सरलता, अहिंसा और सत्यवचन को

---

१७. एट उपनिषद्स-कठोपनिषद्—२.३.१०–११, पृ० ८८।

१८. तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, नवम अनुवाक्, १ का शांकर भाष्य—"दमः बाह्यकरणोपशमः। शमः अन्तःकरणोपशमः।"—गीता प्रेस संस्करण, पृ० ६२।

१९. एट उपनिषद्स, पृ० २११; तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, प्रथम अनुवाक्, पृ० २१२, गी० प्रे० संस्करण।

उस यज्ञ की दक्षिणाएँ माना गया है।[२०] प्राण और नाड़ियों का भी विशेष विवेचन मिलता है।[२१] ब्रह्मचर्य, दहरविद्या, हृदयाकाश की कल्पनाएँ अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।[२२] उपनिषदों ने निवृत्तिप्रधान जीवन बिताने का उपदेश दिया है। बृहदारण्यकोपनिषद् यह स्पष्ट घोषणा करता है कि जो व्यक्ति मुक्ति का अभिलाषी है, उसे संसार की तीन प्रकार की एषणाओं को त्याग देना चाहिए—पुत्रैषणा—पुत्र की कामना; वित्तैषणा—धन की कामना; लोकैषणा—यश कीर्ति कमाने की कामना।[२३] बुद्ध के समय में आस्तिक परंपरा में तप, संयम, योग, शील, ब्रह्मचर्य संबंधी इसी प्रकार के विचार मिलते हैं। आगे के विवेचन से बुद्ध के तप, संयम, शील और योग संबंधी विचारों का परिचय प्राप्त होगा। इस आस्तिक औपनिषदिक परंपरा से, केवल कुछ पक्षों को छोड़कर, बुद्ध के उपदेश विच्छिन्न नहीं मालूम पड़ते।

बुद्ध के जीवन का अध्ययन करने में यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने संन्यास धारण करने के बाद योग की शिक्षा ली थी। यद्यपि बाद में उन्होंने उस पर पर्याप्त प्रकाश डाला किंतु ध्यान, सदाचार, शील आदि के विचार उन्हें परंपरा से मिले थे। उनके जीवन के वे चार दृश्य, जो उनके सन्यस्त विचारों के उद्दीपक थे, विचारणीय हैं। उनमें से एक था प्रव्रजित का दृश्य। मज्झिम निकाय के अनुसार बुद्ध ने स्वयं चुनार (सुंसुमारगिरि) में वत्सराज उदयन के पुत्र बोधिराज कुमार से कहा था कि "मैं सुंदर यौवन के साथ, प्रथम वयस में माता पिता को अश्रुमुख छोड़कर घर से प्रव्रजित हुआ था।...आलार कालाम के पास गया। आलार कालाम ने मुझे योग की कुछ विधियाँ

२०. छांदोग्योपनिषद्, आनंद संस्कृत ग्रंथावलि, ३.१७.४।

२१. वही, ८.६.१।

२२. छांदोग्योपनिषद, आ० सं० ग्रं० ८.६।

२३. बृहदारण्यकोपनिषद, आ० सं० ग्रं०, ४.४.२२।

बतलाई।'[२४] आलार कालाम उस समय के प्रसिद्ध योगी थे, इसको प्रायः सभी दर्शनेतिहासकारों ने स्वीकार किया है। ललित विस्तर के अनुसार बुद्धकाल में देश में योग की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित थीं।[२५] बुद्ध को जिन शिक्षकों से शिक्षा मिली थी उनमें आलार कालाम भी थे और योग में पर्याप्त प्रवीण थे। बौद्ध सुत्त भी योग से पूर्णतया परिचित थे।[२६] आलार कालाम के अतिरिक्त बुद्ध ने उद्दक रामपुत्त से भी शिक्षा ली थी। ये दोनों ही ब्राह्मण सन्यासी थे। संभवतः बुद्ध ने इन दोनों से उनके धर्म, विनय, विश्वास, समापत्ति, सदाचार, ध्यानाभ्यास की शिक्षा ली थी यद्यपि उनकी शिक्षाओं की निस्सारता के कारण वे असंतुष्ट रहे।[२७] इसके बाद उन्होंने बोध गया के पास प्रायः ६ वर्ष तक योग और अनशन की भीषण तपस्या की।[२८] अन्न त्यागकर योगसाधना करने पर बुद्ध को दुःख के कारणों का, दुःख से आत्यंतिक निवृत्ति का उपाय नहीं मिला। योग के सिद्धांत बुद्ध के समय में प्रचलित थे जिनके अनेक रूप हमें मिले हैं और जिनमें से कुछ का विकास बुद्ध के बाद पतंजलि ने किया था।[२९]

---

२४. मज्झिम निकाय, ८५—बोधि राजकुमार सुत्तंत, मूल पृ० ९२-९३, भाग २; हिंदी अनुवाद, पृ० ३४५; बौद्ध दर्शन, रा० सांकृत्यायन, पृ० २०।

२५. इंडियन फिलासफी, डा० राधाकृष्णन्, वा० १, पृ० ३५५-३५६, पाददटिप्पणि।

२६. वही, वा० २, पृ० ३३९।

२७. धम्मपद, सं० डा० राधाकृष्णन, प्राक्कथन्, पृ० ७।

२८. मज्झिम निकाय, हिंदी अनुवाद, पृ० ३४७-३४८।

२९. मैन्युएल आफ इंडियन बुद्धिज्म, एच० कर्न, पृ० ११, १८। तथा बुद्ध ऐंड दि गास्पेल आफ बुद्ध—आनंद कुमारस्वामी, पृ० २८।

औपनिषदिक योग का विवेचन करते समय यह बतलाया गया है कि उस समय तप के तीन मत प्रचलित थे—कृच्छ्राचार या काया-साधन का मत, वाणी नियंत्रण का मत, वेद के स्वाध्याय और प्रवचन को ही तप का प्राण मानने वाला मत। यह भी बताया गया है कि तप के लिये अन्न छोड़ना अनुचित है। इन सभी विवेचनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बुद्ध ने आलार कालाम और उद्दक रामपुत्त से जो शिक्षाएँ प्राप्त की थीं, वे कृच्छ्राचारप्रधान थीं, उनमें अन्न छोड़ने का विधान रहा होगा। चित्त को एकाग्र कर मनन करने का अभ्यास बुद्ध ने संभवतः नहीं किया था, इसीलिये शरीर के सूख जाने पर भी चित्त एकाग्र नहीं हुआ। फलतः अन्न ग्रहण करते हुए ही बाद में अपना चिंतन आरंभ किया। इसके अतिरिक्त उपनिषदों में सदाचार, सत्यवचन, अहिंसा, सरलता, दान आदि के पुष्कल संकेत मिलते हैं, उनसे भी बुद्ध अप्रभावित न रहे होंगे। उपनिषदों में वर्णित ऐषणाओं को बुद्ध की तृष्णाओं से मिलाया जा सकता है। इसके पहले कि बुद्ध के उपदिष्ट शील और समाधि का एक संक्षिप्त परिचय उपस्थित किया जाय, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि बुद्ध ने उपनिषदों के "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" सिद्धांत को स्वीकार करते हुए भी तत्कालीन जन-प्रचलित आत्मवाद को अस्वीकार कर दिया था। फलतः उपनिषदों जिस योग को ने जीवात्मा की सांसारिक स्थिति से मुक्ति और उसके विश्वात्मा में लीन होने के लिये ज्ञानोपलब्धि के माध्यम के रूप में स्वीकार किया था, उसे उन्होंने मनुष्य की दुःख से आत्यंतिक निवृत्ति के उपायों की ज्ञानोपलब्धि के लिये स्वीकार किया।

पहले ही कहा जा चुका है कि इस संसार में सभी प्रकार के दुःखों के कारण हैं, तृष्णा और अज्ञान। मानव तृष्णा से बँधा हुआ है। शील, समाधि और प्रज्ञा इन त्रिरत्नों के अभ्यास से हम उन तृष्णाओं से छुटकारा पा सकते हैं। संक्षेप में शील का अर्थ है—सभी पापों या पापकर्मों को न

करना, सभी अकुशल कर्मों को न करना अकुशल कर्मों की ओर प्रवृत्त करनेवाली पापमयी तृष्णाओं के निरोध का शील में प्रथम स्थान है। इस निरोध के फलस्वरूप ही सांसारिक विपत्तियों और दुःखों से निवृत्ति होती है, संपूर्ण क्लेशों का निरोध हो जाता है। शील के इस आचरण से भिक्षु अर्हत् पद की प्रथम दो अवस्थाओं — स्रोत आपन्न (पहली ही सीढ़ी में लोभ, द्वेष और मोह को दूर करनेवाली अवस्था) और सकृदागामी (काम, राग और व्यापाद दोषों को दुर्बल बनानेवाली अवस्था) — की प्राप्ति होती है। शील का सरलार्थ संयम है। यह पाँच प्रकार का है — (१) प्राणातिपात (या प्राणिहिंसा) से विरति; (२) अदत्तादान (या चोरी) से विरति; (३) काममिथ्याचार (या व्यभिचार) से विरति; (४) मृषावाद (या असत्य भाषण) से विरति; (५) सुरामेरयमद्य (मादक द्रव्यों की मादकता) से विरति। भिक्षु के लिये ये पाँच शिक्षाएँ बहुत आवश्यक हैं। 'काममिथ्याचार से विरति' से पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर संकेत किया गया है। इन पाँच शीलों से स्पष्ट है कि भिक्षु को मन, वाणी और कर्म पर पूर्ण नियंत्रण रखना चाहिए, संयमित जीवन व्यतीत करना चाहिए। बौद्धों के पालि और संस्कृत ग्रंथों में जिन कुशल कर्मपथों की चर्चा मिलती है, उनमें उपरोक्त प्रथम चार शीलों की भी गणना कर ली गई है। उनके अतिरिक्त पिशुनवाक्, परुषवाक्, संप्रलाप (या बकवाद), अनभिध्या (या अतिलोभ), अव्यापाद (या वैमनस्य), सम्यग्दृष्टि (या मिथ्यादृष्टि) से विरतियाँ भी गिन ली गई हैं। इन्हीं को कुशल कर्मपथ भी कहते हैं। इनसे विरत न रहना, अकुशल कर्म-पथ का अनुसरण करना है। तात्पर्य यह कि इन सभी अकुशल कर्मों से चित्त की विरति ही शील है। शील के अनुसरण से मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रियाओं में समाधान, उपधारण और प्रतिष्ठा आती है।[३०]

---

३०. विसुद्धिमग्ग, शीलनिद्देसो, पृ० ७-८—हि० इं० फि०, दासगुप्त, वा० १,

विसुद्धिमग्ग में भोजन, आसन, वेश आदि के संयम–नियम दिए गए हैं, जिन्हें धूतंग कहते हैं।[३१]

ऊपर बतलाया गया है कि बुद्धधर्म के तीन रत्न हैं—शील, समाधि और प्रज्ञा। ज्ञान की स्थिति अंत में है। शील और समाधि की पूर्णता से प्रज्ञा का उदय होता है। इस प्रज्ञा या परमज्ञान की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक उसे धारण करने की योग्यता शरीर में उत्पन्न नहीं हो जाती। शुद्ध शरीर में ही शुद्ध ज्ञान का उदय संभव है। इसीलिये बुद्ध के त्रिरत्नों के प्रथम दो में से शील से कायशुद्धि और समाधि से चित्तशुद्धि का उपदेश दिया गया है।[३२]

समाधि का अर्थ है—कुशल की ओर चित्त की एकाग्रता—"कुशल-चित्तैकाग्गता समाधिः।" इस समाधि में चित्त केवल एक विषय पर स्थिर हो जाता है। उसमें सभी प्रकार की चंचलता और परिवर्तन स्थगित हो जाते हैं।[३३] तात्पर्य यह कि अकुशल कर्मों को छोड़कर कुशल कर्मों की ओर एकाग्रता की अवस्था समाधि है। अकुशल कर्मों के करने से तृष्णा और क्षोभ उत्पन्न होते हैं, अतः समाधि में भिक्षु चित्त को शांत करने का प्रयत्न करता है। काम या राग या आसक्ति को छोड़कर कुशल कर्मों की ओर चित्त को एकाग्र कर लेने पर प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। अनासक्ति से चित्त के सभी क्षोभ एकसाथ शांत नहीं हो जाते, उन्हें शांत करने में कुछ देर लगती है। इस

पृ० १०१; बुद्धिज्म इन ट्रांसलेशन—वारेन विसुद्धिमग्ग, परिच्छेद १७, पृ० १७५।

३१. हि० इं० फि०—दासगुप्त, वा० १, पृ० १०१।

३२. दीघ निकाय, हिंदी अनुवाद, पृ० १९०-१९८।

३३. विसुद्धिमग्ग, पृ० ८४-८५, "कुसलचित्तेकग्गता समाधिः", "एकारम्मणम् सम्मा च अविक्खिपमाणा", हि० इं० फि०— दासगुप्त, वा० १, पृ० १०१।

अवस्था में भी वितर्क, विचार, प्रीति और सुख बने ही रहते हैं। समाधि की चार सीढ़ियों में क्रमशः एक एक का अपसरण होता है।

यदि पूर्ण समाधि की क्रमशः विकास की अवस्थाओं का विश्लेषण करें तो उन्हें हम दो भागों में बाँट सकते हैं—एक तो उपचार समाधि और दूसरी अर्पणा समाधि। उपचार समाधि में भिक्षु बुभुक्षा, पिपासा संबंधी तृष्णा, तज्जनित दुःख, क्षिति, जल, पावक और समीर से निर्मित, कसाई की दूकान पर पड़े गाय के शव के समान अपने शरीर पर तथा बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग, उपशम आदि की श्रेष्ठता पर क्रमशः अपने चित्त को एकाग्र करता है।[३४] उपचार समाधि के बाद की दूसरी अवस्था अप्पना समाधि की है। इस अवस्था में भिक्षु श्मशानभूमि में जाकर मानव शरीर के शव के घृणास्पदत्व की भावना करता हुआ अपने शरीर को भी उसी प्रकार समझता है। इस कार भिक्षु अपने शरीर से परे जाने का प्रयत्न करता है।[३५] इस प्रकार की एकाग्रता के लिये भिक्षु को चाहिए कि वह एक एकांत और शांत स्थान में बैठकर अपने श्वास के प्रश्वास (पस्सास) और आश्वास (आस्सास) पर अपने चित्त को केंद्रित करे जिससे वह अपने श्वास की तीव्र अथवा मंदगति से परिचित हो सके। श्वासगति से परिचित होने के लिये उसे उनकी गणना करनी चाहिए, जिससे वह संपूर्ण श्वासक्रिया पर अपने चित्त को एकाग्र कर सके। इसी को 'आनपानसति' कहते हैं।[३६]

इसके बाद की अवस्था को ब्रह्मविहार के नाम से पुकारते हैं। संसार के सुख के प्रयासी, दुःखी, दुःख दूर करने के प्रयासी, सुखी, सुख के स्थायित्व

---

३४. हि० इं० फि०—दासगुप्त, वा० १, पृ० १०२। विसुद्धिमग्ग, पथवीकसणनिद्देसो, कोसांबी, पृ० ८५।

३५. वही, दासगुप्त, पृ० १०२।

३६. दीघनिकाय, २०—महासतिपट्ठानसुत्त (२१९); हिं० अनु०, पृ० १९०-१९१; हि० इं० फि०—दासगुप्त, वा० १, पृ० १०२।

के प्रयासी, कुकर्मी, अकर्मी—इन सभी प्रकार के लोगों को देखकर भिक्षु अपने मन में जो भावना करता है उसे ही ब्रह्मविहार कहते हैं। ब्रह्म का अभिप्राय बड़े या महान् से है। इसी को अप्रमाण भी कहते हैं। इस अवस्था में वह चार प्रकार का ध्यान करता है—मैत्री, करुणा, मुदिता (सुख से अवियोग कराने की भावना) और उपेक्षा (पाप से छुड़ाने की भावना)।[३७] दूसरों के द्वारा कठोर से कठोर पीड़ा पहुँचाए जाने पर, दूसरों के क्रुद्ध होने पर, उसे क्रुद्ध नहीं होना चाहिए। करुणा के प्रसार में मित्र शत्रु दोनों के प्रति सहानुभूति व्यक्त करनी चाहिए। सुखी लोगों पर इसलिये दया करनी चाहिए कि उन्हें निर्वाण की प्राप्ति के लिये अनेक सुखदुःखपूर्ण जीवन व्यतीत करने पड़ेंगे।[३८]

इन अभ्यासों को करने के बाद ध्यान की पूर्णता के लिये चार भूततत्वों से बनी किसी भी वस्तु पर या मृत्तिका गोलक पर भिक्षु को चित्त एकाग्र करना चाहिए। जब नेत्रों को बंद कर लेने पर भी वह वस्तु का प्रत्यक्ष कर सके तो उसे भौतिक वस्तु को छोड़ देना चाहिए और चित्त में ही उस वस्तु पर चित्त को एकाग्र करने के लिये दूसरे स्थान पर जाना चाहिए। इस प्रकार के ध्यान के आलंबनों को बौद्ध ग्रंथों में 'निमित्त' कहा गया है। इस निमित्त की महत्ता को समझने के लिये कुछ अवांतर बातों का ज्ञान आवश्यक है।

बुद्ध ने अर्हत् पद की प्राप्ति के पूर्व की तीन अवस्थाएँ मानी थीं—स्रोत आपन्न, सकृदागामी और अनागामी। इन चार अवस्थाओं का मार्ग ही आर्यमार्ग है। इस मार्ग से अलग रहने वाले जन ही पृथग्जन कहे जाते हैं। इस आर्यमार्ग की अंतिम अवस्था ही अर्हत् की है। स्रोत में या धारा में पड़नेवाला अथवा इस आर्यमार्ग पर आरूढ़ हो जानेवाला भिक्षु 'स्रोत

---

३७. महायान, भदंत शांतिभिक्षु, पृ० ४३।

३८. हि. ई. फि., दासगुप्त, वा. १, पृ० १०४।

आपन्न' होता है। इस प्रथम अवस्था में चित्त पाप से हटकर, कल्याणगामी प्रवाह में प्रवाहित होकर निर्वाण की ओर अग्रसर होता है। उसके पुनः संसार में आ पड़ने का भय नहीं रहता। इसी अवस्था में तीन संयोजनों (सत्काय दृष्टि--आत्मा की स्थिति मानना; विचिकित्सा—संदेह; शीलव्रत परामर्श—व्रत उपवासादि में आसक्ति) का क्षय होता है। कामधातु, रूपधातु, अरूप-धातु नाम की तीन धातुओं में से इस स्रोत आपन्न की प्रथम अवस्था में साधक का कामधातु से संबंध विच्छेद हो जाता है। फिर उसे निर्वाण-प्राप्ति के लिये सात से अधिक बार जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार सकृदागामी कामराग (इंद्रियलिप्सा) और प्रतिघ (दूसरे का अनिष्ट करने की भावना) नाम के दो बंधनों को दुर्बल मात्र बना कर मुक्ति-मार्ग में आगे बढ़ता है। ऐसा भिक्षु संसार में केवल एक ही बार जन्म लेता है किंतु अनागामी को एक बार भी यहाँ नहीं आना पड़ता, जन्म नहीं लेना पड़ता। वह किसी दिव्य लोक में प्रकट होता है। अर्हत् रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य और अविद्या नाम के पाँच बंधनों को तोड़ देता है और मृत्यु होने पर फिर कभी भी जन्ममृत्यु के चक्र में नहीं पड़ता। ध्यान देने योग्य है कि चौथी अवस्था को प्राप्त करने के लिये रागादि क्लेशों के दूरीकरण की क्रिया करनी पड़ती है। इस कार्य में साधक को ध्यानयोग से पर्याप्त सहायता मिलती है। बिना समाधि के साधक कामधातु (वासना-मय जगत्) का अतिक्रमण कर रूपधातु में जा नहीं सकता। समाधि, साधक को रूपधातु में ले जाने में प्रधान सहायक है।[२९] जिन चार ध्यानों का वर्णन आगे किया जाएगा, उनका संबंध इसी रूपधातु से है। ध्यान की विभिन्न अवस्थाओं के, 'विसुद्धिमग्ग' जैसे ग्रंथों ने, 'निमित्तों' (आलंबनों) का बड़े विस्तार से वर्णन किया है।

२९. बौद्ध दर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० १३९-१४२ तथा पृ० ३९६ तथा विशुद्धिमार्ग पहला भाग, हिं. अनु. भिक्षु धर्मरक्षित, पृ० ११५, ११८-१५९ आदि।

ध्यान में जो विभिन्न वस्तुएँ आलंबन के रूप में स्वीकार की जाती हैं, वे ही निमित्त हैं। उपरोक्त प्रथम अवस्था में भिक्षु निमित्त के नाम और रूप तथा उसके विभिन्न संबंधों को समझने का प्रयत्न करता है। इसी अवस्था को वितर्कावस्था कहते हैं। इसके बाद की विचार की अवस्था में चित्त वस्तु के विभिन्न संबंधों पर चंचल न होता हुआ वस्तु के भीतर बिना किसी चंचलता के प्रवेश करता है। वितर्क छूट जाता है। बुद्धघोष ने 'विसुद्धिमग्ग' में प्रथम अवस्था की तुलना उस पक्षी से की है जो अपने पंखों को चंचल करता हुआ उड़ता है किंतु द्वितीय अवस्था पक्षी की उस अवस्था के समान है जिसमें उसके पंख निष्कंप रहते हैं, फिर भी वह उड़ता रहता है। इस अवस्था तक भिक्षु को प्रीति, सुख और एकाग्रता की प्राप्ति हो जाती है किंतु इसके बाद वह वितर्क विचारहीन तथा सम सुखदुःखावस्था में पहुँच जाता है जिसमें वह वस्तुओं से उत्पन्न सुख दुःख दोनों की उपेक्षा करता है, उदासीन रहता है।[४०] इस अवस्था में वह क्षीणासव हो जाता है। ऐसी अवस्था में यद्यपि सुख के प्रति रागभाव बना रहता है फिर भी यदि उचित रीति से चित्त को न ले जाया जाय तो वह प्रीति की अवस्था में पुनः पहुँच सकता है। इस प्रकार इस ज्ञान की दो विशेषताएँ हैं—सुख और एकाग्रता। यद्यपि इस अवस्था में महासुख की उपलब्धि होती है फिर भी मन उससे विरक्त रहता है—"अति मधुर सुखे सुखपारमिप्पते पि तैचियज्झाणो उपेक्खको, न तत्था सुखाभिसंगेन आकद्रियति।"[४१]

ध्यान की अंतिम अवस्था में सुख और दुःख दोनों ही लुप्त हो सकते हैं तथा राग और द्वेष के सभी बीज नष्ट हो जाते हैं। इसी को उपेक्षा (उपेक्खा) की स्थिति कहते हैं जिसका विकास धीरे धीरे ध्यान की अन्य अवस्थाओं में

---

४०. "वितक्क विचारक्खोभविरहेण अतिविय अचलता सुप्पसन्नता च।" हि. इं. फि., दासगुप्त, वा. १, पृ. १०४ पर उद्धृत।

४१. विसुद्धिमग्ग, पृ. १६१—हि. इं. फि., दासगुप्त, वा. १, पृ. १०६।

हुआ है। इस प्रकार इस स्थिति तक पहुँचने पर उपेक्षा और एकाग्रता की उपलब्धि हो जाती है। इसी समय 'चेतोविमुक्ति' की प्राप्ति होती है और भिक्षु तब पूर्णतया अर्हत् हो जाता है।[४२] फिर स्कंधों की उत्पत्ति, पुनर्जन्म नहीं होते, दुःख तथा पीड़ा से आत्यंतिक निवृत्ति हो जाती है।[४३] तात्पर्य यह कि समाधि का अर्थ बुद्ध के उपदेशों के अनुसार राग द्वेषादि द्वंद्व विनाश से उत्पन्न चित्त की शुद्ध नैसर्गिक एकाग्रता है।

समाधि के ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि बौद्ध ध्यानयोग में दो प्रकार की समाधि होती है—उपचार समाधि और अप्पना समाधि। 'अप्पना', संस्कृत शब्द 'अर्पणा' का पालि रूप है। इस अर्पणा में ध्यान की चार अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम ध्यान में वितर्क और विचार की स्थिति रहती है। द्वितीय में उनका अभाव होता है, श्रद्धा की प्रबलता रहती है। प्रीति, सुख और एकाग्रता का उदय होता है। चित्त-समाधान से जो मानसिक अह्लाद उत्पन्न होता है उसे प्रीति कहते हैं। अनंतर इस भाव का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। शरीर की व्युत्थित दशा की, उस समय, बेचैनी जाती रहती है। इस अवस्था में पूरे शरीर के ऊपर स्थिरता तथा शांति के लक्षणों का उदय होता है। इसे ही सुख कहते हैं। तृतीय ध्यानावस्था में प्रीति का भाव नहीं रहता, केवल सुख तथा एकाग्रता की स्थिति रहती है। चतुर्थ अवस्था में एकाग्रता के शेष रहने पर उपेक्षा का उदय होता है। यही ध्यान की परकाष्ठा की अवस्था है।[४४]

ऊपर बताया गया है कि शील और समाधि से प्रज्ञा की उपलब्धि होती है। इसी प्रज्ञोपलब्धि से अविद्या का नाश होता है। अभिधर्मकोष में प्रज्ञा

४२. हि. इं. फि., दासगुप्त, वा. १, पृ. १०६।

४३. वही, पृ. १०६।

४४. बौद्ध दर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० ४१२।

तीन प्रकार की बताई गई है—श्रुतमयी, चिंतामयी, भावनामयी।[४५] भावनामयी प्रज्ञा समाधिजन्य है और श्रेष्ठतम है। प्रथम और द्वितीय प्रज्ञा से भिक्षु भावना या ध्यान का अधिकारी होता है। दीघनिकाय के 'सामञ्ञफलसुत्त' में बताया गया है कि प्रज्ञा प्राप्त करनेवाला व्यक्ति ऋद्धियाँ प्राप्त करता है, उसमें प्राणियों के पूर्वजन्म का ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति रहती है, परचित्त-ज्ञान की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसकी ज्ञानेंद्रियाँ दिव्य हो जाती हैं तथा वह दुःखक्षय के ज्ञान से संपन्न हो जाता है।[४६] विवेचन से स्पष्ट है कि शील और समाधि, बोधि की प्राप्ति में सहायक होते हैं। समाधि को, सात बोध्यंगों (बोधिप्राप्ति में सहायक अंगों) में स्पष्टतया महत्वपूर्ण घोषित किया गया है।[४७]

परिच्छेद के प्रारंभ में जो कुछ कहा गया है, उससे इन सब विवेचनों का संबंध जोड़ने पर जो बातें सामने आती हैं, उनसे परवर्ती बौद्ध साहित्य एवं तत्प्रभावित साहित्य में प्रयुक्त योग की मीमांसा में पर्याप्त सहायता मिलती है। भारतीय दर्शन के इतिहासकारों ने पातंजल और बौद्ध योग की अनेक समताओं को ओर संकेत किया है। ध्यान की जिन चार अवस्थाओं का विवेचन ऊपर किया गया है वे पातंजल योग की चार अवस्थाओं से स्थूल समानता रखती हैं।[४८] बौद्ध योग के अनुसार पंचगुणों की उपलब्धि

४५. अभिधर्मकोष, वसुबंधु प्रणीत, राहुल सांकृत्यायन की टीका सहित, ६.५, पृ० १६१—वृत्तस्थः श्रुतचिंतावान् भावनायां प्रयुज्यते।
धियः श्रुतादिप्रभवा नामोभयार्थ-गोचरा ॥५॥ (टीका भी द्रष्टव्य)

४६. दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त, हिंदी अनुवाद, पृ० ३०-३२।

४७. महायान—भदंत शांतिभिक्षु, पृ० ६।

४८. योगसूत्र—महर्षि पतंजलि—"वितर्कविचारानंदास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः।" १—समधिपाद, १७, पृ० २८; इंडियन फिलासफी, डा० राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० ४२६।

योग के उद्देश्य की प्राप्ति तक पहुँचाती है। योगसूत्र में भी इसी बात को स्वीकार किया गया है।[४९] किंतु इनके मूल में विषमताएँ भी कम नहीं हैं, जो परवर्ती बौद्ध धर्म और दर्शन से प्रभावित साधना और साहित्य में भी जीवित रहीं। दोनों योगों के चरम लक्ष्य भिन्न भिन्न हैं। बौद्ध योग का चरम लक्ष्य चित्त के क्षोभ को हटाकर, तृष्णा को दूर कर, दुःख से आत्यंतिक निवृत्ति प्राप्त करना अथवा निर्वाण प्राप्त करना है। पातंजल योग का चरम उद्देश्य कैवल्य की प्राप्ति है। साधक संप्रज्ञात समाधि में प्राप्त होनेवाली प्रज्ञा से ऐश्वर्य लाभ करते हैं। इस स्थिति में अविवेक रहता है। बाद में विवेक-ख्याति के अनुशीलन से सत्य तथा पुरुष का स्वरूपगत वैलक्षण्य उपलब्ध होता है और पुरुष गुण से वियुक्त होकर निज स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही कैवल्य है। कैवल्य का अर्थ पातंजल योग के अनुसार अकेले रहने की स्थिति है। बुद्धि के साथ पुरुष के संबंध का विच्छेद होने पर पुरुष चित् रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी को कैवल्य की स्थिति कहते हैं। योगसूत्र में कहा गया है—

'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।'[५०]

इस सूत्र की भोजवृत्ति से स्पष्ट है कि कैवल्य की अवस्था में 'पुरुषार्थ'-शून्यता आ जाती है, गुण अपने कारण में लीन हो जाते हैं, वह अपने ही रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, परिणामादि विकार नष्ट हो जाते हैं।[५१] इस प्रकार

---

४९. योगसूत्र, १—समाधिपाद, ३३—"मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्" ॥ १.३३ ॥, पृ० ४२।

५०. योगसूत्र, ४.३४, पृ० १७७।

५१. योगसूत्र, ४.३४ की भोजवृत्ति, पृ० २१३-२१६।

इन दोनों के चरम लक्ष्यों में स्पष्ट अंतर है। यद्यपि दोनों व्यक्तिवादी साधना के समर्थक हैं, फिर भी दोनों के मूल में काम करनेवाली दार्शनिक धाराएँ भिन्न हैं। योग सेश्वरवादी आस्तिक दर्शन है, इसीलिये इसे सेश्वर सांख्य भी कहते हैं। बुद्ध ने अनात्मवाद की प्रतिष्ठा कर विश्व के मूलाधार स्वरूप आत्मतत्व का निरास किया था। तात्पर्य यह कि बुद्ध का योग केवल चित्त के लोभों की शांति एवं ध्यान की एकाग्रता तक ही सीमित है। प्रज्ञा प्राप्ति से दुःख निरोध करना ही उसका उद्देश्य है, चैतन्य स्वरूप आत्मा की प्राप्ति उसका उद्देश्य नहीं।

बुद्ध के बाद पतंजलि ने योगसूत्रों का प्रणयन किया। बुद्ध के पूर्व भी योग, तप, सदाचार और ज्ञान की महत्ता को पर्याप्त स्वीकृति दी गई थी। ईसा पश्चात् लगभग चतुर्थ शताब्दी में विसुद्धिमग्ग जैसे ग्रंथों का निर्माण हो चुका था।[५२] इस प्रकार योग और तप की तीन परंपराएँ मिलती हैं— औपनिषदिक परंपरा, बुद्धकालीन स्वतंत्र साधकों की परंपरा, तथा बुद्ध की अपनी शील, समाधि और सदाचार की शिक्षाएँ। बाद में बौद्ध परंपरा का पुष्ट रूप विसुद्धिमग्ग में तथा औपनिषदिक परंपरा का पुष्ट रूप पतंजलि के योग सूत्रों में दिखाई पड़ा। बौद्ध धर्म और साधना में आगे चलकर जब योगाचार मत का उदय हुआ तब बौद्ध योग ने पातंजल योग का भी सहयोग लेकर उसका एक नवीन संस्करण प्रस्तुत किया।[५३]

———

५२. हि० इं० फि०, दासगुप्त, वा० १, पृ० ८३।

५३. आगे 'महायान दर्शन' परिच्छेद में योगाचार मत का विवेचन द्रष्टव्य।

३. संगीतियाँ और महायान की उत्पत्ति

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के समय के विषय में बहुत मतभेद है। विंटरनित्स ने उनका जीवनकाल ई० पू० ४८५ के लगभग माना है। सांप्रदायिक परंपरा के अनुसार, जिसमें विंटरनित्स महोदय को संदेह करने की कोई गुंजाइश नहीं दिखाई देती, बुद्ध, ८० वर्ष की अवस्था तक जीवित थे। उन्होंने बुद्ध के समय को ई० पू० ५३५ से ई० पू० ४८५ तक माना है। तात्पर्य यह कि बुद्ध का अधिक से अधिक समय ई० पू० ४८५ तक माना जा सकता है।[1] बुद्ध जैसे महापुरुष का विरोध उनके शिष्यों में से भी कुछ ने किया था। बुद्ध की शिष्यमंडली में ही देवदत्त उनका विरोधी ही नहीं षड्यंत्रकारी भी था। महापरिनिर्वाण पर बूढ़े सुभद्र ने कहा था—"अब मत रोओ, हमें छुट्टी मिल गई। उस महाश्रमण से तंग ही रहा करते थे। अब हम जो चाहेंगे, करेंगे। कोई कहनेवाला नहीं है कि यह तुम्हें करना चाहिए, यह नहीं।"[2] उस समय आचार संबंधी नियम बहुत कठोर थे। वैयक्तिक संपत्ति रखना अनुचित समझा जाता था। महापरिनिर्वाण के सौ वर्ष बाद कितने ही बौद्ध धन के पीछे दौड़ने लगे। उन लोगों ने अपना एक दल बना लिया। धीरे धीरे बुद्ध के वचनों और उनके अर्थों में, उनके आचार संबंधी विचारों के संबंध में, मतभेद उत्पन्न होने लगे। बौद्ध धर्म और साहित्य के इतिहास में संगीतियों की घटनाएँ मूल उपदेशों के संग्रह, संरक्षण और धार्मिक दार्शनिक विवादों को दूर करने के लिये हुईं। इस प्रकार संगीतियों का संबंध जहाँ एक ओर साहित्य की व्यवस्था, संरक्षण आदि से है, वहीं

---

१. ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर—विंटरनित्स, वा० २, पृ० १-२।

२. महायान—भदंत शांतिभिक्षु, प्रस्तावना, पृ० ।ड, १—।

दूसरी ओर अनेक संप्रदायों, मत मतांतरों का प्रकाशन भी उन्हीं के माध्यम से हुआ।

संगीतियों के विषय में डा० विनयतोष भट्टाचार्य का मत है कि बौद्ध साहित्य के विकास और नवीन संप्रदायों के उद्भव के अध्ययन में इनका विशेष महत्व है। बुद्ध के समय में ही उनके उपदेशों को दुहराया जाता था, उनका गायन किया जाता था। बुद्ध ने बोधि प्राप्त करने के बाद अपना संपूर्ण जीवन उपदेश देकर ही बिताया था। बाद में, उनकी शिक्षाएँ सुरक्षित रहें, इस ध्येय से, बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद, उनके कट्टर शिष्यों ने अनेक संगीतियाँ (सभायें) कीं। वे उन संगीतियों में बुद्ध की शिक्षाओं का गायन, उद्धरण, आवृत्ति, संरक्षण करते रहे। यद्यपि प्रथम संगीति का संबंध शुद्ध रूप से बुद्ध के वचनों से ही था किंतु बाद में जो नवीन विचार तथा मतभेद उत्पन्न हुए, वे भी संगीतियों में प्रकाशित होने लगे। अनंतर यह परंपरा बन गई कि कोई भी नवीन विचार तब तक मान्य न होगा जब तक वह बौद्धों की संगीति (गायन, संरक्षण, उद्धरण और आवृत्ति की सभा) में मान्य न हो जाय। बौद्ध साहित्य में संगीतियों या सभाओं का जो वर्णन मिलता है, वह इसी का सूचक है। उदाहरण के लिये भट्टाचार्य महोदय ने गुह्यसमाज तंत्र को उपस्थित किया है।[3]

बौद्ध साहित्य में यद्यपि अनेक संगीतियों का वर्णन मिलता है तथापि उनमें पाँच प्रधान हैं। बौद्ध परंपरा के अनुसार प्रथम संगीति बुद्ध के महा-परिनिर्वाण के कुछ सप्ताह बाद हुई। महाकाश्यप की अध्यक्षता में बुद्ध के पाँच सौ वीतराग शिष्य राजगढ़ (आधुनिक राजगिरि) में वैभार पर्वत की सप्तपर्णी गुहा में एकत्रित हुए। यह सभा धर्म और विनय के वचनों को व्यवस्थित करने के लिये हुई थी। ऊपर बताया जा

३. गुह्यसमाज तंत्र—सं० विनयतोष भट्टाचार्य, गायकवाड ओरियंटल सिरीज, इंट्रोडक्शन, पृ० १।

चुका है कि बुद्ध के समय से ही विनय और नैतिक नियमों का विरोध आरंभ हो गया था। प्रथम संगीति के सौ वर्ष के भीतर ही लिपिबद्ध और व्यवस्थित कठोर नैतिक नियमों का भी विरोध आरंभ हो गया। इस विरोध को ऊँचा स्वर देनेवाले भिक्षु वज्जिदेश के थे। वज्जिदेश की राजधानी वैशाली थी जिसे आजकल मुजफ्फरपुर जिले का बसाढ़ ग्राम कहते हैं। इन भिक्षुओं को वज्जिपुत्तक, वज्जिपुत्तिक तथा वात्सीपुत्रीय इत्यादि कहा गया है। इन्हीं लोगों के विरोध की शांति के लिये वैशाली की द्वितीय संगीति लगभग ई० पू० ३८३ में हुई। इसी संगीति के बाद स्थविरवादी और महासांघिक नामक दो भेद बौद्ध धर्म के हो गये। यह संगीति आठ मास तक अनवरत चलती रही। इसी संगीति में वज्जिदेशीय भिक्षुओं ने, भिक्षुओं के लिये जो नियम प्रथम संगीति में उपालि आदि के द्वारा व्यवस्थित किये गये थे, उनके अपवाद खोजकर उनमें सुधार करना चाहा। किंतु इस संगीति तक अपरिवर्तनवादी कट्टर भिक्षुओं की दृढ़ता के कारण वे सफल न हो सके। अतः परिवर्तनवादी वज्जिदेशीय भिक्षुओं ने कौशांबी (आधुनिक प्रयाग के पास कोसम) में अपनी एक सभा की। कौशांबी की संगीति में दस हजार भिक्षु थे। दस हजार भिक्षुओं के महासंघ के कारण ये लोग महासांघिक कहलाये तथा विनय में किसी प्रकार का परिवर्तन न चाहने वाले भिक्षुओं को स्थविरवादी कहा गया।[४]

तृतीय संगीति अशोक ने पाटलिपुत्र में महास्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में लगभग ई० पू० २५१ में बुलाई थी। विंटरनित्स ने इस संगीति का समय बुद्ध के निर्वाण के २३६ वर्ष बाद माना है। द्वितीय और तृतीय संगीति के बीच अनेक संप्रदाय खड़े हो गये थे। कथावत्थु में जिन १८ निकायों का खंडन मिलता है, उनके अतिरिक्त भी अनेक निकाय उस

४. ए० हिं० इं० लि०, विंटरनित्स, वा० २, पृ० ५; बौद्धदर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० ६।

समय वर्तमान थे। महावंश के प्रथम परिच्छेद में इन निकायों के विकास का क्रम दिया गया है जिसमें महासांघिक निकाय की भी गणना की गई है। कथावत्थु में, महावंश में वर्णित निकायों की आलोचना और खंडन तो है हां, साथ ही अंधक, अपरशैलीय, पूवशैलीय, राजगिरिक, सिद्धार्थक, वेतुल्ल (वैपुल्य), उत्तरापथक और हेतुवादियों की भी आलोचना की गई है। श्री भदंत शांतिभिक्षु का मत है कि इनमें वैपुल्य, महायान का प्राचीन रूप है। उनका तर्क यह है कि अठ्ठकथा में वैपुल्य को महाशून्यतावादी कहा गया है और शून्यवाद महायान का ही एक दार्शनिक सिद्धांत है। इससे वैपुल्य के महायानी मत होने में सदेह नहीं। अंधक इत्यादि निकायों के सूत्र भी महायान सूत्र कहलाते हैं। तात्पर्य यह कि महायान इन अंधकादि निकायों का एकीकरण है। पूर्व शैल और अपरशैल आंध्रदेशीय पर्वत हैं। अधक निकाय नामकरण भी (श्री शांतिभिक्षु के मत के अनुसार) आंध्र के नाम पर ही किया गया है। इस प्रकार महायान की उत्सभूमि आंध्र-देश है। आंध्रप्रदेश के धान्यकटक में एक चैत्य है जिसे महाचैत्य कहते हैं। शांतिभिक्षु ने मञ्जुश्रीमूलकल्प से एक उद्धरण देकर प्रमाणित किया है कि इस महाचैत्य के नाम पर प्रसिद्ध होने वाले चैत्यवादी भी महासांघिक ही थे।[५]

तृतीय संगीति में इन अनेक निकायों के परस्पर मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न किया गया। इसी समय स्थविर लोग भिन्न भिन्न देशों में प्रचार के लिये गये। परिणामतः लंका, ब्रह्मा, स्याम में स्थविरवादी बौद्धधर्म प्रसरित हो गया। इस सभा में तिस्स ने सहस्र भिक्षुओं की संगीति की थी। वास्तव में यह स्थविरवादियों की सभा थी। कहा जाता है कि 'कथावत्थु' का निर्माण तिस्स ने ही किया था और उसमें उन्होंने विभज्जवादियों से भिन्न निकायों का

५. श्री पर्वते महाशैले दक्षिणपथसंज्ञके।
श्री धान्यकटके चैत्ये जिन धातुधरे भुवि ॥—महायान—भ० शांतिभिक्षु, प्रस्तावना, पृ० ११०।

कठोर खंडन किया था।[६] सारनाथ, साँची और भारहुत की स्तंभलिपियों से ज्ञात होता है कि अशोक ने अनाचारपरायण बौद्ध भिक्षुओं को श्वेत वस्त्र पहनवा कर निकाल देने का आदेश दिया था।[७] ऐसा मालूम होता है कि इन निष्कासित भिक्षुओं ने अपना आसन नालंदा के पास ही कहीं जमाया होगा। हर्ष के बाद से नालंदा विद्यापीठ हीनयान विरोधी संप्रदाय का केंद्र बना। विज्ञानवाद का उत्कर्ष भी वहीं हुआ। बौद्धधर्म और संप्रदाय के परवर्ती विकास की दृष्टि से नालंदा विशेष महत्वपूर्ण है। अनुमान है कि बहिष्कृत और तिरस्कृत होने के बाद महासांघिकों का केंद्र नालंदा ही रहा होगा।

चतुर्थ संगीति कुषाण सम्राट् कनिष्क ने बुलाई जिसका समय कुछ लोग ७८ ई० मानते हैं। इसमें सर्वास्तिवादी शाखा के ५०० भिक्षु एकत्रित हुए थे। सभास्थान काश्मीर का कुंडलवन था। वसुमित्र और अश्वघोष इसके अध्यक्ष थे। दोनों ही सर्वास्तिवादी थे। इस संगीति के बाद चीन में भी बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ। चीनी साहित्य में हीनयानी और महायानी दोनों के ग्रंथ अनूदित रूप में प्राप्त होते हैं किंतु वहाँ का धार्मिक रूप महायानी ही रहा। कनिष्क के समय तक महायान पूर्ण विकसित हो चुका था और उसे राज्याश्रय भी मिलने लगा था, इसका पता कनिष्क के सिक्कों से लगता है। उस समय तक बुद्ध का स्थान देवपरक हो चला था। अनेक बोधिसत्त्वों की कल्पना हो चुकी थी। कनिष्क के सिक्कों पर बुद्ध की आकृतियाँ मिलती हैं। इसी समय से गांधार कला का अभ्युदय भी माना जाता है। साँची और भारहुत में जो अशोकीय तथा स्थविरवादी कला के नमूने मिलते हैं, उनमें बुद्ध संबंधी कहानियों को उत्कीर्ण किया गया है किंतु उनमें बुद्ध की प्रतिमाएँ नहीं मिलतीं। कनिष्ककाल तक आते आते महायान धर्म ने कला

---

६. ए हि० इं० लि०, विंटरनित्स, वा० २, पृ० ६।

७. हिंदी साहित्य की भूमिका—पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १९०।

में बुद्ध के चरण, बोधिवृक्ष, रिक्त आसन, अथवा छत्र आदि के स्थान पर उनकी मूर्तियों को प्रश्रय दे दिया। तात्पर्य यह कि महायान का पूर्ण प्रकाशित रूप कनिष्क के समय में आया। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के लगभग ५०० वर्षों बाद महायान पूर्ण प्रतिष्ठित हो गया।

इन पाँच सौ वर्षों में कुछ महत्वपूर्ण बातें सामने आईं। इनका प्रकाशन क्रमशः हुआ। ये सभी बातें आगे चलकर 'महायान' धर्म और दर्शन का निर्माण करनेवाली सिद्ध हुईं। महापरिनिर्वाण के बाद ही भिक्षुओं ने बुद्ध के जीवन और उपदेशों का अध्ययन आरंभ कर दिया। तृष्णानिरोध उनके उपदेशों में प्रधान था। प्रत्येक भिक्षु अपनी वैयक्तिक उन्नति के लिये तृष्णा-निरोध का अभ्यास करता था। बुद्ध ने स्वयं तृष्णानिरोध किया ही था, बाद में अस्सी वर्ष की अवस्था तक उन्होंने घूम-घूमकर उसका उपदेश भी दिया था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि संभवतः बुद्ध का उद्देश्य केवल अपनी ही तृष्णा के निरोध तक सीमित नहीं था। उनका उद्देश्य सामाजिक था। इसीलिये उन्होंने अपना पूरा जीवन चार आर्यसत्यों के उपदेश में लगा दिया था। बुद्ध के बुद्धत्व के विषय में विचार करते हुए लोगों ने अनुमान किया कि बुद्ध ने अनेक जन्मांतरों में अभ्यास के बाद बुद्धत्व प्राप्त किया होगा। अनेक जन्मांतरों तक उन्होंने अपनी तृष्णा के निरोध का अभ्यास संसार के दुःखी प्राणियों के उद्धार के लिये किया होगा। किंतु उन जन्मांतरों में भी क्रमशः विकास हुआ होगा। अतः पारमिताओं की कल्पना की गई। उनके जन्मांतर से संबद्ध अनेक कहानियाँ गढ़कर उनके व्यक्तित्व से संबद्ध कर दी गईं। यह माना जाने लगा कि बुद्धत्व प्राप्त करने के लिये पारमिताओं (अनेक मानवीय गुणों की पूर्णता) का अभ्यास करना चाहिए। अनेक अतीत बुद्धों और बोधिसत्त्वों की कल्पना की गई। बोधि प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले बोधिसत्त्व कहलाते थे। अनेक अतीत बुद्धों के चरित्र का संग्रह बुद्धवंश में मिलता है। उन अतीत बुद्धों को शाक्य मुनि से मिलाने के लिये कहा गया कि शाक्य मुनि ने उन अतीत बुद्धों

की अपने पूर्व जन्मों में सेवा की थी और भविष्य में भी इसी प्रकार बुद्ध अवतरित होंगे। अवतारवाद ने प्रवेश पाया। उन पर अलौकिकता का आरोप किया गया। इस प्रकार इन पाँच सौ वर्षों में बुद्ध की अलौकिकता, तृष्णानिरोध, पारमिताएँ, बोधिसत्त्व, अतीत बुद्ध, व्यक्तिगत साधना का सामाजिक उद्देश्य इत्यादि बातें सामने आईं।

———

४. महायानी साहित्य और उसकी विशेषताएँ

ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद से महायान का विस्तार और प्रसार होता है। इस समय का जो साहित्य उपलब्ध होता है, उसे हीनयान और महायान जैसे दो विभागों में स्पष्ट रूप से विभाजित नहीं किया जा सकता। महायान का कुछ साहित्य ऐसा अवश्य है जो शुद्ध रूप से महायान के सिद्धांतों का विवेचन करता है। जिन ग्रंथों को दोनों यानों में महत्ता प्राप्त है तथा जो स्वयं अपने को हीनयानी घोषित करते हुए भी महायान के सिद्धांतों का विवेचन करते हैं, या उनसे प्रभावित हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(१) महावस्तु या महावस्तु अवदान (द्वितीय शताब्दी)।

(२) ललितविस्तर (६ वीं शताब्दी के पूर्व)।

(३) कल्पनामंडीतिका (कुमारलात, ४०५ ई०)।

(४) चतुःशतक स्तोत्र (मातृचेट, द्वितीय शताब्दी)।

(५) मैत्रेय व्याकरण (वैभाषिक आर्यदेव, द्वितीय शताब्दी)।

(६) जातकमाला (सूर या आर्यसूर, चतुर्थ शताब्दी)।

(७) अवदानशतक (लगभग द्वितीय शताब्दी)।

(८) कर्मशतक।

(९) दिव्यावदान (प्रथम—चतुर्थ शताब्दी)।

(१०) अवदान कल्पलता (क्षेमेंद्र, १०५२ ई०)।

प्रथम ग्रंथ हीनयानियों और महायानियों, दोनों को मान्य है। ये ग्रंथ अंशतः शुद्ध संस्कृत और मिश्र संस्कृत दोनों में लिखे हैं इन सभी ग्रंथों में, जिनमें महायान की विशेषताएँ अधिक मुखर हैं, वे हैं महावस्तु और ललित—



विस्तार। ये दोनों उस समय के ग्रंथ हैं जब महायान की अन्य रूपों में परिणति नहीं हुई थी। हीनयान और महायान साथ ही साथ प्रचारित हो रहे थे। लोकप्रचार और आकर्षण ने इनके रचयिताओं को इतना अधिक प्रभावित किया कि ये अपने को हीनयानी घोषित करते हुए भी महायानी प्रभाव से अछूते न रह सके।

विंटरनित्स के अनुसार सिंहल, वर्मा और स्याम का पालि साहित्य केवल थेरवादी साहित्य है। अन्य संप्रदायों और मतों में से कुछ ने मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा (लगभग ई० पू० ५०० से लगभग १००० ई० तक) का प्रयोग किया है। कुछ मतों ने ऐसे साहित्य को जन्म दिया है जो अंशतः संस्कृत में है और अंशतः मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा में। इसी को सेनार्ट ने "मिश्र संस्कृत" कहा है। शुद्ध और मिश्र संस्कृत में लिखित साहित्य या तो महायानी है या समधिक उससे प्रभावित संप्रदायों का है। तात्पर्य यह कि हीनयान का साहित्य पालि में है और महायान का साहित्य मिश्र संस्कृत और शुद्ध संस्कृत में।[1]

महावस्तु अपने को हीनयानी कहता है फिर भी महायान के सिद्धांतों से अनुप्राणित है। बुद्ध के जीवन की जो कथाएँ इसमें वर्णित की गई हैं, वे चमत्कारों से पूर्ण हैं। भगवान् बुद्ध बोधिसत्त्व के रूप में चित्रित किए गए हैं। उन्होंने तुषित लोक में देवताओं के समक्ष रानी माया के गर्भ से उत्पन्न होने की इच्छा व्यक्त की थी। मार से संघर्ष के चमत्कारों का तथा बोधि-

---

१. ए हि. इं. लि., विंटरनित्स, वा. २, पृ. २२६–२२७। हीनयान और महायान के नामकरण और भेदक तत्वों के विस्तृत विवेचन के लिये द्रष्टव्य—१. ए हिस्टारिकल स्टडी आफ दि टर्म्स हीनयान ऐंड महायान ऐंड दि ओरिजिन आफ महायान बुद्धिज्म—आर० किमुर। २. ऐस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म ऐंड इट्स रिलेशन टु हीनयान—एन० दत्त। ३. आउटलाइन्स आफ महायान बुद्धिज्म—डी० टी० सुजुकि।

प्राप्ति का वर्णन इसमें उपलब्ध होता है। यह ग्रंथ लोकोत्तरवादियों के लिये बुद्ध का जीवनचरित उपस्थित करता है।[२] अनात्मवाद और बोधिसत्त्व की उदारता को कथा के माध्यम से व्यक्त किया गया है। आरंभ में नरक का वर्णन है। इसके ऋषि बोधिसत्त्व रक्षित ने अनेक चामत्कारिक सिद्धियों को प्राप्त किया था जिससे वे अपने हाथों से सूर्य और चंद्र को भी छू सकते थे। बौद्धों का प्रभूत गौरवांकन भी मिलता है। इस ग्रंथ में महायान का पुराणों की पद्धति का प्रयोग स्पष्ट है। चामत्कारिक सिद्धियों का वर्णन प्रकृष्ट है। इसमें उन सिद्धियों का भी वर्णन है जिन्हें बोधिसत्व दशभूमियों को पार करते समय प्राप्त करता है।[३] इसका "बुद्धानुस्मृति सूक्त" पौराणिक विष्णु, शिव आदि देवताओं के सूक्तों से भिन्न नहीं है[४]। स्पष्ट रूप से यह घोषणा की गई है कि बुद्ध की पवित्रता इतनी महान् है कि केवल उनकी पूजा उपासना मात्र से कोई निर्वाण प्राप्त कर सकता है। केवल स्तूपों की परिक्रमा और पुष्पार्पण मात्र से अनंत सिद्धियों की उपलब्धि हो सकती है[५]। अनेक बुद्धों का भी वर्णन किया गया है। कहा गया है कि बोधिसत्त्व माता पिता द्वारा उत्पन्न नहीं किए जाते, अपितु स्वयं अचानक अपने गुणों से आविर्भूत होते हैं। ये विशेषताएँ इस ग्रंथ को महायान से सुगंधित सिद्ध करती हैं[६]।

ललितविस्तर अपने को वैपुल्य सूत्र कहता है तथा महायानियों का मान्य ग्रंथ है। 'वैपुल्य सूत्र' वह सामान्य पद है जो महायान के सूत्रों के लिये व्यवहृत होता है। यद्यपि इसमें उपस्थित की गई बुद्ध की जीवनकथा

२. ए हि. इं. लि., विंटरनित्स, वा. २, पृ. २४१।

३. महावस्तु—ई० सेनार्ट, १.६३–१९३; ए हि. इं. लि., विंटरनित्स, वा. २, पृ. २४५–२४६।

४. महावस्तु—ई० सेनार्ट, १.१६३ आगे; ए हि. इं. लि., वा. २, पृ. २४६।

५. वही, २. ३६२ आगे; ए हि. इं. लि., वा. ९, पृ. २४६।

६. ए हि. इं. लि., विंटरनित्स, वा. २. पृ. २४६।

हीनयानी सर्वास्तिवादियों के लिये लिखी गई है तथापि शीर्षक से स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रंथ में 'बुद्ध की लीला का ललित और सविस्तर वर्णन' है तथा महायानी विचारों से ओतप्रोत है[७]। तात्पर्य यह कि बुद्ध का इस पृथ्वी पर जीवन और चरित्र केवल अलौकिक व्यक्ति की लीला है। जैसे अन्य वैपुल्य सूत्रों में बुद्ध के मुखमंडल को प्रभा से पूर्ण तथा उन्हें बोधिसत्त्वों से आवृत वर्णित किया गया है उसी प्रकार का वर्णन इस ग्रंथ में भी उपलब्ध होता है। बुद्ध के केश से एक किरण निकलती है और सभी बुद्धक्षेत्रों, बुद्धों और बोधिसत्त्वों को प्रकाशित कर देती है।

इसी प्रकार अश्वघोष ने भी (द्वितीय ईस्वी शताब्दी) जिन ग्रंथों का निर्माण किया है, यद्यपि वे सर्वास्तिवादी सिद्धांतों से पूर्ण हैं, तथापि भक्ति तत्व उनमें कहीं भी नहीं छूटा है। पहले अश्वघोष सर्वास्तिवादी अवश्य थे किंतु बाद में उन्होंने अपने ग्रंथों में बुद्धभक्ति पर विशेष जोर देकर महायान की भित्ति निर्मित की। उनके सौंदरनंद और बुद्धचरित ग्रंथों में महायानी भक्ति का निरूपण हीनयानी विशेषताओं के साथ किया गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार अश्वघोष का एक ग्रंथ और है, जिसे 'वज्रसूची' कहते हैं। इस ग्रंथ में वर्णव्यवस्था का कठोर खंडन है। वेद मनुस्मृति आदि के पुष्कल उद्धरण भी हैं। त्रिपिटक की चीनी सूची के आधार पर कुछ विद्वान् उसे धर्मकीर्ति का ग्रंथ मानते हैं। श्री सुजीतकुमार मुखोपाध्याय ने अनेक प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि यह ग्रंथ अश्वघोष (ई० पू० ५० के लगभग) लिखित है[८]। यह ग्रंथ वज्रयानी सिद्धों के विचारों की परंपरा सिद्ध करने के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

---

७. वही, पृ. २४६।

८. दि वज्रसूची आफ अश्वघोष, सं० सुजीत कुमार मुखोपाध्याय, इंट्रोडक्शन, पृ० १, ४–५।

इन ग्रंथों के विवेचन से स्पष्ट है कि महायान में बुद्ध की लोकोत्तरता, बोधिसत्त्व, बुद्धभक्ति, बुद्धपूजा, बुद्धलीला, स्तूपपूजा, सिद्धियाँ, चमत्कार, दशभूमियाँ, पौराणिक कथा कल्पना आदि बातें चतुर्थ शताब्दी तक प्रविष्ट हो चुकी थीं।

महायानी सिद्धांतों का प्रासंगिक विवेचन और प्रकाशन इन अर्द्ध महायानी ग्रंथों में तो उपलब्ध होता ही है, साथ ही महायान के कुछ अपने सूत्र-ग्रंथ भी हैं जिनमें महायान का शुद्ध रूप प्रकाशित हुआ है। पहले ही कहा जा चुका है कि महायान अनेक हीनयानेतर संप्रदायों का संघटन है। जिस प्रथम ईस्वी शताब्दी की कनिष्ककालीन तृतीय संगीति के विषय में कहा जाता है कि उसी समय से महायान ने अपना पृथक् अस्तित्व स्थापित किया, उस समय भी इस यान ने अपने विशेष विनयपिटक का संग्रह व्यवस्थापन किया था या नहीं, इसका कोई वर्णन नहीं मिलता। युवानच्वांग ने 'अभिधर्म-पिटक' नामक एक ग्रंथ का अनुवाद किया था। उसमें महायानी ग्रंथों की एक लंबी सूची दी हुई है। जिन 'नवधर्मों' को महायान सूत्रों के रूप में स्वीकार किया जाता है, वे वास्तव में भिन्न भिन्न कालों में रचित भिन्न भिन्न संप्रदायों के ग्रंथों के संकलन हैं। ये पुस्तकें नेपाल में अत्यधिक आदृत हैं।[१] जैसे—

१—अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता (३६६-४१६ ई० के पूर्व)
२—सद्धर्म पुंडरीक (प्रथम शताब्दी)
३—ललितविस्तर (६वीं शताब्दी के पूर्व)
४—लंकावतार या सद्धर्म लंकावतार (४४३ ई० के पूर्व)
५—सुवर्ण प्रभास (४१४ ई०—४३३ ई०)
६—गंडव्यूह (चतुर्थ शताब्दी के पूर्व)
७—तथागत गुह्यक या तथागत गुणज्ञान (सप्तम शताब्दी)

१. ए हि. इं. लि., विंटरनित्स, वा. २, पृ. २६४-२६५।

८—दशभूमीश्वर (२६७ ई०)

इन नौ ग्रंथों को वैपुल्य सूत्र भी कहते हैं ।

महायान के सिद्धांतों के विवेचन की दृष्टि से 'सद्धर्म पुंडरीक' का प्रथम महत्व है। 'पुंडरीक' के बुद्ध देवाधिदेव से कम नहीं हैं, अनादि हैं, अनंत हैं, महाभिषग् हैं[10] । उनके पितृत्व और भिषगत्व दोनों का संयुक्त रूप एक सांकेतिक कथा में मिलता है । एक बार एक पिता, जो महाभिषग् थे, कुछ दिनों के लिये यात्रा पर चले गए । उनके सभी पुत्र इसी बीच रुग्ण हो गए । पिता ने लौटकर पुत्रों के लिये रसायन तैयार किया । उसका कुछ ने सेवन कर आरोग्यलाभ किया और कुछ ने उसका सेवन करना अस्वीकार कर दिया । शेष पुत्र भी औषधि ले लें, इसके लिये भिषग्राज कहीं दूर चले गए और यह प्रचारित कर दिया कि उनका देहांत हो गया । अंततः अत्यधिक पीड़ित होने पर उन पुत्रों ने भी पिता के निर्देश के अनुसार ही रसायन का सेवन कर स्वास्थ्यलाभ किया । बुद्ध भी इसी प्रकार ऊपर से निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं किंतु बार बार उपदेश देने के लिये लौटते हैं । पालिसूत्रों की तरह 'पुंडरीक' के बुद्ध उपदेश देते हुए स्थान स्थान घूमते नहीं अपितु गृध्रकूट पर्वत पर भिक्षुओं और भिक्षुणियों, बुद्धों, बोधिसत्वों, देवताओं, अर्द्धदेवताओं के विशाल समूह से आवृत होकर बैठते हैं । जब वे धर्मवर्षा की इच्छा करते हैं तो उनके दोनों भ्रवों के बीच की रोमावलि से प्रकाश-किरण फूटती है जिससे अठारह सहस्र बुद्धक्षेत्र, तन्निहित जीव, बुद्ध आदि सभी उससे प्रकाशित हो उठते हैं । पुंडरीक के बुद्ध शक्तिमान्, सिद्ध और

---

१०. यथा हि सो वैद्य उपायशिक्षितो विपरीत संज्ञिन् सुतान् हेतोः ।
जीवन्तम् आत्मानमृतेति भूयात् तम् वैद्यु विज्ञम् न मृषेण चोदयेत् ।।२०।।
यम् एव हम् लोकपिता स्वयम्भूः चिकित्सकः सर्वप्रजान् नाथः
विपरीत-मूढांश्च विदित्व बालान् अनिर्वृतो निर्वृत दर्शयामि ।।२१।।

—सद्धर्मपुंडरीक, १५. २०–२१ पृ. २७८ ।

ऐंद्रजालिक हैं जिनको भक्त श्रोताओं की इंद्रियों से क्रीड़ा करना अत्यधिक प्रिय है। कहा गया है कि जिसने बुद्ध के उपदेशों को सुना है, सत्कर्म किया है, आचारनिष्ठ जीवन बिताया है, वह बुद्ध हो सकता है। किंबहुना, जो लोग किसी प्रकार के स्तूप का, बुद्धमूर्ति का निर्माण करते हैं, भीतिचित्र खींचते हैं, स्तूपों पर पुष्पार्पण या सुगंधि का अर्पण करते हैं या उसके सामने गायन वादन करते हैं, वे जो अचानक बुद्ध के प्रति आदर की भावना कर लेते हैं, यहाँ तक कि वे बालक भी जो अनजान में या क्रीड़ा में बुद्ध के अंगों का आकार दीवालों पर खींच लेते हैं, सभी बोधि तक पहुँचते हैं[११]। यह तो एक प्रतीति मात्र है कि तीन यान (स्थविरयान या हीनयान, प्रत्येक बुद्धयान और बोधिसत्वयान या महायान) हैं, जिनके अनुगमन से निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। वास्तव में बुद्ध की करुणा ही है जो सभी लोगों को समान रूप से बोधि की प्राप्ति करा सकती है[१२]।

इस ग्रंथ में केवल महायान की उन विशेषताओं का ही परिचय नहीं मिलता, जो प्रथम शताब्दी तक महायान में समाविष्ट हो चुकी थीं, अपितु उस समय के बोधिसत्व अवलोकितेश्वर का भी परिचय मिलता है जो उस समय प्रधान उपास्यदेव के रूप में स्वीकार किए गए थे। इसमें बोधिसत्त्व का प्रशस्त गुणगान है।[१३] उस समय के महायानी स्तूपों और विहारों की वैभव संपन्नता और संपत्ति का भी वर्णन किया गया था। उसके विवरणों से स्पष्ट

---

११. इमे च ते श्रावक नायकस्य ये हि श्रुतम् शासनमेतदम्‌यम्।
एकापि गाथा श्रुत धारिता वा सर्वेषु बोधाय न संशयोऽस्ति॥

—सद्धर्मपुंडरीक, २. ५३–६६, पृ. ४२–५०।

१२. सद्धर्मपुंडरीक, ३; ए. हि. इं. लि, विंटरनित्स, वा. २, पृ. २९७–२९८ पर अनूदित कथा।

१३. सद्धर्मपुंडरीक, २४; ए हि० इं० लि०, विंटरनित्स, वा० २, पृ० ३०१।

है कि जिस महायान का यहाँ वर्णन किया गया है उसमें बुद्धपूजा और स्तूप-पूजा मान्य थी। इसके अनुसार बुद्ध की एक फूल की पूजा भी बुद्ध साक्षात्कार कराने में समर्थ है। केवल 'नमोस्तु बुद्धाय' मंत्र के उच्चारणमात्र से बोधिप्राप्ति संभव है।[१४]

'अवलोकितेश्वर गुणकरंडव्यूह' जैसे ग्रंथों में अवलोकितेश्वर की पुष्कल गुणगाथा उपलब्ध है। आदिबुद्ध की भी कल्पना की गई है, जो सृष्टिकर्ता हैं, स्वयंभू हैं। विंटरनित्स ने यह अनुमान किया है कि लगभग ५ वीं शताब्दी तक अवलोकितेश्वर की उपासना भारतवर्ष में प्रचलित हो चुकी थी क्योंकि फाह्यान (३९९ ई०) ने सिंहल से चीन लौटते समय तूफान से घिर जाने पर प्राणरक्षा के लिये बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर से प्रार्थना की थी। अवलोकितेश्वर की प्राचीनतम मूर्ति ५ वीं ईस्वी शताब्दी की है।[१५] बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर सभी प्राणियों को मुक्त करने के लिये, बुद्धत्व के योग्य होते हुए भी उसे अस्वीकार कर देते हैं। उनका उद्देश्य है—सभी प्राणियों के लिये निर्वाण सुलभ करना, सभी लोगों को सहायता देना, सभी प्रकार की विपत्तियों से उन्हें बचाना, अनंत करुणा की वर्षा करना, पाप से तनिक भी न डरना, नरक के द्वार पर भी न रुकना। अंतिम प्रतिज्ञा की व्याख्या में कहा गया है कि जीवों पर करुणा करने के लिये यदि बोधिसत्त्व को पाप या निषिद्ध या अकुशल कर्म भी करना पड़े तो उसे संकुचित न होना चाहिए। बोधिसत्त्व के लिये किसी को अप्रसन्न करने की अपेक्षा नरक भोगना अच्छा है।[१६] इस ग्रंथ के गद्यरूप का द्वितीय परिच्छेद तांत्रिक

---

१४. सद्धर्मपुंडरीक, २.९४-९६—पुष्पेण चैकेन च पूजयित्वा आलेख्यभित्तौ सुगतान् बिम्बान्। विक्षिप्तचित्ता पि च पूजयित्वा अनुपूर्व द्रक्ष्यन्ति ति बुद्धकोटयः ॥९४॥ पृ० ४९-५०।

१५. ए हि० इं० लि०, विंटरनित्स, वा० २, पृ० ३०६।

१६. वही, पृ० ३०७, पादटिप्पणि।

प्रभावापन्न है जिसका अनुवाद काल ६८०-१००१ ई० है। इसमें 'ओं मणिपद्मे हुं' जैसे तांत्रिक मंत्र भी हैं। ६ वर्णों के ज्ञान का गौरव गान भी है।

'सुखावती व्यूहों' में अवलोकितेश्वर के स्थान पर अमिताभ प्रतिष्ठित हैं। 'सुखावती व्यूह' महायानियों की स्वर्गकल्पना है। यह स्वर्ग बुद्ध अमिताभ या अमितायुस् का है। जिन लोगों ने बोधि के प्रति अपने विचारों को केंद्रित कर दिया है, प्रभूत सत्कर्म किया है, जो मृत्युसमय अमितायुस् का ध्यान करते हैं, वे सुखावती व्यूह में जाते हैं। यह स्वर्ग सत्कर्मों का पारितोषिक नहीं, अमितायुस् के नाम श्रवण और मृत्यु समय उनका ध्यान करने के फलस्वरूप प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'अमितायुर्ध्यान सूत्र' में अमिताभ के ध्यान के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले अलौकिक फलों का विवेचन है। इसके अनुसार अमितायुस् के ध्यानमात्र से कोई व्यक्ति सुखावती की प्राप्ति कर सकता है। 'सुखावती व्यूह' जिस प्रकार अमिताभ के स्वर्ग का वर्णन करते हैं, उसी प्रकार 'अक्षोभ्य व्यूह' बुद्ध अक्षोभ्य के लोक का वर्णन करता है।

इन सभी महायान सूत्रों के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि ५ वीं शताब्दी तक महायान में इन विचारों का बहुल प्रचार हो चुका था। स्तूपनिर्माण, मूर्तिस्थापन, स्तूप-मूर्ति—पूजा उपासना, ध्यान आदि आवश्यक पुण्य क्रिया कलापों में गिने जाते थे। स्वर्ग और नरक की कल्पना अधिक प्रगल्भ होकर पुराणों और तंत्रों के अनुसार ही चलने लगी थी। बुद्ध की अलौकिकता, बोधिसत्व की करुणा और अनात्मज्ञान को बहुलता से स्वीकार किया जाने लगा था। सिद्धियों का आरोप, अमिताभ, अक्षोभ्य, अवलोकितेश्वर जैसे अनेक देवताओं का निर्माण बहुत तेजी से हो रहा था। बुद्धों, बोधिसत्त्वों को महाभिषग्, पितृभावयुक्त, अलौकिक सिद्धिसंपन्न और ऐंद्रजालिक समझा जाने लगा था। करुणा संपादन की दृष्टि से बोधिसत्त्व के लिये पाप पुण्य में कोई भेद

नहीं था। सभी ग्रंथों ने मुक्तकंठ से बुद्धों और बोधिसत्त्वों का गौरववर्णन करने में तनिक भी संकोच नहीं किया है।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ ग्रंथ ऐसे हैं जो दार्शनिक दृष्टि से भी महत्व-पूर्ण हैं। प्रज्ञापारमिता ग्रंथों में षट्पारमिताओं का प्रभूत विवरण उपलब्ध होता है। बोधिसत्त्व बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व षट्पारमिताओं (६ प्रकार की पारमिताओं-पूर्णताओं) का अभ्यास करता है। दान, शील, क्षांति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा पारमिताओं में अंतिम श्रेष्ठतम है। इन ग्रंथों में प्रारंभिक पंचपारमिताओं की अपेक्षा प्रज्ञापारमिता का वर्णन अधिक विस्तृत है। शून्यता का ज्ञान ही प्रज्ञा या परम ज्ञान है। शून्यता का अर्थ है सभी पदार्थों की निस्सारता। कुछ पारमिता ग्रंथों में धारणियों की भी रचना की गई है। प्राचीनतम पारमिता ग्रंथ "अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता" में बारबार यह घोषणा की गई है कि सभी पदार्थ निस्सार हैं, शून्य हैं और यहाँ तक कि अंततः बुद्ध, बोधिसत्त्व, प्रज्ञा सभी शून्य हैं।[१७]

गंडव्यूह जैसे ग्रंथों में बोधिसत्त्व सिद्धांत की गुणगाथा है। बोधिसत्त्व वह है जो बोधिप्राप्ति के लिये कृतनिश्चय है। उसके जीवन का उद्देश्य है—जीवों के प्रति प्रेम और करुणा दिखाना, दुःख से उनकी निवृत्ति के लिये प्रयत्न करना, नरक को खाली करने के लिये तथा स्वर्ग का मार्ग दिखाने

१७. अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता—सं० राजेंद्रलाल मित्र, पृ० ३२१ आगे—"स्वयञ्च सर्व्वपापनिवृत्तौ स्थातव्यं दानं दातव्यं शीलं रक्षितव्यं क्षान्त्या सम्पादयितव्यं वीरमारब्धव्यं ध्यानं समापत्तव्यं प्रज्ञायां परिजयः कर्त्तव्योनुलोमप्रतिलोम प्रतीत्यसमुत्पादोव्यलोकयितव्योऽन्येषामपि तत्र समादापकेन तद्वर्ण्णवादिना तत्समनुज्ञेन च भवितव्यं एवं सत्त्येषु यावद्बोधिसत्त्वन्यामवक्रान्तौ सत्त्वपरिपाचने च स्थित्वाऽन्येषामपि तत्र समादापकेन तद्वर्ण्णवादिना तत्समनुज्ञेन च भवितव्यं।" (षोडष परिवर्त, पृ० ३२२)

के लिये उपदेश देना और प्रयत्न करना।[१८] दशभूमक या दशभूमीश्वर या दशभूमिक ग्रंथों में उन दशभूमियों का वर्णन है जिनमें बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। इसके वक्ता बोधिसत्त्व वज्रगर्भ हैं जो बुद्धों और बोधिसत्वों के समूह से घिरे हैं। रत्नकूट में बोधिसत्त्व और शून्यता के सिद्धांत की बारबार घोषणा की गई है।[१९] "सद्धर्मलंकावतार सूत्र" या "लंकावतार सूत्र" में शून्यवाद का परिष्कृत रूप उपस्थित किया गया है। समाधिराज में ध्यान और समाधि की सहायता से प्रज्ञाप्राप्ति का विधान किया गया है। किंतु इन दोनों के पूर्व बोधिसत्त्व के लिये संसारत्याग, जीवों के प्रति उदारता, सज्जनता, अपने जीवन और स्वास्थ्य के प्रति उदासीनता, शून्यता में पूर्ण विश्वास आवश्यक माने गए हैं। "शिक्षा समुचय" में औषधि के रूप में मांसभक्षण न्याय्य माना गया है।[२०] सुवर्णप्रभास जैसे ग्रंथ का महत्व आचार और दर्शन दोनों दृष्टियों से है। इस पर तंत्रों का प्रभाव अधिक स्पष्ट है। बोधिसत्त्वावस्था, बुद्ध की अलौकिकता, शून्यता सिद्धांत, मैत्री, पापादेशना आदि का सविस्तर वर्णन है। इस ग्रंथ में श्रीमहादेवी और देवीसरस्वती, दोनों ही ग्रंथ की महत्ता सिद्ध करने के लिये उपस्थित होती हैं। अनेक स्थानों पर तांत्रिक क्रियाओं की शिक्षा भी दी गई है। नारी शक्तियों में हारीति, चंडिका आदि का नाम भी आया है।[२१]

---

१८. गंडव्यूह, १०१ आगे, १२२, ३१० आगे; ए हि. इं. लि., विंटरनित्स, वा. २, पृ०. ३२६।

१९. ए हि० इं० लि० विंटरनित्स, वा. २, पृ० ३३०।

२०. शिक्षासमुचय, शांतिदेव, अँग्रेजी अनुवाद—सेसिल बेंडल, पृ० १३१-१३२—"बट दि ईटिंग आफ फ्लेश डेस्क्राइब्ड इन दि 'ज्ञानरवि परिपृच्छा' इज़ हार्मलेस, बिकॉज़ इट इज़ यूज़फुल फॉर ए ग्रेट एंड।" तथा आगे।

२१. सुवर्णप्रभास, सं० राय शरतचंद्र तथा पं० सरत्‌चंद्र शास्त्री, अथवा सुवर्ण प्रभास सूत्र—नंजिओ। चतुर्थ परिवर्त—पापादेशना।

ये ग्रंथ ५–७ वीं शताब्दी पूर्व के ही हैं। इनका जो समय यहाँ बताया गया है वह अधिकतर चीनी अनुवादों का समय है। मूलग्रंथों के निर्माण-काल का ठीक ठीक पता नहीं चलता। इन ग्रंथों के विवेचन से पता चलता है कि उस समय तक बोधिसत्त्व का सिद्धांत पूर्णतया मान्य हो गया था। बोधिसत्त्व के लिये प्रज्ञाप्राप्ति और करुणाप्रकाश आवश्यक था। बोधिसत्त्व में इन दोनों तत्वों को अनिवार्य रूप से माना जाता था। बोधिसत्त्व और करुणातत्व महायान को हीनयान से अलग करनेवाले हुए। अलग करने वाले सिद्धांतों का संबंध बुद्ध के व्यक्तित्व से भी है। हीनयानी उन्हें केवल महापुरुष के रूप में स्वीकार करते थे और लोकोत्तरवादियों ने उनसे आगे बढ़कर कहा कि बुद्ध लोकोत्तर पुरुष थे। वे केवल मानवीय अनुभवों को प्राप्त करने के लिये इस पृथ्वी पर अवतरित हुए थे। महासांघिकों ने आरंभ से ही उन्हें दैवी माना था। इन मतभेदों को और गंभीर करनेवाला एक और निर्वाणसंबंधी मत था। हीनयान वैयक्तिक निर्वाण का अभिलाषी और प्रयासी था जबकि महायान सामूहिक निर्वाण का। हीनयान और महायान के भेदक तत्वों का विवेचन विद्वानों ने बड़े विस्तार से किया है। जिन ग्रंथों का विवेचन यहाँ महायान की विशेषताओं को उद्घाटित करने के लिये लिया गया है, उनसे स्पष्ट है कि महायान में लगभग ५वीं शताब्दी तक बोधिसत्व, बुद्ध की अलौकिकता, मैत्री, करुणा, पापादेशना, शून्यता, प्रज्ञा, जीवों के लिये संसारत्याग, ध्यान, समाधि, शून्यवाद, दशभूमियाँ, स्वर्ग नरक की कल्पना, सुखावती, पारमिताएँ, अक्षोभ्य अमिताभ अवलोकितेश्वर जैसे देवता, हारीति चंडिका श्रीमहादेवी, देवीसरस्वती जैसी देवियाँ, स्तूपनिर्माण, मूर्तिस्थापना, स्तूप-मूर्ति-पूजा और उपासना, मंत्र, छः वर्ण, धारणियाँ, बुद्धभक्ति आदि विषय विशेष प्रिय हो चुके थे। इन विषयों से

षष्ठ परिवर्त—प्रतीत्य समुत्पाद तथा शून्यवाद।

तथा ए० हि० इं. लि., विंटरनित्स, वा. २,—'सुवर्ण प्रभास' परिचय प्रसंग।

स्पष्ट पता चलता है कि आचारसंबंधी (यथा—स्तूपपूजा, मूर्तिपूजा, पुष्पार्पण इत्यादि), साधनासंबंधी (यथा—षट्पारमिता, भक्ति, ध्यान, समाधि, करुणा, मैत्री, त्याग, पापादेशना) तथा दर्शनसंबंधी (यथा—प्रज्ञा, शून्यता, नैरात्म्य) सभी विषय अत्यधिक मान्य और प्रिय हो चुके थे।

---

५. महायान दर्शन

पूर्व परिच्छेद में कहा जा चुका है कि महायान धर्म प्रथम और द्वितीय शताब्दी तक अपने पूर्ण विकसित रूप को प्राप्त कर चुका था। लगभग दूसरी से पाँचवी शताब्दी तक इसमें गंभीरता आ गई, इसमें दार्शनिक विवेचन होने लगे जिससे इसकी धार्मिक भित्ति और भी सुदृढ़ हो गई। फलस्वरूप आगे चलकर भारत में जो बौद्ध धर्म रूपांतरित हुआ, उसमें उसके दार्शनिक सिद्धांत आंशिक परिवर्तन के साथ दिखाई देते हैं। इसलिये महायान के दार्शनिक पक्ष पर भी विचार करना आवश्यक है।

दार्शनिक दृष्टि से बौद्ध दर्शन के चार मत माने जाते हैं—

(१) सौत्रांतिक मत (२) वैभाषिक मत

(३) माध्यमिक या शून्यवादी मत (४) योगाचार या विज्ञानवादी मत। इनमें प्रथम दो हीनयान के अंतर्गत तथा अंतिम दो महायान के अंतर्गत माने जाते हैं। सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न निर्वाण का था जिस पर मतभेद होने पर महायान ने अपना पृथक् अस्तित्व स्थापित कर लिया। हीनयान के अनुसार निर्वाण की प्राप्ति के लिये व्यक्ति को इस प्रकार प्रयत्नशील होना चाहिए कि जिससे वह अपने को दुःख से आत्यंतिक रूप से निवृत्त कर सके। वह 'आत्म दीपो भव' के सिद्धांतों को माननेवाला है। अर्थात् हीनयानियों के लिये निर्वाण व्यक्तिगत आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति है जब कि दूसरी ओर महा-बुद्धत्वप्राप्ति के लिये केवल अपनी आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति नहीं मानता अपितु उसका उद्देश्य बोधिसत्त्वभूमियों का क्रमिक भेदन करते हुए उस परमज्ञान की प्राप्ति है जिससे वह कृतार्थ व्यक्ति दुःख से सभी व्यक्तियों को आत्यंतिक रूप से निवृत्त कर सके। निर्वाण की उपलब्धि तब तक स्वीकार्य नहीं है जब तक सभी प्राणी दुःख से निवृत्त न हो जायँ। तात्पर्य

यह कि महायान प्राणियों की सामूहिक दुःखनिवृत्ति को अपना उद्देश्य मानता है। शुद्ध दर्शन की दृष्टि से हीनयान जैनमत की तरह शुद्ध निरीश्वरवादी मत है। महायान मत एक प्रकार से ईश्वरवादी है। वह बुद्ध को अलौकिक पुरुष, अवतार के रूप में स्वीकार करता है। जगत् की सत्ता को लेकर जो प्रश्न उठते हैं, उनके विषय में मतभेद होने के कारण बौद्ध दर्शन के उपरोक्त चार मत बने। जगत् के पदार्थों को हम प्रत्यक्ष करते हैं अतः उन्हें असत्य नहीं माना जा सकता। इस मत को माननेवाले वैभाषिक कहलाए। बाह्यार्थ को प्रत्यक्षसिद्ध न मानकर अनुमेय माननेवाले सौत्रांतिक कहलाए। बाह्य भौतिक जगत् को पूर्णतया मिथ्या स्वीकार कर चित्त या विज्ञान को ही एकमात्र सत्य माननेवालों को विज्ञानवादी कहा गया। बाह्यार्थ और चित्त या विज्ञान दोनों को असत्य माननेवाला तथा जागतिक पदार्थों की निस्सारता (शून्यता) या सद्भाव की शून्यता को सत्य माननेवाला मत माध्यमिक या शून्यवादी मत के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[1]

पं० बलदेव उपाध्याय ने केवल वैभाषिक को छोड़कर शेष तीन को महायान के अंतर्गत स्वीकार किया है।[2] उनका तर्क यह है कि सत्ताविषयक

---

१. मानमेयोदय—नारायणरचित, सं० सी० कुन्हन राजा तथा एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री, पृ० ३००—'एते चत्वारोऽपि बुद्धशिष्याः। एष च तेषां सिद्धांतसंक्षेपश्लोकः—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते ॥३१॥

२. भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० १९७।
बौद्ध दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० १९१।

प्रश्न पर मतभेद होने पर भी सौत्रांतिक, माध्यमिक और योगाचार, महायान के सम्मत सिद्धांतों के अनुयायी हैं। तत्वसमीक्षा की दृष्टि से वैभाषिक एक छोर पर आता है तो योगाचार माध्यमिक दूसरी छोर पर टिका हुआ है। सौत्रांतिक का स्थान इन दोनों के बीच का है क्योंकि कतिपय अंशों में वह सर्वास्तिवाद का समर्थक है, पर अन्य सिद्धांतों में वह योगाचार की ओर झुकता है।[३]

बौद्ध दार्शनिक मतों का यह विभाजन आस्तिक दार्शनिक ग्रंथों में उपलब्ध होता है। बौद्धों की दृष्टि से उनके यहाँ तीन यान प्रचलित हैं—श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान और बोधिसत्त्वयान। इनमें से प्रत्येक साधना और मुक्ति या बोधि की कल्पना के संबंध में मतभेद रखते हैं। बुद्ध के बताए हुए मार्ग पर चलकर बोधि प्राप्त करानेवाला श्रावकयान कहलाता है। बुद्ध ने चार आर्यसत्यों का उपदेश दिया था। इन आर्यसत्यों के साक्षात्कार की साधना हीनयान, श्रावकयान में गृहीत है। प्रत्येकबुद्धयान की साधना प्रतीत्यसमुत्पाद के साक्षात्कार की साधना है। यह यान मानता है कि बुद्धत्व की प्राप्ति अपनी ही चेतना से संभव है। बिना गुरूपदेश के ही वह प्रज्ञा की उपलब्धि कर सकता है। यह भी वैयक्तिक निर्वाण या आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति को श्रेयस् मानता है। बुद्धत्व की प्राप्ति हो जाने पर भी उसमें दूसरे का उद्धार करने की शक्ति नहीं रहती। वह दुःखों से निवृत्त होकर शांत जीवन व्यतीत करता है। बोधिसत्त्वयान की विशेषताओं का पुष्कल विवेचन (चतुर्थ परिच्छेद में) उपस्थित किया जा चुका है। इन तीन यानों का विस्तृत विवेचन यहाँ उपस्थित न कर यह कह देना आवश्यक है कि इस विभाजन में धार्मिक और साधनात्मक दृष्टि प्रधान दिखाई देती है। वैभाषिकादि का जो विभाजन ऊपर उपस्थित किया गया है, वह भारतीय दार्शनिकों

३. भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० १९७।

और आचार्यों द्वारा पूर्णतया स्वीकृत है। अतः यहाँ उसी विभाजन को ध्यान में रखकर महायान के दार्शनिक मतों का परिचय उपस्थित किया जा रहा है।

१. माध्यमिक मत या शून्यवाद

इस मत के प्रधान आचार्य नागार्जुन हैं। इन्होंने अपने 'माध्यमिक शास्त्र' या 'माध्यमिक कारिका' में माध्यमिक मत तथा शून्यवाद का पूर्ण पोषण किया है। इसके अतिरिक्त नागार्जुन के प्रसिद्ध ग्रंथ हैं—प्रज्ञापारमिता सूत्र, दशभूमिविभाषाशास्त्र (दशभूमि सूत्र की वृत्ति)। ग्रंथों के विषय से स्पष्ट है कि नागार्जुन की दृष्टि से महायान के तीन विचारस्तंभ हैं—शून्यवाद, पारमिताएँ तथा दशभूमियाँ। विंटरनित्स ने नागार्जुन के माध्यमिक शास्त्र, प्रज्ञापारमितासूत्र शास्त्र, युक्तिषष्टिका, शून्यता सप्तति, प्रतीत्यसमुत्पादहृदय, महायानविंशिका, विग्रहव्यावर्तिनी, दशभूमिविभाषाशास्त्र, एकश्लोक शास्त्र ग्रंथों का विवेचन किया है[४]। शुद्ध दार्शनिक विवेचन के लिये इनमें से प्रतीत्यसमुत्पादहृदय, शून्यतासप्तति, माध्यमिक शास्त्र, युक्तिषष्टिका तथा विग्रहव्यावर्तनी विशेष महत्वपूर्ण हैं।

नागार्जुन का शून्यवाद बुद्ध के प्रतीत्यसमुत्पाद का ही विकसित और तर्कप्रतिष्ठित रूप है। नागार्जुन ने स्वयं शून्यवाद को प्रतीत्यसमुत्पादवाद माना है[५]। इसी को नागार्जुन ने मध्यम मार्ग भी माना है। अतः नागार्जुन के शून्यवाद के विवेचन के लिये बुद्ध के प्रतीत्यसमुत्पाद का विवेचन आवश्यक है।

---

४. ए हि. इं. लि., विंटरनित्स, वा. २, पृ. ३४१–३४८।

५. मूलमाध्यमिककारिका—नागार्जुन, (चंद्रकीर्ति की वृत्ति सहित), २४.१८—

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा॥

—महायान–भदंत शांतिभिक्षु, पृ. ९९।

चंद्रकीर्ति के अनुसार 'प्रतीत्यसमुत्पाद' पद में 'प्रतीत्य' शब्द 'ल्यबन्त' है या ल्यप् प्रत्ययांत है। ल्यप् पूर्वकालिक क्रिया का प्रत्यय है और साथ ही प्राप्त्यर्थक या अपेक्षार्थक है। समुत्पाद शब्द की निष्पत्ति प्रादुर्भावार्थक 'पदि' धातु से हुई है। 'सम्' और 'उत्' ये दोनों उपसर्ग हैं। इस प्रकार यह समुत्पाद शब्द प्रादुर्भावार्थक है। सब मिलाकर 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का शब्दार्थ है—"हेतु और प्रत्यय की अपेक्षा कर भावों की उत्पत्ति।"[६] कुछ विद्वानों ने इसी को सापेक्षकारणतावाद कहा है। "अस्मिन् सति इदं भवति"[७]—बुद्ध के इस वचन की व्याख्या करते हुए चंद्रकीर्ति, प्रतीत्यसमुत्पाद पर ही पहुँचे हैं।[८] उनका कहना है कि 'इसके रहने पर यह होता है।' अथवा, इसकी उत्पत्तिवश इसकी उत्पत्ति होती है। प्रत्ययार्थ प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है।

"प्रत्यय" और "हेतु" शब्द समानार्थक नहीं। "प्रत्यय से उत्पाद" (प्रतीत्य से उत्पाद) का अर्थ है बीतने से उत्पाद—अर्थात् एक के बीत जाने पर या नष्ट हो जाने पर दूसरे की उत्पत्ति होती है "बुद्ध का प्रत्यय ऐसा हेतु है जो किसी वस्तु या घटना के उत्पन्न होने से पहिले क्षण सदा लुप्त होते देखा जाता है। प्रतीत्य समुत्पाद कार्यकारण को अविच्छिन्न नहीं, विच्छिन्न

---

६. मूलमाध्यमिककारिकावृत्ति, चंद्रकीर्ति, पृ० ५।

७. मज्झिम निकाय, भाग १, पृ० २६२-२६३, १४. ८—
"(इति) अस्मिन् सति इदम् होति, इमस्स उप्पादा इदम् उप्पज्जति।"

८. मूलमाध्यमिककारिकावृत्ति, चंद्रकीर्ति, पृ० ५—
"प्रतीत्य शब्दो ल्यबन्तः प्राप्तावपेक्षायां वर्तते। पदि प्रादुर्भावे इति समुत्पाद शब्द प्रादुर्भावेऽर्थे वर्तते। ततश्च हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्य समुत्पादार्थः।...अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादयमुत्पद्यते इति इदं प्रत्ययार्थं प्रतीत्यसमुत्पादार्थम्।"

प्रवाह बतलाता है।"[९] जैसा ऊपर कहा गया है, नागार्जुन ने शून्यता के दो नाम और दिए हैं--उपादायप्रज्ञप्ति और मध्यमा प्रतिपद। उपादाय प्रज्ञप्ति का अर्थ है--प्रत्येक प्रज्ञप्ति (या व्यवहार) अपने आप में अकेली नहीं हुआ करती है, अन्य सबको लेकर ही उसकी स्थिति रहती है। उनमें सापेक्षता रहती है। भदंत शांतिभिक्षु ने भाव और अभाव के बीच या शाश्वत और उच्छेद के बीच की राह को मध्यमा प्रतिपद कहा है। अन्यत्र कहा गया है कि कामभोग और बेकार की आत्मपीड़ा, इन दोनों किनारों (या अंतों) का सेवन प्रव्रजितों को न करना चाहिए। चार आर्यसत्यों (दुःख, दुःख-समुदय, दुःखनिरोध या दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद) में से अंतिम विशेष महत्वपूर्ण है।[१०] प्रतिपद का अर्थ मार्ग है। निर्वाण ही गंतव्य स्थान है। यह मार्ग आठ अंगों से युक्त है! अर्थात् अष्टांगिक मार्ग या दुःखनिरोध-गामिनी प्रतिपद ही निर्वाण मार्ग है। इस मार्ग के आठ अंग निम्नलिखित हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मांत, सम्यक् आजी-विका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, तथा सम्यक् समाधि। यही बौद्ध धर्म की आचार मीमांसा का चरम साधन है। सम्यक् का अर्थ है ठीक, साधु, शोभन। किसी भी वस्तु के प्रति अत्यधिक राग, अत्यधिक द्वेष या त्याग, सभी अनुचित हैं। इन दोनों अतियों के बीच ही सत्य रहता है। दार्शनिक दृष्टि से जागतिक पदार्थों को न सत् कहा जा सकता है न असत् और न उनके विषय में शाश्वतवाद या उच्छेदवाद की ही स्थापना की जा सकती है और इसीलिये इस मत को माध्यमिक मत कहा जाता है।[११]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि प्रतीत्यसमुत्पाद परिवर्तनशीलता एवं सकारणता का सिद्धांत है। माध्यमिक कारिका में स्पष्ट रूप से कहा गया

९. बौद्ध दर्शन, राहुल सांकृत्यायन, पृ० २३।

१०. महायान, भदंत शांतिभिक्षु, पृ० ९९।

११. ए हि० इं० फि, सुरेंद्रनाथ दासगुप्त, वा० १, पृ० १४३।

है कि "कर्म, कर्म करनेवाले के बिना नहीं हो सकता। जब कर्म होता है तब कर्म करनेवाला भी होता है। अतः कर्म और उसका करनेवाला अर्थात् कर्ता अपनी अपनी अपनी सिद्धि के लिये एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। प्रत्येक पदार्थ का यही हाल है। सब की सत्ता सापेक्ष ही है।[१२] ललित-विस्तर में इसी सापेक्षता को बीजांकुरन्याय से समझाया गया है। बीज होने पर ही अंकुर होता है, पर बीज ही अंकुर नहीं है और बीज से पृथक् अथवा उससे भिन्न कुछ और वस्तु भी अंकुर नहीं है। अतः बीज शाश्वत, स्थिर, टिकाऊ या नित्य नहीं है क्योंकि अंकुर रूप में परिवर्तन देखा जाता है। यह उच्छिन्न या नष्ट भी नहीं होता क्योंकि अंकुर, बीज का ही तो रूपांतर है।[१३] तात्पर्य यह कि प्रत्येक वस्तु का अपना कारण होता है। कार्य, कारण से न तो अन्य या भिन्न होता है और न अनन्य या अभिन्न ही। यदि कार्य, कारण से अन्य होता तो कारण का उच्छेद मानना पड़ता। यदि कार्य अनन्य अभिन्न अर्थात् कारणरूप होता तो उसे शाश्वत या नित्य मानना पड़ता। इसलिये संसार के किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं, स्वभाव नहीं। सभी पदार्थ अपनी सत्ता के लिये कारण के ऊपर अवलंबित होते हैं। वस्तु का अकृत्रिम स्वरूप ही परमार्थ है। कार्यकारण से निरपेक्ष

---

१२. मूलमाध्यमिककारिकावृत्ति, चंद्रकीर्ति, पृ० १८९-१९०, श्लो० १२-१३—

प्रतीत्यकारकः कर्म कर्म तं प्रतीत्यकारकं।
कर्मप्रवर्तते नान्यत्पश्यामः सिद्धिकारणं ॥१२॥
एवं विद्यादुपादानं व्युत्सर्गादिति कर्मणः।
कर्तुश्च कर्मकर्तृभ्यां शेषान्भावान् विभावयेत् ॥१३॥

१३. मूलमाध्यमिककारिकावृत्ति, पृ० २६, १०८—

बीजस्स सतो यथाङ्कुरो न च यो बीजु स चैव अङ्कुरो।
न च अन्य ततो न चैव तदेवमनुच्छेद अशाश्वत धर्मता ॥

तथा—शिक्षासमुच्चय, अंग्रेजी अनुवाद, पृ० २२२, परि० १३।

होना ही स्वभाव है। समस्त प्रतीत्यसमुत्पन्न पदार्थों की स्वभावहीनता ही वस्तुओं का स्वभाव है, पारमार्थिक रूप है। इसके अतिरिक्त संसार के पदार्थों के कारण से उत्पन्न होने से उन्हें हम ऐकांतिक असत् भी नहीं कह सकते और सापेक्ष होने के कारण उन्हें हम ऐकांतिक सत् भी नहीं कह सकते। अतः उनके स्वभाव का निर्णय मध्यमबिंदु पर ही होगा, जो स्वयं शून्यरूप है। माध्यमिककारिका में इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है—

अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता शुद्धी अशुद्धीति उभेऽपि अन्ता।
तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पण्डितः॥[१४]

शून्यवाद पारमार्थिक सत्ता का निषेधात्मक (या ऋणात्मक) वर्णन करता है। परमार्थ सत्य को देखने का यह शून्यवाद निषेधात्मक दृष्टिकोण है। लंकावतारसूत्र में (माधवाचार्य द्वारा सर्वदर्शनसंग्रह में उद्धृत) कहा गया है कि पदार्थों का स्वभाव (स्वतंत्र रूप) बुद्धिग्राह्य नहीं है। अतः उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जो कुछ भी सत् है उसे अपने से भिन्न किसी वस्तु पर अपनी उत्पत्ति और सत्ता के लिये अवलंबित नहीं होना चाहिए। किंतु हमारे ज्ञान में जितनी वस्तुएँ हैं, वे सभी किसी न किसी अन्य वस्तु पर आश्रित हैं। इसीलिये उन्हें सत् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक वायवीय गृह की तरह कोई भी असत् वस्तु कभी भी अस्तित्व में नहीं आ सकती। यह कहना कि यह वस्तु सत् और असत् दोनों है, या न सत् है न असत् है—बुद्धि विरुद्ध और अनर्गल होगा।[१५] शून्यता इन

१४. मूलमाध्यमिककारिकावृत्ति, पंचम प्रकरण, पृ० १३५।
१५. सर्वदर्शनसंग्रह, द्वितीय परिच्छेद, बौद्ध दर्शनम्। पृ० ११–१२।

बुद्ध्या विविच्यमाननां स्वभावो नावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च दर्शिताः॥
इदं वस्तुबलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।
यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा॥

वस्तुओं के अनिर्णेय और अनिर्वचनीय स्वभाव का नाम है। वस्तुएँ सत्तात्मक प्रतीत होती हैं किंतु जब हम उनके स्वतंत्र रूप या स्वभाव (या वास्तविक रूप) को जानने का प्रयत्न करते हैं तो हमारी बुद्धि भ्रमित हो जाती है और हम न उन्हें सत् कह पाते हैं, न असत्, न दोनों और न दोनों से रहित ही कह पाते हैं। तात्पर्य यह कि वस्तुओं का स्वभाव या शून्यता इन चारों कोटियों से परे है, मुक्त है।[१६]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि शून्यवाद को दो प्रकार का सत्य मान्य है। एक तो वह जो इन चारो कोटियों में वर्णित हो जाता है और दूसरा उनसे परे। सभी प्रकार के पदार्थों के पीछे एक सर्वातिरिक्त अज्ञेय तत्व है जो परिवर्तन, आश्रिति और पदार्थ धर्मों से परे है। इन्हीं दो प्रकार के सत्यों को नागार्जुन ने क्रमशः संवृति सत्य और परमार्थ सत्य कहा है। संवृतिसत्य अविद्याजनित व्यावहारिक सत्य है और परमार्थसत्य प्रज्ञाप्राप्त सत्य है। बुद्ध ने दोनों प्रकार के सत्यों का उपदेश दिया है। दुःख, दुःखसमुदय और दुःखनिरोध, ये तीनों ही संवृतिसत्य के अंतर्गत आते हैं और दुःख-निरोधगामिनीप्रतिपद या निर्वाण परमार्थसत्य के अंतर्गत आता है। संवृतिसत्य परमार्थसत्य की सीढ़ी है। हमारे संकल्पों का कारण प्रपंच है। प्रपंच का निरोध शून्यता या सर्वधर्मनैरात्म्यज्ञान में होता है। यह शून्यता मोक्षोपयोगिनी है। शून्यता के ही ज्ञान से योगी को सद्यः निर्वाण की प्राप्ति होती है। इसीलिये सब प्रपंचों से निवृत्ति उत्पन्न करने के कारण ही शून्यता निर्वाण है। यह शून्यता आध्यात्मिक साधना के लिये सर्वाधिक महत्व-पूर्ण है।[१७]

---

१६. मूलमाध्यमिककारिकावृत्ति, १.७, पृ० ८३—

न सन्नासन्न सदसद्धर्मो विवर्तते यद् ।
कथं निर्वर्तको हेतुरेव हि युज्यते ॥७॥

१७. कर्मक्लेशक्षयान्मोक्षः कर्मक्लेशाः विकल्पतः ।

स्पर्श है। मन के संनिकर्ष में आने पर इंद्रियों का संपर्क जब विषयों से होता है, तब स्पर्श की उत्पत्ति होती है। सुख दुःख की अनुभूति का नाम ही वेदना है। इस वेदना का कारण स्पर्श है। वेदना से तृष्णा की उत्पत्ति होती है। किसी विशेष सुख को या सुखकर वस्तु को या भाव को प्राप्त करने की इच्छा ही तृष्णा है। इसी तृष्णा से उपादान या आसक्ति की उपलब्धि होती है। स्त्री, व्रत और आत्मनित्यता के प्रति आसक्ति को ही उपादान के तीन प्रकार कह सकते हैं। वस्तु या भाव के प्रति आसक्ति के कारण, उसकी उपलब्धि के लिये अनेक कुशल अकुशल कर्म किए जाते हैं। इन्हीं कर्मों को भव कहते हैं।[२२]

अविद्या से लेकर भव तक की अवस्थाएँ वर्तमान सांसारिक जीवन की अवस्थाएँ हैं जिनमें भविष्य जन्म के निदान घटित होते हैं। इस अवस्था में पाँच स्कंधों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) का पूर्ण संघटन रहता है। भव अवस्था वह अवस्था है जिसमें स्कंधों के बिखर जाने पर उन स्कंधों के पुनः संघटित होने की शक्ति रहती है। 'भव पाँच स्कंधों की वह अवस्था है जिसमें अगले जीवन के शुरू होने की योग्यता है।' निष्कर्ष यह कि जीवन को आरंभ करनेवाले हैं अविद्या और संस्कार, जीवन का संचालन करनेवाले हैं तृष्णा और उपादान तथा एक जीवन के बाद दूसरे जीवन को आरंभ करनेवाला है भव। ये तीनों पंचस्कंधों की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। यह भव ही, शरीर रूप में विकसित पाँचों स्कंधों को, उनके बिखर जाने पर फिर शरीर में विकास के योग्य पाँच स्कंधों का रूप देता है। अनेक प्रकार के

---

२२. अभिधर्मकोष, ३.२३-२४--

विक्तिः प्राङ्मैथुनात्; तृष्णा भोग-मैथुन रागिणः।
उपादानं तु भोगानां प्राप्तये परिधावतः ॥२३॥
स भविष्यद्भवफलं कुरुते कर्म तद्भवः।
प्रतिसन्धिः पुनर्जातिः जरामरणं आविदः ॥२४॥

कुशल अकुशल कर्मों के करने के फलस्वरूप जन्म की उपलब्धि होती है और जन्म का परिणाम है जरा और मरण, जो स्वयं अपने में ही घोर दुःख हैं। ऐसी स्थिति में अविद्या से संस्कार और संस्कार से विज्ञान कार्यरूप में होते हैं। यदि विज्ञान सांसारिक जीवन का द्वार है तो भव भविष्यत् जीवन का। अतः भव के निरोध के लिये विज्ञान निरोध या संयम आवश्यक है। द्वादश निदानों के विज्ञान के इस विवेचन से विज्ञानवादी विज्ञान को समझने में सरलता होगी।

विज्ञानवाद विज्ञान या चित्त को सत् मानता है। चित्त या विज्ञान के अतिरिक्त संसार के सभी पदार्थ इस मत की दृष्टि में असत् हैं। नागार्जुन के शून्यवाद से तुलना करने से यह स्पष्ट होता है कि शून्यवाद जहाँ संसार के सभी पदार्थों, चित्त और पंचस्कंधों—सभी को शून्य मानता है, वहीं विज्ञानवाद केवल विज्ञान को सत् मानता है। इन विज्ञानवादियों का कहना है कि जिस चित्त के द्वारा जगत् के समस्त पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है और जिसके ज्ञान के आधार पर हम वाह्यार्थ (वाह्य पदार्थ) को असत् समझते हैं, कम से कम उस विज्ञान को तो सत्य मानना ही होगा अन्यथा शून्यता की भी सिद्धि नहीं हो पायेगी। विज्ञान (चित्त, मन और बुद्धि) को सत्य मानने के कारण ही इस मत का नाम विज्ञानवाद पड़ा।

यह मत चित्त से ही संपूर्ण जगत् का प्रवर्तन मानता है। चित्त के ही निरोध से जगत् का निरोध होता है। लंकावतार सूत्र में कहा गया है—

चित्तं प्रवर्तते चित्तं चित्तमेव विमुच्यते।
चित्तं हि जायते नान्यचित्तमेव निरुध्यते ॥[२३]

चित्त की महत्ता स्वीकार करने में विज्ञानवादियों का मत हीनयानी सौत्रांतिकों से मिलता है। सौत्रांतिकों की दृष्टि में वाह्यार्थ की सत्ता अनुमान-

---

२३. लंकावतार सूत्र, गाथा १४५; बौद्धदर्शन–बलदेव उपाध्याय, पृ० २८१।

गम्य है, प्रत्यक्षगम्य नहीं। जिस प्रकार दीपक स्वयं अपने को जानता है, उसी प्रकार संवेदन (दुःखसुख की अनुभूति) भी स्वयं अपने को जानता है। अर्थात् सौत्रांतिकों की दृष्टि में विज्ञान स्वयंप्रकाश है। उसी की सहायता से बाह्यार्थों की स्थिति का अनुमान होता है। विज्ञानवादी बाह्यार्थों की सत्ता को नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है कि यदि सौत्रांतिक बाह्यार्थों की सत्ता चित्त या विज्ञान पर अवलंबित स्वीकार करते हैं तो उस चित्त को ही सत्य मानना चाहिए, क्योंकि बाह्यार्थों के अनुपस्थित रहते हुए भी चित्त उपस्थित रहता है। उसे अपनी स्थिति के लिये बाह्यार्थों की स्थिति की आवश्यकता नहीं रहती। जगत् के पदार्थ मायामरीचिका सदृश हैं, निःस्वभाव (स्वतंत्र अस्तित्वहीन) हैं। विज्ञान के सत् होने के कारण यह बाह्य पदार्थों के अवलंबन के बिना भी सत्तावान् है। वह निरालंब है। इस सिद्धांत के आधार पर विज्ञानवादियों को निरालंबनवादी कहा जाता है।

केवल चित्त ही सत् है और सभी पदार्थ असत् हैं। बाह्यार्थ विज्ञान से भिन्न नहीं होते। किसी भी पदार्थ का रूप हमारी इंद्रियों से एक ही समय गृहीत नहीं हो पाता। बाह्य जगत् में उनकी सत्ता आंशिक होती है। इसे सिद्ध करने के लिये विज्ञानवाद का यह कथन है कि सभी पदार्थ या तो अणुमात्र हैं या अणुओं के संघात। अणु इतना सूक्ष्म होता है कि हम उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। घट आदि का—जो अणुओं के संघात हैं—कभी भी हमें पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष नहीं होता। उसके एक एक भाग को देखकर भी हम उसका पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, क्योंकि यदि कोई भाग अणुमात्र है तो अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण उसका प्रत्यक्ष असंभव है और यदि वह अणुओं का संघात है तो फिर वही कठिनाई उत्पन्न होगी। अतः मन के बाहर किसी भी वस्तु का अस्तित्व संभव नहीं। यदि यह मान लिया जाय कि कोई भी बाह्यार्थ तत्संबंधी ज्ञान से भिन्न नहीं है तो कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होगी, क्योंकि मानसिक ज्ञान में खंड तथा पूर्ण का प्रश्न नहीं उठता। इसके अतिरिक्त, विज्ञानवादी यह मानते हैं कि वस्तुएँ प्रतिक्षण परिवर्तन-

शील हैं अतः ज्ञान और ज्ञेय वस्तुएँ एककालिक नहीं हो सकतीं। किसी भी वस्तु का ज्ञान तब तक संपन्न नहीं हो सकता जब तक उसकी उत्पत्ति न हो जाय। अतः वस्तु की उत्पत्ति के पहले ज्ञान असंभव है। उत्पत्ति के बाद भी उसका पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता, क्योंकि उसकी उत्पत्ति के साथ नाश-क्रिया भी आरंभ होती है। यह भी संभव नहीं कि वस्तु का ज्ञान एक ही क्षण में संपन्न हो जाय, क्योंकि बाह्यवस्तुवादी लोग वस्तु को ज्ञान का कारण मानते हैं। कार्य और कारण दोनों ही एक समय में स्थिर नहीं रह सकते। अतः इनमें से किसी न किसी को सार्वकालिक मानना होगा, जो कार्य–कारण–शृंखला से मुक्त हो। यह भी कहा जा सकता है कि वस्तु के नष्ट हो जाने के बाद ही उसका ज्ञान होता है। यह भी असंभव है, क्योंकि जो वस्तु नष्ट हो चुकी है उसका ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। चित्त को यदि सत् और सभी बाह्यार्थों को असत् मान लिया जाय तो ये सभी कठिनाइयाँ दूर हो जाएँगी। योगाचारभूमि में स्पष्ट रूप से रूप (मैटर), वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान (मनोविज्ञान आदि) इन पाँच स्कंधों के भास को भ्रममात्र स्वीकार किया गया है। वस्तुतः वे फेन, बुलबुले, मृगमरीचिका, कदलीगर्भ तथा माया की भाँति निस्सार हैं।[२४]

इस स्थापना पर विरोधियों ने कई आक्षेप किए हैं। यदि विज्ञान या चित्त ही सत् है, वह अपनी स्थिति के लिये स्वतंत्र है, सत्स्वभाव है तो वह द्रष्टा चित्त अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी समय किसी भी पदार्थ को उपस्थित क्यों नहीं कर पाता है? उसकी इच्छानुसार ही पदार्थों में आविर्भाव–तिरोभाव–परिवर्तन क्यों नहीं होता?

विज्ञानवादियों ने यह उत्तर दिया है कि यह चित्त एक प्रवाह है। इस प्रवाह में अतीत के क्षणिक ज्ञानों के संस्कार निहित रहते हैं। परिस्थिति के

---

२४. योगाचारभूमि–असंग, ११–चिंतामयीभूमि। द्रष्टव्य, बौद्ध दर्शन–रा० सांकृत्यायन, पृ० ८४।

अनुकूल होने पर किसी विशेष क्षण में वही अतीत ज्ञान प्रादुर्भूत होता है। चित्त सभी अतीत संस्कारों का आलय है। इसीलिये वह आलयविज्ञान कहलाता है। तात्पर्य यह है कि इसमें सभी ज्ञान बीजरूप में निहित रहते हैं। परिस्थिति के अनुकूल होने पर यही विकसित होता है। यह चित्त परिवर्तनशील चित्तवृत्तियों का प्रवाह है। त्रिंशिका कारिका में वसुबंधु ने इस आलयविज्ञान की वृत्ति को जल के ओघ के समान बतलाया है।[२५]

इसी चित्त को मन, विज्ञप्ति, शून्यता, निर्वाण, धर्मधातु आदि नामों से भी पुकारा गया है।[२६] यही चित्त आलय-विज्ञान कहा जाता है। कुछ अलग अलग विशेषताओं के कारण इसके नाम भिन्न भिन्न हैं। मनन क्रिया करने से मन, चेतन क्रिया से संपन्न होने के कारण चित्त तथा वस्तुओं, पदार्थों के ग्रहण करने में कारणभूत होने से इसे विज्ञप्ति या विज्ञान कहते हैं। संस्कारों के संगृहीत होने तथा विश्व के सभी पदार्थों के इसी से उत्पन्न और इसी में लय होने से इस विज्ञान की तुलना द्वादशांगों के विज्ञान से की जा सकती है। विज्ञान की अवस्था के बाद ही प्राणी का सांसारिक जीवन आरंभ होता है। द्वादशांगों के विज्ञान में भी संस्कार एकत्रित रहते हैं। इस विज्ञानावस्था के बाद सूक्ष्म शरीरादि, मन, इंद्रियादि, स्पर्श, वेदना आदि की उत्पत्ति होती है जिसका संक्षिप्त वर्णन ऊपर प्रस्तुत किया जा चुका है। विगत जीवनों का संस्कार एकत्रित कर भावी जीवन के निर्माण का कार्य यह विज्ञान ही

---

२५. त्रिंशिका कारिका–वसुबंधु, का० ४, पृ० २१-२२। बौद्धदर्शन–पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० २९०।

२६. लंकावतार सूत्र, ३.४०; बौद्धदर्शन–पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० २८१ पर उद्धृत –

चित्तं मनश्च विज्ञानं संज्ञा वैकल्पवर्जिताः।
विकल्पधर्मतां प्राप्ताः श्रावका न जिनात्मजाः॥

करता है। इसके अनेक रूप इसकी महत्ता और विकास को निरूपित करते हैं।[२७]

विज्ञानवाद की दृष्टि में आलयविज्ञान ही ग्राह्य भी है, ग्राहक भी। वह विभिन्न रूपों को धारण करता है। ग्राह्य अर्थात् विश्व तो उसी का चित्र है।[२८] ग्राह्य या विश्व के पदार्थों या बाह्यार्थों की असत्ता की सिद्धि उपस्थित की जा चुकी है। वे बाह्यार्थ सत्य नहीं है, उनके संस्कारों को सतत धारण करनेवाला सत्य है। यह विज्ञान ही अवस्था के अनुसार आठ प्रकार का माना गया है—पंचज्ञानेंद्रियों का विज्ञान, मनोविज्ञान, क्लिष्टमनोविज्ञान और आलयविज्ञान। मनोविज्ञान पंच ज्ञानेंद्रियों द्वारा उपस्थित किए गए विचारों का मनन करता है। प्रत्ययों के परस्पर विभेद और विवेचन का कार्य क्लिष्ट मनोविज्ञान करता है। अहंकार की मात्रा अधिक होने के कारण इस विज्ञान में निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। आलय विज्ञान में जगत् के समग्र धर्मों, पदार्थों के बीज निहित रहते हैं, उत्पन्न होते हैं तथा विलीन हो जाते हैं।[२९] यह विज्ञान हेतुरूप है और समग्र धर्म फलरूप हैं। आलयविज्ञान में अंतर्निहित बीजों के फल वर्तमान संस्कार के रूप में लक्षित होते हैं। समग्र संसार का अनुभव हमें आलय विज्ञान के पूर्ववर्णित विज्ञानों से होता है। वे विज्ञान उन्हीं पूर्वकालीन बीजों से उत्पन्न होते हैं। प्राप्त होनेवाले वर्तमान संस्कारों से नवीन बीजों की

२७. लंकावतार, गाथा १०२—चित्तमालय विज्ञानं मनो यन्मन्यनात्मकम्।
गृह्णाति विषयान् येन विज्ञानं हि तदुच्यते॥
—बौद्ध दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० २८२ पर उद्धृत।

२८. लंकावतार, ३.३३—दृश्यते न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते।
देहभोग प्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्॥
—बौद्ध दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० २८२ पर उद्धृत।

२९. त्रिंशिका भाष्य, पृ० १८; मध्यांतविभाग, पृ० २८; बौद्ध दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० २८८-२८९।

उत्पत्ति होती है जो भविष्य में बीजरूप में आलयविज्ञान में अपने को अंतर्निहित रखते हैं।[३०] ये सभी क्रियाएँ सांसारिक जीवन व्यतीत करते समय होती हैं। जब चित्तसमुद्र विषयपवन से उद्वेलित होकर सप्तविध विज्ञानों की तरंगों से पूर्ण हो जाता है, तभी संस्कारों और बीजों की उत्पत्ति होती है। लंकावतार सूत्र में आलय विज्ञान को समुद्र, विषयों को पवन तथा सप्तविध विज्ञानों को तरंग माना गया है।[३१]

विज्ञानवादियों का यह विज्ञान ब्रह्मवादियों की आत्मा के अधिक समीप है। अंतर यह है कि आत्मा सदा एकरस रहती है और आलय विज्ञान परिवर्तनशील है। अन्य सात विज्ञानों के शांत या चंचल रहने का इसके ऊपर प्रभाव नहीं पड़ता। इसका प्रभाव सदैव गतिशील रहता है।

विज्ञानवादियों ने पदार्थों का भी अपनी दृष्टि से विभाजन किया है। पदार्थ या धर्म दो प्रकार के होते हैं—संस्कृत और असंस्कृत। हेतुप्रत्ययजन्य पदार्थ संस्कृत और हेतुप्रत्यय से परे सत्स्वभाव पदार्थ असंस्कृत कहलाते हैं। असंस्कृत धर्म परवर्ती साहित्य एवं साधना की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। वे हैं—आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध, अचल, संज्ञावेदनानिरोध तथा तथता। आकाश न आवृत्त करता है और न स्वयं आवृत्त होता है। वह नित्य, असंस्कृत, अपरिवर्तनशील धर्म है। 'प्रतिसंख्यानिरोध' में प्रतिसंख्या का अर्थ है प्रज्ञा या ज्ञान। प्रज्ञा के द्वारा सास्रव धर्मों या पदार्थों के प्रति राग या ममता का सर्वथा परित्याग ही प्रतिसंख्यानिरोध है।

---

३०. बौद्ध दर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० २२९।

३१. लंकावतार सूत्र, दास और आचार्य, पृ० ५१, श्लो० १०२-१०३—

तरङ्गाह्युदधेर्यद्वत् पवनप्रत्ययेरिताः।
नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते व्युच्छेदश्च न विद्यते ॥१०२॥
आलयौघस्तथा नित्यं विषयपवनप्रेरितः।
चित्तैस्तरंग विज्ञानैर्नृत्यमानः प्रवर्तते ॥१०३॥

बिना प्रज्ञा के ही जागतिक पदार्थों के प्रति उत्पन्न होनेवाले राग या ममता का जब निरोध हो जाता है, तब अप्रतिसंख्यानिरोध की संज्ञा प्राप्त होती है। अचल का अर्थ उपेक्षा है। उपेक्षा का अर्थ है सुख दुःख की भावना का सर्वथा तिरस्कार। सुख दुःख के प्रति समदृष्टि होने पर. अचलावस्था आती है। संज्ञा तथा वेदना के मानस धर्मों को सर्वथा स्ववश करने को संज्ञावेदना-निरोध कहते हैं।

तथता सर्वोत्कृष्ट असंस्कृत पदार्थ है। असंस्कृत धर्म होने के कारण अन्य धर्मों के संपर्क से इसमें विकार नहीं होते। इसीलिये मध्यांतविभाग में इसे अविकारी तत्व माना गया है। विकार केवल संस्कृत धर्मों में होते हैं, जो हेतुप्रत्ययजन्य हैं।[३२] इसे भूतकोटि भी माना गया है। भूतकोटि का अर्थ है, सत्य वस्तुओं का पर्यवसान अर्थात् भूतों में इसके अतिरिक्त दूसरा कोई ज्ञेय पदार्थ नहीं है। यह सत्य है, अविपरीत है।[३३] यह विश्व के समग्र धर्मों

---

३२. मध्यांत विभाग, पृ० ४१—

उक्तं शून्यतालक्षणम्, पर्याय इदानीमुच्यते।
तथता भूतकोटिश्चानिमित्तः परमार्थिकः।
धर्मधातुश्च पर्यायाः शून्यतायाः समासतः॥१. १५॥
अन्यथाऽविपर्यासतन्निरोधार्थ गोचरैः।
हेतुत्वाचार्यधर्माणां पर्यायार्थो यथाक्रमः॥१. १६॥

३३. मध्यांत विभाग, पृ० ४१-४२, १. १५-१६ पर स्थिरमति की टीका— 'पर्यायो नामैकार्थस्य भिन्नशब्दकीर्तनं। पर्यायेणार्थाभिधानात्पर्यायः। तैश्चाभिधानैः सूत्रान्तरेषु शून्यतैव निर्दिश्यते। एतच्च पर्यायपञ्चकं प्रधानं गाथायामुक्तमेवमन्येऽपि पर्याया इहानुक्ताः प्रवचनादुपधार्यः। तद्यथाद्वयताविकल्पकधातुधर्मतानभिलाप्यता निरोधोऽसंस्कृतनिर्वाणादि।' ॥१. १५॥ 'तत्र अनन्यथार्थेन तथतेति अविकारार्थेनेत्यर्थः। तत्वा-

का नित्य स्थायी धर्म है। इसी परमार्थ का निरूपण आर्य असंग ने 'न सन्न न चासन्न' के प्रसिद्ध श्लोक में किया है।

माध्यमिकों के समान विज्ञानवादी भी दो प्रकार की सत्ता मानते हैं—पारमार्थिक और व्यावहारिक। व्यावहारिक सत्ता भी दो प्रकार की है—परिकल्पित और परतंत्र। रज्जु में सर्प की सत्ता परिकल्पित सत्ता है। स्वयं रज्जु परतंत्र सत्ता है। जिस वस्तु से रज्जु बनकर तैयार हुई है, उसे परिनिष्पन्न सत्ता कहते हैं। व्यावहारिक सत्ता की दोनों प्रकार की सत्ताओं का ज्ञान हो जाने पर ही परिनिष्पन्न सत्ता का ज्ञान प्राप्त होता है। पारमार्थिक सत्ता का संबंध इसी परिनिष्पन्न से है। व्यावहारिक या सांवृतिक सत्ता, पारमार्थिक सत्ता का प्रतिबिंब मात्र है। (संवृत्ति का अर्थ है बुद्धि। इस बुद्धि से ही पदार्थों का यथार्थ रूप ग्रहण होता है जिससे वे लक्षणहीन प्रमाणित हो जाते हैं। यह कार्य प्रविचय बुद्धि से संपादित होता है। प्रतिष्ठापन का अर्थ है, वस्तु में जो लक्षण विद्यमान नहीं हैं उनकी कल्पना करना। यह कार्य प्रतिष्ठापिका बुद्धि करती है। योगी को इसी का अतिक्रमण करना चाहिए।) असंग ने परिनिष्पन्न सत्ता उस सत्ता को माना है जो भाव और अभाव से परे हो, सुख-दुःख की कल्पना से पूर्णतया मुक्त हो। इसी को दूसरा नाम 'तथता' दिया गया है जिसे प्राप्त कर लेने पर भगवान् बुद्ध 'तथागत' (तथता को प्राप्त होनेवाले व्यक्ति) के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार की अवस्था पाँच प्रकार की कल्पनाओं से मुक्त है—सत्-असत्, तथा-अतथा जन्म-मरण, ह्रास-वृद्धि, शुद्धि-अविशुद्धि। यही विज्ञानवादियों की परमावस्था है। सम्यक् संबोधि की उपलब्धि के लिये तीन प्रकार की सत्ता का पूर्ण ज्ञान

ख्यानान्नित्यं तथात्वादित्युक्तं। नित्यं सर्वस्मिन्कालेऽसंस्कृतत्वान्न विक्रियत इत्यर्थः। अविपर्यासार्थेन भूतकोटिरिति। भूतं सत्यमविपरीतमित्यर्थः। कोटिः पर्यन्तः। यतः परेणान्यज्ज्ञेयं नास्त्यतो भूतकोटिर्भूतपर्यन्त इति।' तथा आगे द्रष्टव्य।

आवश्यक है। इसे शून्यताओं का ज्ञान भी कहते हैं। जगत् के जितने पदार्थ हैं, वे उन लक्षणों से हीन हैं जिन्हें हम साधारण कल्पना में, उनमें निहित मानते हैं। यह परिकल्पित सत्ता का ज्ञान है। अर्थात् जागतिक पदार्थों में सत्यता के लक्षण देखना रज्जु में सर्प देखना है। इसे अभावशून्यता कहते हैं। वस्तु का जो स्वरूप हम साधारणतया मानते हैं, वह पूर्णतया असत्य है। जिसे हम साधारण भाषा में घट के नाम से पुकारते हैं, उसका कोई भी वास्तविक रूप नहीं। यह परतंत्र सत्ता का ज्ञान है। इसे तथाभावशून्यता कहते हैं। स्वभाव से ही समग्र पदार्थ शून्य हैं, निःस्वभाव हैं। यह परिनिष्पन्न ज्ञान है। इसी को प्रकृतिशून्यता कहते हैं। बोधिसत्त्व इन त्रिविध सत्ताओं के ज्ञान से संपन्न होता है। परिनिष्पन्न ज्ञान ही सचा अद्वैतवस्तु का ज्ञान है। इसी परिनिष्पन्न के पर्याय हैं, तथता, परमार्थ आदि।

चित्त या विज्ञान को एकमात्र स्वीकृति देनेवाले विज्ञानवाद का दूसरा नाम योगाचार है। इस नामकरण के विषय में विभिन्न विद्वानों ने अपना अनुमान लगाया है। यद्यपि यह प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं कि यह 'योगाचार' नामकरण असंग की 'योगाचारभूमिशास्त्र' के आधार पर ही हुआ है[३४] किंतु जब तक यह ग्रंथ संस्कृत में उपलब्ध नहीं हो जाता तब तक निश्चित और पूर्ण विश्वास के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि विज्ञानवाद का दूसरा नाम 'योगाचार' इसी के आधार पर रखा गया है। कुछ विद्वानों ने इस योगाचार शब्द का ही विश्लेषण कर नामकरण के रहस्योद्घाटन का प्रयास किया है। डा० राधाकृष्णन् ने स्पष्टतः कहा है कि योगाचार मत ने प्रकटतः बौद्ध सिद्धांतों और योग का समन्वय किया है।[३५] योग का अभ्यास

---

३४. बौद्धदर्शन-पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० २६८; बौद्धदर्शन, राहुल सांकृत्यायन, पृ० ९३।

३५. इंडियन फिलासफी, डा० एस० राधाकृष्णन्, वा० २, पृ० ३४०।

करने के कारण इन्हें योगाचारी कहा जाता है।[३६] इसी से वे आलय विज्ञान का स्वानुभव प्राप्त करते थे। अथवा उनके योगाचारी कहलाने का कारण उनका योग और आचार दोनों का संयुक्त अभ्यास करना भी हो सकता है।[३७] योगाचार शब्द को 'योगावचर' (योगी) शब्द से निकला हुआ कुछ लोग मानते हैं। इसका पिटकों में संकेत मिलता है।[३८] श्री राहुल सांकृत्यायन, जिन्होंने 'योगाचारभूमिशास्त्र' को मूल संस्कृत में उपलब्ध किया है, का कहना है कि असंग के 'योगाचारभूमिशास्त्र' में "ज्यादातर बौद्ध सदाचार, योग तथा धर्मतत्व का विस्तृत विवेचन मिलता है।[३९] योगाचार नाम पड़ने का कारण भी यही ग्रंथ है। कुछ लोगों का कहना है कि इस ग्रंथ में विज्ञानवाद के साधनमार्ग का वर्णन उपलब्ध होता है। आध्यात्मिक सिद्धांत के कारण विज्ञानवाद तथा व्यावहारिक, साधनात्मक और धार्मिक दृष्टि से उसे योगाचार कहा जाता है।[४०] डा० ग्विसेप तुसी ने मैत्रेयनाथ के ग्रंथों का विवेचन करते हुए असंग के इस ग्रंथ की ओर संकेत नहीं किया है। मैत्रेयनाथ असंग के गुरु थे। उनके 'अलंकार' ग्रंथों (अभिसमयालंकार और सूत्रालंकार) की ओर संकेत कर उन्होंने कहा है कि उन ग्रंथों का उद्देश्य योग का विवरण उपस्थित करना है। 'भूमि', 'ध्यान', 'समापत्ति', 'शमथ'

---

३६. सिस्टम्स आफ बुद्धिस्ट थाट—यामाकामि सोजन, पृ० २१२।

३७. सर्वदर्शनसंग्रह—माधवाचार्य, द्वितीय परिच्छेद, पृ० १२।
"तदेवं भावनाचतुष्टयवशान्निखिलवासनानिवृत्तौ परनिर्वाणं शून्यरूपं सेत्स्यतीति वयं कृतार्थाः, नास्माकमुपदेश्यं किंचिदस्तीति। शिष्यैस्ताव-द्योगश्चाऽऽचारश्चेति द्वयं करणीयम्।"

३८. बौद्धदर्शन, राहुल संस्कृत्यायन, पृ० ९०।

३९. " " " , पृ० १०५।

४०. बौद्धदर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० २६४, २६८ तथा भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० २१६।

और विपश्यना' आदि का विस्तृत विवेचन इन ग्रंथों में मिलता है। इन आधारों पर 'अभिसमयालंकार' को ब्राह्मण योगसूत्रों (पतंजलि कृत) का 'बौद्ध प्रतिरूप' समझना चाहिये। उनकी दृष्टि में इन दोनों योगों के तुलनात्मक अध्ययन से नयी सामग्री मिलने की अधिक संभावना है। दोनों ने ही परमसत्य को अंतःसाक्षात्कार योग्य माना है। इस बौद्धयोग को उन्होंने पूर्णतया भारतीय स्वीकार किया है।[४१]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि असंग को योग-साधना परंपरा से मिली थी। मैत्रेयनाथ और असंग दोनों ने योग-साधना पर जोर दिया है। असंग के ग्रंथ 'योगाचारभूमिशास्त्र' को 'सप्तदशभूमिशास्त्र' भी कहते हैं। राहुल सांकृत्यायन ने इस ग्रंथ की जो रूपरेखा उपस्थित की है, उससे पता चलता है उसकी षष्ठभूमि में ध्यान, विमोक्ष, समाधि तथा समापत्ति का वर्णन है। दसवीं भूमि में इंद्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष तथा लोकप्रत्यक्ष के साथ ही शुद्ध-प्रत्यक्ष या योगि-प्रत्यक्ष का भी वर्णन है। बारहवीं भूमि में या भावनामयी भूमि में योगभावना का वर्णन है।[४२] इसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि मैत्रेय (नाथ) और असंग, जो विज्ञानवादी मत के आद्य आचार्य माने जाते हैं, की दृष्टि में यौगिक साधनाएँ अवश्य थीं।

असंग का समय चतुर्थ शताब्दी माना जा सकता है। युवान-च्वांग (६२९–६४५ ई०) असंग के 'योगाचारभूमिशास्त्र' को चीन ले गया था। परमार्थ ने असंग के 'महायान-संपरिग्रह' का अनुवाद ५६३ ई० में किया था। असंग, सम्राट् समुद्रगुप्त (चतुर्थ ईस्वी शताब्दी) के समय के माने

---

४१. आन सम ऐस्पेक्ट्स आफ दि डाक्ट्रिं स आफ मैत्रेय (नाथ) एंड असंग, डा० जी० तुसी, पृ० २५-२६।

४२. बौद्धदर्शन, राहुल सांकृत्यायन, पृ० ९४–१०४।

जाते हैं। हम उनके 'योगाचार भूमिशास्त्र' को विज्ञानवाद के अपरपर्याय का कारण माने या न माने किंतु चतुर्थ ईस्वी शताब्दी के पूर्व बौद्ध धर्म में, निस्संदेह योग और आचार का प्रभूत महत्व स्थापित हो चुका था। अश्वघोष के सौंदरनंद में यद्यपि 'योगाचार' शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है किंतु वहाँ उसका प्रयोग किसी संप्रदाय विशेष के अर्थ में न होकर केवल योगसाधना के अर्थ में हुआ है।[४३] महावस्तु में भी इसी प्रकार का संकेत मिलता है।[४४] विंटरनित्स का कथन है कि विज्ञानवाद के अनुसार बोधि की प्राप्ति योगी योग का अभ्यास करते हुए ही कर सकता है। इस अभ्यासावस्था में ही वह दश भूमियों को पार करता है। वास्तव में, हीनयान में योगाभ्यास का महत्व कम नहीं है, किंतु महायान में उसका व्यवस्थित रूप मिलता है।[४५] इसके साथ ही यह भी ध्यान रखने योग्य है कि चतुर्थ शताब्दी तक पातंजल योग-सूत्रों का विपुल प्रसार-प्रचार और विचार हो चुका था। बुद्ध का भी अपना योग-संबंधी विचार था और बुद्ध के पूर्व भी भारत में योग की धारा प्रवाहित थी। स्पष्ट है कि मैत्रेय और असंग ने बौद्धधर्म में योग को प्रतिष्ठित कर दिया।[४६]

२. *अन्य विचारधाराएँ*

संक्षेप में कहा जा सकता है कि महायान मत में दो दार्शनिक मतों का विकास हुआ। माध्यमिक मत के प्रवर्तक नागार्जुन और योगाचार मत के

---

४३. ए हि० इं० लि०, विंटरनित्स, वा० २, पृ० २६४, पादटिप्पणि।

४४. वही, पृ० २४७ पादटिप्पणि।

४५. वही, पृ० २५३।

४६. द्रष्टव्य—'शील, समाधि और योग' परिच्छेद।

मैत्रेयनाथ और असंग, महायान के दार्शनिक महारथी माने गए। नागार्जुन ने माध्यमिक मत और शून्यतासिद्धांत को स्थापना की थी। मैत्रेयनाथ और असंग ने योगाचार मत और चित्त तत्व को महायान में प्रतिष्ठित किया। असंग के पूर्व और संभवतः नागार्जुन के काल में अश्वघोष ने अपने 'महायानश्रद्धोत्पाद' में तथता सिद्धांत की स्थापना की थी। विद्वानों का विचार है कि विज्ञानवाद या योगाचार मत का ही विकास वज्रयान आदि परवर्ती मतों के रूप में हुआ। श्री सुजुकि ने इस महायान को हिंदू महायान मत के नाम से अभिहित किया है।[४७] पहले ही बताया जा चुका है कि बुद्ध के ऊपर औपनिषदिक विचारधारा का प्रभाव पड़ा था। उन्होंने उपनिषदों की योगपद्धति को भी अपने ढंग से स्वीकार किया था। पाणिनि के प्रमाण पर यह कहा जा सकता है कि पाराशर्य तथा कर्मंद नामक आचार्यों ने भिक्षुसूत्रों की रचना की थी।[४८] डायसन जैसे विद्वानों ने यह स्पष्टतः प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि सांख्य जैसे प्राचीनतम दार्शनिक मत के उद्भवग्रंथ भी उपनिषद् ही हैं। उपनिषदों और सांख्य मत को बुद्ध से प्राचीनतर सिद्ध करने के लिये प्रमाणों की कमी नहीं है। अश्वघोष ने बुद्धचरित में अराड कालाम की जिन शिक्षाओं का विवेचन किया है, वे सांख्य के अनुकूल हैं। पहले जिस अराड कालाम का परिचय दिया गया है, तथा जिनके पास बुद्ध शांति प्राप्त करने गए थे, दोनों की अभिन्नता से यह निष्कर्ष निकलता है कि बुद्ध उपनिषद्-प्रसूत सांख्यमत तथा अराड कालाम से उपदिष्ट सांख्यमत से प्रभावित थे।[४९] मैत्रेयनाथ और असंग आदि की रचनाओं की

---

४७. आउटलाइंस आफ महायान बुद्धिज्म—डी० टी० सुजुकि, पृ० ६६।

४८. बौद्धदर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० ४७८; अष्टाध्यायी—पाणिनि, ४।३।११०,४।३।१११।

४९. विस्तृत विवेचन के लिये द्रष्टव्य, बौद्ध दर्शन, पं० ब० उपाध्याय, पृ० ४८८—४९३।

मीमांसा कर, जैसा पहले कहा जा चुका है, विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि योगाचार मत पतंजलिप्रणीत योगसूत्रों का बौद्धरूप है। सर चार्ल्स इलियट ने हिंदूधर्म और बौद्धधर्म की तुलना करते हुए अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि महायानीय सिद्धांतों और श्रीमद्भगवद्गीता के सिद्धांतों में पर्याप्त समानता है। उस समय भक्ति-भावना, भक्तिप्रपूरित आचार और वैयक्तिक तथा अपेक्षाकृत अधिक करुण उपास्यदेव की आवश्यकता का अनुभव प्रायः सर्वत्र किया जा रहा था। ये बातें गीता और महायानसूत्रों में समान रूप से पाई जाती हैं। गृहस्थाश्रम की महत्ता का गायन भी दोनों में मिलता है। इसी प्रकार की समानताओं का विचार कर कुछ विद्वानों ने महायान का मूल स्रोत गीता को ही मानने का साहस किया है। तारानाथ का कथन इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है।[५०] महायानी साहित्य के विवेचन के प्रसंग में यह स्पष्टतया कहा जा चुका है कि तत्कालीन महायानी साहित्य अथवा सूत्रों पर पौराणिक साहित्य और हिंदू तंत्रसाधना का पर्याप्त प्रभाव है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि महायान के ऊपर हिंदू साहित्य, धर्म, दर्शन, साधना का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था, इसीलिये उसे हिंदू बौद्धधर्म कहा जाता है। उपरोक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि योगाचार मत ने इस प्रभाव को अधिक स्वच्छंदता से स्वीकार किया है। यह मत पदार्थों की चरम स्थिति आलय विज्ञान में मानता है। यह महायानियों का सर्वाश्रयी आत्मा है।[५१] यह विश्वात्मक न होकर व्यक्तिगत है। इसी को चित्त के नाम से भी अभिहित किया जाता है जैसा बताया जा चुका है, इस मत के

---

५०. हिंदूइज्म ऐंड बुद्धिज्म—ए हिस्टारिकल स्केच, सर चार्ल्स इलियट, वा० १, इंट्रोडक्शन पृ० ३० तथा बौद्ध दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ० ४९२—४९८;

५१. आ० म० बु०, सुजुकि, पृ० ६६—"आल कांजर्विंग सोल"।

अनुसार तीन प्रकार के सत्य हैं—परिकल्पित, परतंत्र और परिनिष्पन्न। इनमें से प्रथम दो तो नागार्जुन के सांवृतिक सत्य या सामान्य या सांसारिक सत्य के अंतर्गत आ जाते हैं और परिनिष्पन्न सत्य ही परमार्थ सत्य है। इस विश्व की सत्यता सापेक्ष है। वह हमारे विचारों का वाह्य प्रकाशन है। विश्व और चित्त के परस्पर संबंध तथा चित्तप्रकृति का ज्ञान ही पूर्ण ज्ञान है। मनोविज्ञान अज्ञानी है, वह आलयविज्ञान और संसार के संबंधों को नहीं जानता। वह क्लेशों से युक्त रहता है। प्राणी का उद्देश्य है—प्रज्ञा की उपलब्धि करना, जागतिक पदार्थों या धर्मों का स्वभाव जानना। यही विज्ञानमात्र के सत्य की उपलब्धि है। यही धर्मकाय की एकात्मता है। बोधिसत्त्व दस भूमियों को पार करता हुआ अंत में इसी एकात्मता की प्राप्ति करता है। इसी प्रकार अनानार्थ का ज्ञान भी है। भाव, अभाव, सत्, असत्, संसारनिर्वाण, आत्म अनात्म—ये सभी नानार्थ हैं। बोधिसत्त्व इन सबसे परे होता है। वह इनसे परे परमतत्व का, परमज्ञान का साक्षात्कार करता है। वह दोनों को समान दृष्टि से देखता है। एक में दूसरे का दर्शन करता है। इस प्रकार वह परम तत्व तथता की उपलब्धि करता है।

बुद्ध की अलौकिकता पर आधारित महायानियों का त्रिकाय सिद्धांत है। परम तत्व बुद्ध अपने तीन कार्य तीन भिन्न भिन्न कायों से करते हैं—निर्माणकाय, संभोगकाय तथा धर्मकाय। म० पं० गोपीनाथ कविराज की दृष्टि में इन तीनों की तुलना क्रमशः अवतार, ईश्वर और निर्गुण ब्रह्म से करने की अपेक्षा तंत्रों के ईश्वर सदाशिव और शिव से करनी चाहिए।[५२] शाक्यमुनि गौतमबुद्ध निर्माणकाय ही थे, जिन्होंने परोपकार साधन के लिये अवतार लिया था। संभोगकाय बोधिसत्त्वों का सूक्ष्म शरीर है जिसके द्वारा धर्म का उपदेश दिया जाता है। यह अत्यंत भास्वर शरीर है। गृध्रकूट पर्वत पर

---

५२. बौद्ध दर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय, फोरवर्ड—म० पं० गोपीनाथ कविराज, पृ० ८-९।

संभोगकाय ही उत्पन्न होकर धर्मोपदेश करता है। धर्मकाय बुद्ध का परमार्थभूत वास्तविक शरीर है। यह काय अनिर्वचनीय है। धर्मकाय महायानियों की परमतत्व की भावात्मक कल्पना है। यह धर्मकाय ही तथता है। इसे ही धर्मधातु तथा तथागतगर्भ भी कहा जाता है।

सत्तात्मक दृष्टि से भूततथता या तथता महायानियों का परमार्थ सत्य या परिनिष्पन्न सत्य है। विश्व और विचार भिन्न भिन्न नहीं हैं। इन दोनों की सत्तात्मक एकात्मता का तथाभाव ही तथता है। तथता परमतत्व की सत्तात्मक कल्पना है। यह तत्व अनिर्वचनीय है। शून्यता परमतत्व का अभावात्मक या ऋणात्मक पक्ष है। इसकी व्याख्या बृहदारण्यक की 'नेति नेति' पद्धति से ही की जा सकती है। बोधिसत्त्व विमलकीर्ति की तरह 'परम शांत' रहकर ही इसकी व्याख्या संभव है।[५३] यह भूततथता जब जन्ममरण के विश्व में प्रकाशित होती है तो उसे "सापेक्ष तथता" कहते हैं।[५४]

इस परमज्ञान की उपलब्धि में सबसे बड़ी बाधा अविद्या है। भूततथता तथा सापेक्ष तथता (निर्वाण तथा संसार या परमार्थ सत्य और सांवृतिक सत्य) के संबंधों का ज्ञान संपन्न न होने देनेवाली अविद्या के कारण ४ या ६ महाभूत, ५ स्कंध, ६ या ८ विज्ञान (इंद्रियाँ), द्वादश निदान हैं। ये नाम और रूप अविद्या हैं। इस अविद्या का मूल माया या भ्रम है। यही मायावाद महायान के अद्वैतवाद की मूलभित्ति है जिसके आधार पर शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहा जाता है। प्रबुद्ध बौद्ध को सभी पदार्थों या धर्मों में शुद्ध तथता का दर्शन होता है। उसके लिये संसार और निर्वाण, सत् और असत् में कोई भेद नहीं रहता। इस तथता में विषय और विषयी, ज्ञान और ज्ञाता, प्रमेय और प्रमाता लीन हो जाते हैं। प्रज्ञा या बोधि उस आध्यात्मिक शक्ति

---

५३. आ० म० बु०—सुजुकि, पृ० १०२, १०५-१०७, "थंडरस साइलेंस"।
५४. वही, पृ० १०९-११३, "सचनेस एंड कंडीशंड सचनेस"।

का नाम है जो पूर्णज्ञान प्राप्त कराती है।[५५] इसी परमतत्व भूततथता को धर्म, बोधि, निर्वाण, प्रज्ञा, धर्मकाय, बोधिचित्त, शून्यता, कुशलम्, परमार्थ, मध्यममार्ग, भूतकोटि, तथागतगर्भ आदि नामों से भी कभी कभी भिन्न भिन्न दृष्टियों से विचार करते हुए अभिहित किया जाता है।[५६]

कर्मसिद्धांत के विषय में महायानियों का कहना है कि कोई भी कुशल या अकुशल कर्म बुल्ले की तरह नष्ट नहीं हो जाता। बीज रूप में स्थित होने के बाद जब समय आता है, तब वही कर्म निश्चित और पूर्ण रूप से अंकुरित होता है। जैसे भलीभाँति रखा हुआ गेहूँ का बीज हजारों वर्ष बाद भी अपनी अंकुरित होने की शक्ति नहीं खोता और उचित रूप से बोए जाने पर अंकुरित होता है, उसी प्रकार कर्म भी। द्वादश निदान इसी कुशल अकुशल के सिद्धांत पर आधारित हैं। मनुष्य स्वयं अपने ही कुशल कर्मों के बल पर प्रज्ञाप्राप्ति करता है। कुशल कर्मों का अक्षय भंडार ही बौद्ध को पुण्यस्कंध बनाता है। इस पुण्यस्कंधत्व की प्राप्ति पंचपारमिताओं के अभ्यास तथा कुशल कर्मसंपादन से होती है। फलतः प्रज्ञाप्राप्ति भी संभव है। ये कुशल कर्म और पंचपारमिताएँ महायान के आचारशास्त्र के मूल स्तंभ हैं। पुण्यसंभार, कुशल–कर्म–संपादन, अविद्या प्रणाश, पंचपारमितासाधन साधक को अमरता प्राप्त कराते हैं।[५७]

धार्मिक दृष्टि से महायान ने किसी परमतत्व के लिये ईश्वर या किसी अन्य समानार्थी शब्द का प्रयोग नहीं किया है। इसकी धार्मिक उपासना

---

५५. वही, पृ० ११५-१२०।

५६. वही, पृ० १२५ और आगे।

५७. वही, पृ० १८३–२१४।

का लक्ष्य धर्मकाय बुद्ध या वैरोचन धर्मकाय बुद्ध तथा अमिताभ बुद्ध या अमितायुस् बुद्ध हैं। अंतिम दो नाम चीन और जापान के सुखावती संप्रदायों के अनुयायियों द्वारा बहुधा प्रयुक्त किए जाते हैं। धर्मकाय वास्तव में शुद्ध धार्मिक और उपासनात्मक तत्व है। वह साधक की आध्यात्मिक, धार्मिक चेतना का विषय है। इसका संबंध मानव के जीवन से है। मानव इस धर्मकाय से अपने बोधि की पूर्ण अभिन्नता स्थापित करता है। यह धर्मकाय करुणावतार है। बोधिसत्त्व इसी धर्मकाय की साधना करता है। बोधिसत्त्व भी प्रज्ञा और करुणा का अवतार होता है। शाक्य मुनि भी बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व बोधिसत्त्व ही थे। हम सभी बोधिसत्त्व हैं। हम लोग प्रसुप्त बुद्ध हैं। अप्रबुद्ध बौद्ध अपने में बुद्धतत्त्व का प्रत्यभिज्ञान नहीं कर पाता। बोधिसत्त्व महाकरुणाचित्त होता है। बोधि धर्मकाय की अभिव्यक्ति है। इस बोधि या ज्ञान के सारसत्व को ग्रहण करनेवाला साधक बोधिसत्त्व कहलाता है। बोधिचित्त तत्वतः प्रज्ञा और करुणा है। करुणा चित्त का सारतत्व है। बोधिचित्त परमोच्च तत्व है। यह करुणा ही चित्त को प्रज्ञा या बोधि तक पहुँचाती है। अतः इसी करुणा को उपाय नाम से भी अभिहित किया जाता है। बुद्ध करुणावतार हैं अतः उनका अपर पर्याय उपाय है।

यह बोधिचित्त सभी व्यक्तियों के हृदय में अप्रबुद्ध रूप में रहता है। केवल बुद्धों में यह पूर्ण प्रबुद्ध और क्रियाशील रूप में रहता है। अतः प्राणी को इस अप्रबुद्ध चित्त का प्रबोधन करना चाहिए। इसी को बोधिचित्तोत्पाद कहते हैं। यह उत्पादकार्य बुद्धों के विषय में तथा प्राणियों की शोचनीय दशा के विषय में सतत चिंतन करने से तथा तथागत द्वारा प्राप्त किए गए गुणों के लिये प्रयत्नशील रहने से संपन्न होता है। बोधिसत्त्व की जिन दस भूमियों की परिगणना की जाती है, वे वास्तव में बोधिचित्तोत्पाद को ही भूमियाँ या क्रमागत उन्नतिशील दशाएँ हैं। ये भूमियाँ प्रमुदिता,

विमला, प्रभाकरी, अर्चिस्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरंगमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघा कही जाती हैं। [५८]

महायान में निर्वाण को अभावात्मक अर्थ में नहीं स्वीकार किया गया। वस्तुतः निर्वाण पंचस्कंधों का प्रणाश है। दूसरे शब्दों में निर्वाणप्रवेश, भौतिक अस्तित्व और वासनाओं या क्लेशों के प्रणाश के समान है। हीनयान में क्लेशावरण के हट जाने को, जो अष्टांगिक मार्ग के अनुसरण से संभव है, निर्वाण कहा गया है। किंतु महायान मत में क्लेशावरण और ज्ञेयावरण दोनों का प्रहाण, निर्वाण माना गया है।[५९] इसीलिये परमतत्व तथता, धर्मकाय आदि के परमज्ञान (प्रज्ञापारमिता) की प्राप्ति ही, उनकी दृष्टि में निर्वाण है। महायानियों ने संसार और निर्वाण को भिन्न नहीं माना है और संभवतः उसका कारण यह है कि वे संसार (जन्ममृत्युचक्र) और उसके पदार्थों के परम स्वभाव के ज्ञान को ही परमज्ञान मानते हैं जिसके विना ज्ञेयावरण नहीं हटता। अष्टांगिक मार्ग केवल नैतिक आचारों का मार्ग है। अतः महायानियों ने शून्यताज्ञान, प्रज्ञापारमितोपलब्धि, बुद्धत्व प्राप्ति को समन्वित कर क्लेशावरण, ज्ञेयावरण रहित निर्वाण की कल्पना की। यह निर्वाण जीवन में ही प्राप्त होता है। अर्थात् यह जीवन्मुक्ति है। इसे नित्य सुख, आत्मन्, शुचि आदि भी कहा जाता है। निर्वाण भाव अभाव, संस्कृत असंस्कृत, विषय विषयी, ज्ञेय ज्ञाता सभी से परे हैं। धर्मकाय के समान मानने के कारण उसे सर्वथा अनिर्वचनीय कहा गया है।[६०]

---

५८. वही, पृ० २१९-२२४, २४५-२३६, २८२-२८३, २९०-२९१, २९४-३०७, ३११-३२६।

५९. बौद्ध दर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० १८०-१८२।

६०. आ० म० बु०—सुजुकि, पृ० ३३२—३५३; विद्वानों द्वारा उद्धृत किये गये निर्वाण संबंधी उद्धरण हैं—

बुद्ध ने सन्यासमार्ग और भोगमार्ग दोनों की अतियों का विरोध किया था। नागार्जुन ने माध्यमिकशास्त्र में मध्यममार्ग का प्रतिपादन किया। निर्वाण प्राप्त करने के लिये शून्यता और करुणा, आंतरिक और वाह्य, व्यक्तिगत और संसारगत व्यवहारों और सत्यों का समन्वय करना आवश्यक है। हीनयानी केवल व्यक्तिगत शोधन और अर्हत पद की प्राप्ति का इच्छुक होता है किंतु महायानी साधक करुणा की सहायता से अलौकिक और लौकिक दोनों को साधता है। करुणा और प्रज्ञा दोनों एक दूसरे के बिना निरर्थक, जड़ और निष्फल हैं। यही महायानियों का साधनागत और दर्शनगत पंग्वंधन्याय है। आदर्श प्राणी बुद्ध में दोनों का आदर्श समन्वय और परिपाक है। निर्वाण प्राप्ति के लिये सबसे पहले करुणा प्रसार आवश्यक है, क्योंकि वह प्राणियों को दुःख से मुक्त करती है तथा साधक में बोधि उत्पन्न करती है।[६१] इस उद्देश्यसिद्धि के लिये बुद्धभक्ति, अनेक देवताओं और देवियों की कल्पना, उपासना, मंत्र धारणी, पूजा, आदि का विधान किया गया, जिसका संक्षिप्त संकेत पहले ही किया जा चुका है।

पहले यह भी कहा जा चुका है कि महायान की दो दार्शनिक विचार-धाराओं में से योगाचार मत का विशेष प्रचार, प्रसार परवर्ती महायानी

"अप्रहीणं असंप्राप्तं अनुच्छिन्नं अशाश्वतम्।
अनिरुद्धं अनुत्पन्नं एवं निर्वाण उच्यते॥"--(माध्यमिक शास्त्र)
"भवेद् अभावो भावश्च निर्वाणं उभयं कथं।
असंस्कृतं च निर्वाणं भावाभावौ च संस्कृतम्॥"
"तस्मान्न भावो नाभावो निर्वाणमिति युज्यते।
संसारस्य च निर्वाणात् किंचिदस्ति विशेषणम्॥"
"न निर्वाणस्य संसारात् किंचिदस्ति विशेषणम्॥"
"निर्वाणस्य च या कोटिः कोटिः संसारस्य च।
विद्यादानन्तरं किंचित् सुसुक्षणम् विद्यते॥"--(माध्यमिक शास्त्र)

६१. वही, सुत्तुकि, पृ० ३५८-३६४।

रूपांतरों में हुआ। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि माध्यमिक मत की तुलना में योगाचार मत अधिक अर्वाचीन है। इसीलिये योगाचार मत ने माध्यमिक मत का पर्यालोचन कर चित्त तत्व को सत्य माना और दर्शन तथा साधना दोनों क्षेत्रों में उसको शताब्दियों के लिये प्रतिष्ठित कर दिया। उपरोक्त कारणों से परवर्ती रहस्य साधना और दर्शन के लिये योगाचार मत का कुछ विशेष परिचय भी दिया जाना आवश्यक है। योगाचार नामकरण तथा पातंजल योगसूत्रों से उसके संबंध का निर्णय यद्यपि सर्वाधिक जटिल प्रश्न है, और संभवतः तब तक जटिल बना रहेगा जब तक 'योगाचारभूमिशास्त्र' का संपूर्ण संस्कृत रूप उद्धृत नहीं हो जाता, किंतु फिर भी 'लंकावतार सूत्र' जैसे ग्रंथ बौद्ध योग तथा योगाचार की अन्य साधनात्मक विशेषताओं के लिए प्राप्य हैं। इस ग्रंथ की गणना प्रामाणिक महायान सूत्रों में की जाती है।

दार्शनिक दृष्टि से जो कुछ भी कहा गया है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि बौद्ध साधक का अनुभव अपनी पूर्णता या परमावस्था को तब प्राप्त करता है जब वह संसार के सभी धर्मों या पदार्थों में उनकी निःस्वभावता या परतंत्रता का दर्शन करने लगता है। यही प्रज्ञा है। हमारा इंद्रियप्रत्यक्ष इसके सर्वथा विपरीत होता है। अपनी वासना के कारण ही मन में विकल्प उठते हैं और अहंकार की सृष्टि होती है। प्रबुद्ध चित्त में वासना को आश्रय नहीं मिलता, फलतः न वहाँ विकल्प होते हैं न अहंकार। इन्हीं के कारण मनुष्य सुख दुःख के अनेक झमेलों को झेलता है। तृष्णा और इच्छा, राग आदि मनुष्य के चित्त को अंधा बना देते है, इसीलिये उसमें अहं और विकल्पों की सृष्टि होती है जिसके परिणामस्वरूप सुख दुःख उत्पन्न होते है। तात्पर्य यह कि ये विकल्प, अहंकार वासना, आदि चित्त से ही उत्पन्न होते हैं। किंतु ये सभी अप्रबुद्ध चित्त की सृष्टियाँ हैं। पदार्थों की निःस्वभावता का दर्शन करने से चित्त प्रकाशित होता है। अतः चित्त सत्य

है। वह सभी प्रकार के विभेदों से परे है, तर्क और विश्लेषण से परे है। इस प्रकार का त्रिगुणीभूत (वासना, विकल्प, अहंकार) संसार स्वयंभू चित्त की छाया मात्र है। अतः चित्त मात्र ही सत्य है।[६२]

पदार्थों की समता या तथता का दर्शन करनेवाला चित्त तथता या समता के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इस तथता या समता में ही सभी प्रकार के विरोधों का लय हो जाता है। यह हमारे अनेक विभेदों और तर्कों से परे है। यह संसार माया है। जिनका चित्त द्वैतपरक तर्कों से नष्ट नहीं हो गया है, वे इस संसार को सदैव अपने चित्त की छाया ही समझते हैं। साधक अपनी सर्वातिरिक्त स्थिति से, संसार और निर्वाण की समता का दर्शन करता है फिर भी विश्वात्मक निर्माण और उच्चतम ज्ञानानुभव के लिये सर्वदा प्रयत्नशील रहता है। उसके चित्त की इस अवस्था को मायोपम समाधि की अवस्था कहा जाता है। यद्यपि यह चित्त की पर्याप्त ऊँची भूमि है, फिर भी इससे भी ऊँची भूमि का अनुभव देही चित्त करता है। जब साधक का चित्त वज्रबिंबोपम समाधि में प्रवेश करता है, तब वह बुद्धकाय की प्राप्ति करता है। ऐसी अवस्था में वह अनेक सिद्धियों, ऋद्धियों, शक्तियों का अधिकारी हो जाता है। दुःखी प्राणियों के हित के लिये इच्छारूप धारण करने की शक्ति उसमें आ जाती है। वह सभी बुद्धक्षेत्रों की यात्रा कर सकता है तथा सभी बुद्धकार्यों को करने में समर्थ हो जाता है।

इस प्रकार बौद्ध जीवन का उद्देश्य है—एक विशेष प्रकार का आध्यात्मिक विराग (स्पिरिचुअल रिवल्सन) या परावृत्ति प्राप्त करना, जिससे हम द्वंद्व और अहं से पूर्ण संसार के इस तट से निर्वाण के दूसरे तट पर पहुँच सकें, जहाँ अहंकारी प्रवृत्तियाँ और इच्छाएँ नहीं हैं। इस परावृत्ति की प्राप्ति के लिये आध्यात्मिक अनुशासन या योग आवश्यक है जो साधक को अंतः-

---

६२. स्टडीज इन दि लंकावतार सूत्र—डी० टी० सुजुकि, पृ० ९८–९९।

स्थित होने में सहायक होता है। इसी को प्रज्ञा या बोधि या अंतश्चक्षु का उद्घाटन भी कहा जाता है। लंकावतार ने इसी को प्रत्यात्मार्यज्ञानगोचर या स्वसिद्धांत कहा है। इस ग्रंथ का मूल उपदेश ही अंतर्दर्शन है जिससे हमारे संपूर्ण जीवन में आध्यात्मिक जागृति हो जाती है।[६३]

लंकावतार सूत्र ने अंतःसाक्षात्कार पर बहुत अधिक जोर दिया है। यह अंतर्दर्शन सभी प्रकार के धार्मिक सामर्थ्य और कृपा का स्रोत है। सामान्यतया महायान बौद्ध धर्म यह मानता है कि सभी पदार्थ निःस्वभाव हैं, शून्य हैं। यह संसार चित्त की छाया है। परमोद्देश्य तक पहुँचने के लिये यह आवश्यक है कि सभी प्रकार के द्वंद्वों की सीमा का अतिक्रमण किया जाय। साथ ही बोधि का अनुभव या संवेदन चित्त या अंतःकरण में ही किया जाय। किंतु लंकावतार ने अपने विशेष ढंग से इन विचारों को ग्रहण किया है। इसका कारण यह है कि इसने आत्मसाक्षात्कार पर अधिक जोर दिया है। उसकी दृष्टि में बिना इसके बौद्ध जीवन दार्शनिक व्यायाम मात्र होगा। इस साक्षात्कार को इसने प्रत्यात्मगति या स्वसिद्धांत संज्ञा से अभिहित किया है। इस प्रकार लंकावतार सूत्र उस आंतरिक गंभीरतम सत्य के अंतःसाक्षात्कार का उपदेश करता है जो भाषा और तर्क से परे है। इन उपदेशों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रंथ रहस्यसाधना के संकेतों से पूर्ण है।[६४]

यह ग्रंथ अन्य सूत्रग्रंथों से, कुछ दृष्टियों से, भिन्न भी है। इसने बोधिचित्तोत्पाद की ओर कहीं भी संकेत नहीं किया है। इस दृष्टि से यह ग्रंथ उन प्रज्ञापारमिता ग्रंथों से पूर्णतया भिन्न है जो बोधिचित्तोत्पाद पर विशेष बल देते हैं। बोधिचित्तोत्पाद मत या पारमिता मत यह मानता है कि बोधिसत्त्व को महायान का उपदेश करना चाहिए और उसके सत्य के साक्षात्कार

---

६३. वही, पृ० ९९–१०१।

६४. वही, पृ० १०१–१०२।

के लिये प्रयत्नशील होना चाहिए। बिना इस जागरण या उत्पाद के आध्यात्मिक योग में प्रगति असंभव है। अतः सभी महायान सूत्र बोधिचित्तोत्पाद को प्रथम महत्व देते हैं। इस उत्पाद के हो जाने पर कभी एक समय ऐसा अवश्य आएगा जब अंततः बोधि की प्राप्ति होगी। किंतु लंकावतार इस प्रतीक्षा की अपेक्षा बोधिसत्व का शीघ्र ही उस सत्य के साक्षात्कार के लिये आवाहन करता है। उसकी दृष्टि में इस प्रकार का क्रमागत विकास अनावश्यक है। इस ग्रंथ में दूसरी नवीन बात यह है कि इसमें बुद्ध, महामति को सम्बोधि का नहीं प्रत्यात्मगोचर का उपदेश करते हैं। जिस व्यक्ति ने प्रत्यात्मज्ञान प्राप्त कर लिया है वह बुद्ध है। यह प्रत्यात्मज्ञान बोधि न होकर एक प्रकार का अनुभव या गोचर है।[६५]

लंकावतार के गोचर या गतिगोचर का अर्थ संसार और जीवन के प्रति विशेष प्रकार की वृत्ति की उत्पत्ति और विकास से संबद्ध है। यह केवल विचारात्मक या दार्शनिक नहीं है। इस प्रकार की वृत्ति चित्त की क्रियाओं के निश्चित मोड़ से प्राप्ति होती है। संबोधि, परावृत्ति या विराग का ज्ञानात्मक पक्ष है, जिसका अनुभव साधक करता है। इस प्रकार का संबोधि तो हीनयान और महायान दोनों में मिलता है किंतु लंकावतार सूत्र इस प्रकार के सत्य-दर्शन को बौद्ध जीवन का ध्येय न मानकर सतत ऐसे अनुभव से पूर्ण जीवन को उद्देश्य मानता है। दूसरे शब्दों में वह दर्शन की अपेक्षा आचार को अधिक महत्व देता है। ये दर्शन और आचार दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। इस प्रकार लंकावतारसूत्र गोचर, गतिगोचर, प्रत्यात्मगोचर या आत्मसाक्षात्कार, स्वसंवेदन अथवा स्वसिद्धांत या सतत सत्यानुभव पर सबसे अधिक जोर देता है।[६६]

---

६५. वही, पृ० १०३–१०४।

६६. वही, पृ० १०५।

इस प्रकार का स्वसंवेदन प्रत्येक प्राणी के हृदय में तथागत गर्भ की उपस्थिति से संभव होता है। तथागतत्व का बीज जिसमें रहता है उसी को तथागत गर्भ कहते हैं जिससे पूर्ण प्रबुद्ध प्राणी का विकास होता है। यह साधारणतया विकल्पों या परिकल्पों और अभिनिवेशों से आवृत या कंचुकित रहता है। अर्थात् गर्भ मूलतः शुद्ध और निर्मल है। साधक को चाहिए कि वह इसे सदैव नैसर्गिक अवस्था में तथा विकल्पों, वासनाओं तथा अहंकार आदि से स्वतंत्र रखे। यह मिट्टी के आवरण में छिपा हुआ अमूल्य हीरा है। अनावृत कर देने पर इसके प्रकाश में सभी पदार्थ अपने स्वाभाविक रूप में दिखाई पड़ने लगते हैं। इस प्रकार प्राप्त की हुई अवस्था ही आत्म-साक्षात्कार या प्रत्यात्मगति की अवस्था है। यह गर्भ विचार-वितर्क और सिद्धियों से पूर्णतया परे है। इसीको दशभूमिक ग्रंथ, तथा लंकावतार भी, अविकल्पज्ञान या निर्विकल्पज्ञान कहते हैं।[६७] इसीमें तथताज्ञान की प्राप्ति होती है, उसका सतत अनुभव होता है। जो लोग संसक्त है, वे इस तत्व को नहीं समझते। यह तत्व वाणी और विश्लेषण से सर्वथा परे है। उस परम क्षण की व्याख्या के लिये 'तथा' शब्द ही किसी प्रकार समर्थ हो सकता है। इसीलिए ऐसे तत्व के लिए तथता शब्द का प्रयोग किया जाता है। किंतु यह कथन भी किसी हदतक परिकल्पित ही है।[६८]

तात्पर्य यह कि इस चित्त के आवरण के मूल कारण हैं वासना, अहंकार और विकल्प। अहंकार का अर्थ है प्रत्येक पदार्थ को सस्वभाव रूप में ग्रहण करना तथा इन्हीं के कारण चित्त में वासना, इच्छा, तृष्णा आदि को स्थान देना। इस अहंकार को ही लंकावतार प्रभेदनयलक्षण या विषय

---

६७. पातंजल योग सूत्र की निर्विकल्प समाधि से तुलनीय।

६८. स्टडीज इन दि लंकावतार सूत्र, सुज़ुकि, पृ० १०५-१०७।

परिच्छेदलक्षण नाम से अभिहित करता है।[६९] शैवों के कंचुक और पाश का विचार भी तुलना के लिए इस प्रसंग में किया जा सकता है।

सामान्य दृष्टि से देखने पर यह संसार माया है किंतु प्रज्ञाचक्षु से देखने पर यह संसार सत्य है। अतः तार्किक दृष्टि से माया संसार के पदार्थों में निहित रहनेवाला गुण नहीं है। माया का संबंध द्रष्टा या प्रमाता से है। माया को संसार से संबद्ध मान लेने पर चित्त विकल्पों से परिचालित होगा। ये सभी कथन यह स्पष्ट करते हैं कि निर्वाण की प्राप्ति तथता के स्थान दर्शन या यथाभूतार्थ स्थान दर्शन से होती है। यही एक स्थान है जहाँ विकल्प का प्रवेश नहीं है। निर्वाण निर्निमित्त है। न वह आता है न जाता है। यथाभूतदर्शन या सभी पदार्थों के स्वभाव का दर्शन करना या सभी पदार्थों की शून्यता का दर्शन करना ही निर्वाण है क्योंकि सभी पदार्थों की निस्वभावता ही उनका स्वभाव है। इस दर्शन में चित्त यह अनुभव करता है कि सभी पदार्थ अनुत्पाद हैं, अपनी कार्य-कारण शृंखला में उस अनंत अतीत काल तक बँधे हैं कि उनके कारण का पता नहीं चलता। उनका यह सत्य चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है, विकल्पों से परे है।[७०]

इस प्रकार लंकावतार सूत्र के उपदेश अन्य सूत्र ग्रंथों से भिन्न हैं। इसके अनुसार साधक को चाहिए कि वह संसार में रहते हुए ही अपने चित्त में संसार के पदार्थों की निःस्वभावता का अथवा तथता का अनुभव करे। ऐसे साधक की दृष्टि में यह संसार चित्त की छाया मात्र है। प्रबुद्ध योगाचारी प्रज्ञाचक्षु से इस संसार को सर्वथा मिथ्या नहीं मानता। अप्रबुद्ध व्यक्ति अपने अप्रकाशित चित्त या कंचुकित या आवृत चित्त द्वारा संसार के ऊपर मिथ्यात्व आरोपित करता है। अर्थात् मिथ्यात्व का कोई अस्तित्व

---

६९. वही, पृ० ११०–१११।

७०. वही, पृ० ११४–११५, १२२–१२८।

नहीं है। इस प्रकार के सत्य का सतत चित्त में अनुभव करना ही प्रत्यात्म-ज्ञान या प्रत्यात्मगति या स्वसिद्धांत है। लंकावतार यह मानता है कि प्रत्येक प्राणी के चित्त में तथागतगर्भ का निवास है। आवरणों का प्रणाश कर, आचार की सहायता से साधक इसी का तथागत या बुद्ध के रूप में प्रकाशन करता है। इसके आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि साधक को इस साधना की यात्रा में जिस बुद्धत्व की प्राप्ति होती है, वही योगाचारियों का चरम और अंतिम प्राप्तव्य है। लंकावतार के इन विचारों से यह पता चलता है कि वह जीवन्मुक्ति को मानता है। इस जीवन्मुक्ति की अवस्था में साधक में अनेक अलौकिक सिद्धियों, ऋद्धियों, शक्तियों का अभ्युदय होता है। किंतु इन सबका उपयोग वह संसार के दुःखी प्राणियों के उद्धार के लिये, करुणा-प्रसार के लिये ही करता है। इस आध्यात्मिक योग की यात्रा में पूर्ववर्णित बौद्ध योग का विकास दिखाई देता है। लंकावतार के इन उपदेशों से उसकी यह वृत्ति स्पष्ट हो जाती है कि वह शीघ्रातिशीघ्र बुद्धत्व और निर्वाण प्राप्त कराने के लिये प्रयत्नशील है। पारमिता मत पंचपारमिताओं के अभ्यास के बाद यह संभावना करता है कि एक न एक समय ऐसा अवश्य आएगा कि साधक को प्रज्ञा की प्राप्ति होगी और वह बुद्धत्व प्राप्त करेगा। किंतु लंकावतार उपरोक्त आचार की सहायता से इसी जीवन में बुद्धत्व प्राप्ति की संभावना करता है। चित्त तत्व की प्रतिष्ठा, माया का प्रमाता से संबंध, चित्त के आवरणों का विचार, चित्त की निर्विकल्प अवस्था, बुद्ध का लंका में शैव रावण को उपदेश देना, अंतः—साक्षात्कार की महत्ता—ये सभी बातें ये संकेत करती हैं कि लंकावतार द्वारा प्रवर्तित रहस्यमय साधनापद्धति का तांत्रिक शैव साधना के साथ विचार करना चाहिए और जिससे औपनिषदिक योग, पातंजल योग और बौद्धयोग के परस्पर आदान प्रदान के अमूल्य तथ्य उद्घाटित होंगे।

———

६. तांत्रिक महायान धर्म

बुद्धभक्ति, बुद्धकृपा, अनेक स्वर्गों, देवताओं, देवियों की कल्पना की ओर पूर्व परिच्छेद में संकेत किया जा चुका है। ये ही तत्व मंत्रों, धारणियों आदि को उत्पन्न करने के उत्तरदायी हैं। अद्वयवज्रसंग्रह में संगृहीत 'तत्वरत्नावली' में महायान को दो भागों में बाँटा गया है—पारमितानय और मंत्रनय। मंत्रनय या मंत्रयान सामान्य व्यक्तियों के लिये अत्यधिक कठिन और गंभीर है। इसे उपरोक्त ग्रंथ में केवल उन्नत लोगों के लिये उपयुक्त बताया गया है।[1] इसी मंत्रनय से परवर्ती संप्रदाय विकसित हुए—वज्रयान, कालचक्रयान, सहजयान।

तांत्रिक महायान धर्म, दर्शन और साधना का आद्य आचार्य कौन था, इस विषय में बहुत विवाद है। जो लोग असंग को तंत्रयान के प्रारंभिक चरण का पुरस्कर्ता मानते हैं, उनके अनुसार महायान सूत्रालंकार में प्रयुक्त 'परावृत्ति' शब्द यौन-यौगिक साधना की ओर संकेत करता है। असंग का सूत्रालंकार, साधना की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ में

१—अद्वयवज्रसंग्रह—सं० डा० विनयतोष भट्टाचार्य, गा० ओ० सि०, पृ० १४, तथा पृ० २१।

'महायानं च द्विविधं पारमितानयो मन्त्रनयश्चेति।'—पृ० १४।

'मन्त्रनयस्तु अस्माद्वि(धे)रिहातिगम्भीरत्वाद् गम्भीरनयाधिमुक्तिक—पुरुष विषयत्वात् चतुर्मुद्रादिसाधनप्रकाशनविस्तरत्वाच्च न व्याक्रियते ५ तथा च—

एकार्थत्वेऽप्यसंमोहात् बहूपायाद्दुष्करात्।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मंत्रशास्त्रं विशिष्यते॥'—पृ० २१।

स्पष्टतया यह कहा गया है कि मनोवृत्ति के भेद से विभिन्न प्रकार के विभुत्वों की प्राप्ति होती है। परावृत्ति वे क्रियाएँ हैं जिनसे बौद्ध विभुक्त की प्राप्ति होती है। ये क्रियाएँ भी कई प्रकार की हैं—पंचेंद्रियपरावृत्ति, मानसपरावृत्ति सार्थोद्ग्रह परावृत्ति, विकल्प परावृत्ति, प्रतिष्ठापरावृत्ति, मैथुन परावृत्ति। इस परावृत्ति शब्द के अर्थ पर अत्यधिक विवाद है।

प्रो० एस० सिल्वाँ लेवी ने 'मैथुनस्य परावृत्तौ' का अनुवाद 'रिवोल्यूशन' या 'केंद्र के चतुर्दिक भ्रमण' या परिवर्तन किया है। उन्होंने स्पष्टतः इसका संबंध बुद्धों और बोधिसत्त्वों के साधनात्मक और रहस्यमय युग्मों से जोड़ दिया है जिनका तांत्रिक मत में अत्यधिक महत्व है। यदि इस अर्थ को स्वीकार कर लिया जाय तो यह मानना होगा कि महायान बौद्ध धर्म में असंगकाल (चतुर्थ-पंचम ईस्वी शताब्दी) में ही तांत्रिक विचारों का प्रवेश हो गया था।[२] एक दूसरा और भिन्न अर्थ डा० विंटरनित्स ने उपस्थित कर लेवी के अर्थ का खंडन किया है। उनकी दृष्टि में परावृत्ति का अर्थ 'विराग करना या किनारे करना या हटाना' है। उन्होंने संबद्ध श्लोकों का अनुवाद कर यह स्पष्ट करने का यत्न किया है कि मैथुन से विरति करने से, हटने से परम विभुत्व की प्राप्ति वैसे ही हो सकती है जैसे बुद्ध के सौख्य विहारों के भोग से अथवा दारा के ऊपर शुद्ध दृष्टिपात से।[3] लंकावतार—सूत्र का परिचय देते समय यह बताया गया है कि श्री सुजुकि ने परावृत्ति का अर्थ विराग, 'आत्मा की आकस्मिक जाग्रति या उत्पाद' किया है। सुजुकि के अर्थ की ओर संकेत कर विंटरनित्स ने संसार और सत्य संबंधी

---

२. ट्रांसलेशन आफ दि सूत्रालंकार—सिल्वाँ लेवी, पृ० ८१; स्टडीज इन दि तंत्रज, भाग १, डा० प्रबोधचंद्र बागची, पृ० ८७।

३. इं० हि० क्वा०, मार्च, १९३३, पृ० ८, नोट्स आन दि गुह्यसमाज ऐंड दि एज आफ दि तंत्रज—ले० डा० विंटरनित्स।

सामान्य विचारणा से अलग रहने' का अर्थ उपस्थित किया है। यह परावृत्ति उनकी दृष्टि में मानसिक वृत्तियों का पूर्ण परिवर्तन है। उसी आधार पर 'मैथुनस्य परावृत्तौ' का अर्थ उन्होंने मैथुन से विरति या विरोध ग्रहण किया है।[४]

डा० प्रबोधचंद्र बागची ने अपना भिन्न अर्थ उपस्थित किया है। इस शब्द की व्याख्या के लिये 'वृत्ति' और 'आवृत्ति' दो शब्दों पर ध्यान जाना आवश्यक है। 'वृत्ति' से मन की अग्राभिमुख आवर्तन क्रिया की ओर संकेत होता है जब कि 'परावृत्ति' शब्द के 'परा' अंश से पीछे की ओर की आवर्तन क्रिया की ओर संकेत होता है। अर्थात् 'परावृत्ति' का शाब्दिक अर्थ है—किसी विरुद्ध विंदु की ओर मानस-व्यापार को पलटना। इस प्रकार डा० विंटरनित्स का अर्थ 'परावृत्ति' से शब्दशः भी सिद्ध होता नहीं दिखाई देता। अतः डा० बागची का अर्थ है—किसी उच्चतम प्रयोजन के लिये मानसिक वृत्तियों का पीछे की ओर आवर्तन। इस अर्थ के प्रमाण के लिये उन्होंने विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (त्रिंशिका) आदि को भी उद्धृत कर यह दिखाने का प्रयास किया है कि साधारणतया चित्त के ऊपर दो प्रकार के आवरण—क्लेशावरण और ज्ञेयावरण–रहते हैं। परावृत्ति, प्रश्रब्धि या चित्त की शिथिलिता या हलकापन को सूचित करता है। प्रश्रब्धि दौष्ठुल्य का विरोधी है। यह दौष्ठुल्य दो प्रकार का होता है। प्रश्रब्धि दौष्ठुल्य और ज्ञेयावरण दौष्ठुल्य। इन दोनों दौष्ठुल्यों की हानि से, उनके प्रहाण से, आश्रय परावृत्ति या आलयविज्ञान की परावृत्ति की प्राप्ति होती है। लंकावतार सूत्र में परावृत्ति की अवस्था को अप्रवृति और अविकल्प की अवस्था कहा गया है।[५] लंकावतार से यह भी स्पष्ट होता है कि बोधिसत्त्व

---

४. वही, पृ० ७८।

५. स्ट० तं०, भाग १, डा० प्रबोधचंद्र बागची, पृ० ८७–८९। श्रीबागची द्वारा उद्धृत उद्धरण निम्न हैं—

परावृत्ति की सहायता से आठवीं भूमि में प्रवेश करता है जिसे अनाभोग या अचला कहते हैं। चित्त का निर्माण सात भूमियों से होता है, आठवीं भूमि निराभास होती है और अंतिम दो—साधुमती और धर्ममेघा, विहार की भूमियाँ हैं जिनमें अंतिम भूमि भावात्मक अवस्था है। श्री बागची का निष्कर्ष यह है कि सूत्रालंकार के इन विवादास्पद श्लोकों के 'बुद्धानाम् अचले पदे', 'बुद्ध सौख्य विहार' और 'आकाश संज्ञा व्यावृत्ति' अंशों से अचला, साधुमती और धर्ममेघा नाम की अंतिम तीन भूमियों की ओर संकेत किया गया है। तात्पर्य यह कि परावृत्ति का प्रयोग इन अंतिम तीन भूमियों से संबद्ध है जिनमें बुद्धत्व पूर्णतया प्राप्त हो जाता है। इन अवस्थाओं में मन और इंद्रियों का विराग या उनका तिरस्कार, विकल्प, मैथुन आदि का कोई प्रश्न ही नहीं

"प्रतिष्ठायाः परावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्।
अप्रतिष्ठितनिर्वाणं बुद्धानामचले पदे ॥ ४५ ॥
मैथुनस्य परावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्।
बुद्धसौख्यविहारोऽथ दारासंक्लेश दर्शने ॥४६॥" सूत्रालंकार।
"यदा त्वालम्बनं ज्ञानं नैवोपलभते तद।
स्थितं विज्ञानमात्रत्वे ग्राह्याभावं तदग्रहात् ॥
अचित्तोऽनुपलम्भोसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च तत्।
आश्रयस्य परावृत्तिर्द्विधा दौठुल्यहानितः ॥"
(त्रिंशिका कारिका, २८–२९)

"आश्रयस्य परावृत्तिरिति। आश्रयोऽत्र सर्व्वबीजकमालयविज्ञानम्। तस्य परावृत्तिर् या दौष्ठुल्यविपाकद्वयवासनाभावेन निवृत्तौ सत्यां कर्मण्यता धर्मकायाद्वयज्ञानभावेन परावृत्तिः। सा पुनराश्रयपरावृत्तिः कस्य प्रहाणात् प्राप्यते। अत आह। द्विधा दौष्ठुल्यहानितः द्विधेति क्लेशावरणदौष्ठुल्यं ज्ञेयावरणदौष्ठुल्यम् ॥" —(त्रिंशिका कारिका की स्थिरमति की टीका)
"अप्रवृत्तिविकल्पस्य परावृत्तिनिराश्रयः"—पृ० २४५, लंकावतार।

उठता क्योंकि इन सबका विचार तो प्रारंभिक सात भूमियों में किया जाता है। इन अवस्थाओं में बोधिसत्त्व संसार और उसके उपद्रवों से पूर्णतया परे होता है। इस परावृत्ति की तुलना निर्वाण से की गई है। यह आनंदमय स्थिति है। अतः 'मैथुनस्य परावृत्तौ' का अर्थ मैथुन से विरति या विराग न होकर 'मैथुनजनित आनंद के समान सुख का उपभोग' अर्थ है। इस प्रकार का औपम्यविधान औपनिषदिक साहित्य में भी दिखाई देता है।[६]

डा० बागची के उपरोक्त अर्थनिर्णय से सहमत होने पर यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि असंगकाल में यद्यपि साधना में मैथुन को या शक्तितत्व को स्थान नहीं मिला था किंतु उस समय इस प्रकार की साधना बौद्धेतर मतों में अवश्य प्रचलित थी जिसकी ओर अप्रत्यक्ष संकेत असंग ने किया है। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि असंगकाल में साधना में न शक्तितत्व की महत्ता थी और न मैथुन को ही स्वीकृति दी गई थी। अतः असंग इस प्रकार की तांत्रिक साधना के पुरस्कर्ता भी नहीं थे। डा० बागची और सुजुकि के अर्थ का विवेचन करने से यह निष्कर्ष निकल सकता है कि परावृत्ति चित्त की वृत्तियों का वह परिवर्तन है जिसमें साधक संसार की वस्तुओं के प्रति अपने दृष्टिकोण और व्यवहार को बदल देता है। सामान्य को भी वह असामान्य दृष्टि से देखता है। पदार्थों को सस्वभाव और संसार को माया मानना सामान्य दृष्टि है। इस सामान्य दृष्टि और व्यवहार से उलटकर पुनः चित्त के नैसर्गिक बिंदु की ओर चित्त का आवर्तन ही परावृत्ति है। इसी को निर्वाण कहा गया है। यही चित्त की निर्विकल्पावस्था है। महायान में निर्वाण का भावात्मक अर्थ स्वीकृत हो चुका था। धम्मपद आदि प्राचीन ग्रंथों में ही निर्वाण को सुखमय माना गया था। अतः ऐसी अवस्था में चित्त की परावृत्त अवस्था को सुखात्मक अवस्था मानना, उसकी मैथुनजनित सुख से उपमा देना, धर्ममेधा भूमि से उसकी

---

६. स्ट० तं०—बागची, पृ० ९०-९२।

तुलना करना, उसी के समकक्ष मानना, सर्वथा उचित है। जिन उपनिषदों से योग साधना को ग्रहण किया गया, जिस आस्तिक परंपरा से निर्विकल्प समाधि को ग्रहण किया गया, उसी परंपरा से परमानुभव और परमावस्था का वर्णन करने की शैली को भी ग्रहण करना सर्वथा स्वाभाविक है।

डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने एक अन्य आधार पर असंग को तांत्रिक साधना का आद्य आचार्य माना है। उनका कहना है कि असंग गुह्यसमाजतंत्र या तथागतगुह्यक के रचयिता थे। इस बौद्ध तांत्रिक ग्रंथ में षटकर्म, पंचमकार तथा सिद्धियों पर विस्तृत उपदेश दिये गए हैं। इनके उपयोग की खुली छूट है। भट्टाचार्य महोदय का कहना है कि इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता है–बौद्ध धर्म में शक्ति तत्व को प्रतिष्ठित करना। बौद्ध धर्म में पंच ध्यानी बुद्धों और उनकी शक्तियों की कल्पना सबसे पहले इसी ग्रंथ ने उपस्थित की। मंजुश्रीमूलकल्प को, उसमें पंचध्यानी बुद्धों का व्यवस्थित प्रतिपादन न होने के कारण, गुह्य समाज से पूर्व का मानना चाहिए। डा० भट्टाचार्य ने असंग का समय भी तीसरी ईस्वी शताब्दी माना है जबकि अन्य अधिकांश विद्वान् चौथी शताब्दी मानते हैं। मंजुश्रीमूलकल्प का समय भी लगभग ७ वीं शताब्दी के बाद ही अधिकांश विद्वान् मानते हैं। चौथी शताब्दी के महायानी आचार्य को तांत्रिक आचार्य सिद्ध करने के लिये उन्होंने साधनामाला के 'प्रज्ञापारमिता साधन' को असंगकृत माना है।[७]

किंतु डा० भट्टाचार्य के ये निष्कर्ष स्वीकार्य नहीं है। असंग जैसे महायान के महनीय आचार्य से षटकर्म, पंचमकार, सिद्धियों आदि की खुली छूट देने वाले ग्रंथ की रचना की संभावना करना सर्वथा अनुचित है। चीनी और तिब्बती परंपराओं के आधार पर यह भी कहा जाता है

---

७. गुह्यसमाजतंत्र—सं० विनयतोष भट्टाचार्य, इंट्रोडक्शन, पृ० १९ और आगे, इंट्रो० पृ० ३२ और आगे।

कि तुषित लोक में असंग ने मैत्रेय से तंत्र की शिक्षा ली थी। इस प्रकार का कथन केवल संप्रदाय या मतविशेष की महत्ता और माहात्म्य को बढ़ाने के लिये ही साधारणतया किया जाता है। असंग गुह्यसमाजतंत्र के रचयिता थे, इसे सिद्ध करने के लिये न कोई परंपरा है और न आधिकारिक और प्रामाणिक विवरण ही। चीनी और तिब्बती में प्राप्त असंग की रचनाओं में भी इस प्रकार की रचना को मैत्रेय से प्राप्त करने का कोई संकेत नहीं मिलता। इस रचना की भाषा भी अन्य तांत्रिक ग्रंथों की भाषा से अत्यधिक निम्न कोटि की है। महायान सूत्रालंकार के रचयिता चाहे मैत्रेयनाथ हों या असंग हों, उससे भी इसकी भाषा की तुलना नहीं की जा सकती है।[८] परावृत्ति शब्द के उपरोक्त विवेचन के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि असंग तांत्रिक साधना के विशेषकर मैथुनयुक्त तांत्रिक साधना के समर्थक नहीं थे और न उन्होंने शक्ति तत्व को ही सबसे पहले बौद्ध धर्म में प्रतिष्ठित किया।

तांत्रिक साधना के तत्वों का विचार करते समय कुण्डलिनी योग, मंत्र, यंत्र, षटकर्म, सिद्धियाँ, पंचमकार, हठयोग, अधिकारभेदवाद, गुरुशिष्यवाद आदि तत्वों के साथ शक्ति तत्व को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिए। डा० विंटरनित्स ने तंत्र शब्द को केवल शक्ति तत्व में ही सीमित कर दिया है। अतः उन्होंने केवल उन्हीं ग्रंथों को तांत्रिक ग्रंथ माना है जो शक्ति-पूजा और शक्ति सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। ऐसे ग्रंथ, उनकी दृष्टि में सातवीं शताब्दी के पूर्व के सिद्ध नहीं किए जा सकते। उसके प्रमाण में उन्होंने यह तर्क दिया है कि सद्धर्मपुंडरीक और लंकावतार सूत्र जैसे प्रगतिशील वैपुल्य सूत्रों के तांत्रिक तत्वों वाले अंश, जिनमें धारणियों और मंत्रों के प्रयोग मिलते हैं, ७ वीं शताब्दी के पहले के नहीं हैं।[९] डा० ग्विसेप तुसी का

---

८. इं हि० क्वा०, मार्च १९३३, विंटरनित्स का लेख, पृ० ५-६।

९. वही, पृ० ८।

तांत्रिक शब्द का प्रयोग अत्यधिक भ्रमोत्पादक है। इसके आधार पर तो तंत्रों का इच्छानुसार काल निश्चित किया जा सकता है। शक्ति जैसे तत्व को तंत्रों का एकमात्र अनिवार्य तत्व न मानने के कारण ही उन्होंने तंत्रों का समय हरिवर्मन और असंग (चतुर्थ ईस्वी शताब्दी) तक ले जाने का प्रयास किया है।[१०]

कुछ लोगों ने रसायनी नागार्जुन, तांत्रिक नागार्जुन और दार्शनिक नागार्जुन को अभिन्न मानकर उन्हें ही तांत्रिक बौद्ध साधना का प्रवर्तक माना है। इसमें कोई संदेह नहीं कि नागार्जुन असंग से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व हुए थे। किंतु श्री विनयतोष भट्टाचार्य ने नागार्जुन के लिये आद्य तांत्रिक आचार्य होने की कल्पना भी नहीं की है। डा० विंटरनित्स का अनुमान है कि नागार्जुन भी कई थे। केवल नाम-साम्य के आधार पर सबको अभिन्न मानकर तांत्रिक साधनाओं का प्रवर्तक सिद्ध करना अनुचित है।[११] नागार्जुन नाम के एक व्यक्ति ने सुश्रुत पर उत्तरतंत्र नाम की टीका लिखी थी। एक नागार्जुन तंत्र ग्रंथों के लेखक थे जिनका समय ७ वीं शताब्दी है। 'रसरत्नाकर' के लेखक नागार्जुन का समय, विद्वानों ने ८ वीं शताब्दी स्थिर किया है। इस ग्रंथ में नागार्जुन और उनके मित्र शातवाहन सम्राट् का एक संवाद भी मिलता है। इसी ग्रंथ के तृतीय परिच्छेद के आरंभ में कहा गया है कि नागार्जुन ने स्वप्न में प्रज्ञापारमिता का साक्षात्कार किया था और उनसे उन्हें औषधि बनाने का एक नुस्खा भी प्राप्त हुआ। कुमारजीव (४०५ ई०) ने उन्हें ऐंद्रजालिक माना है। वे अपनी शक्ति से अंतर्धान भी हो सकते थे। एक नागराज की सहायता से उन्होंने महायानसूत्रों पर एक भाष्य भी प्राप्त किया था। वे ज्योतिष, आयुर्वेद के पंडित थे। बाण ने हर्ष-

---

१०. ए हि० इं० लि०, वा० २, विंटरनित्स, पृ० ६२४; जे० ए० एस० बी०, खंड २६, १९३०, पृ० १२९ और आगे।

११. ए हि० इं० लि०, वा० २, विंटरनित्स, पृ० ३४४, पादटिप्पणि।

चरित में यह वर्णन किया है कि नागार्जुन ने एक नागराज से एक मोतियों का हार प्राप्त किया था जो सर्पदंश के अतिरिक्त अन्य पीड़ाओं का भी हरण करनेवाला था। तिब्बती इतिहास में नागार्जुन एक महान् बलशाली ऐंद्रजालिक और सिद्ध के रूप में दिखाई देते हैं। अतः विभिन्न प्रकार के विषयों के आचार्य और ग्रंथरचयिता नागार्जुन एक ही होंगे, इसमें संदेह है। वास्तव में उन्होंने इतनी अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी कि उनके अभ्युदय के बाद शताब्दियों तक जिस किसी रचना को प्रसिद्ध और प्रामाणिक बनाना होता था उसे उनके नाम से प्रसिद्ध कर दिया जाता था।[१२] साधनमाला (१२ वीं शताब्दी) में नागार्जुन 'साधन' रचयिता के रूप में प्रकट हुए। वास्तव में जिस नागार्जुन को साधना और तांत्रिक ग्रंथों का रचयिता माना जाता है, वे माध्यमिक मत के प्रतिष्ठापक न होकर ७ वीं शताब्दी के मध्यभाग के नागार्जुन थे, जिनके विषय में कहा जाता है कि उन्होंने भोट (तिब्बत ?) से एक 'साधन' का उद्धार किया था। इनकी अनेक तांत्रिक रचनाएँ तिब्बती तेंजुर में प्राप्त होती हैं।[१३] अनेक परंपराएँ नागार्जुन को तारा और चंडिका की कृपा से अनेक प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करनेवाला बतलाती हैं। प्रज्ञापारमिता ग्रंथ के ही उद्धार के लिये उन्होंने नागलोक की यात्रा की थी। इसे 'सीलोन' या लंका का प्रदेश मानना चाहिए। माध्यमिक मत के प्रतिष्ठापक ने लंका इत्यादि में वैपुल्य सूत्रों का अध्ययन कर आंध्र प्रदेश में नागार्जुनी कोंडा तथा महाचैत्य की स्थापना की थी। अनेक शिलालेखों और अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय (द्वितीय से षष्ठ शताब्दी तक) दक्षिण भारत के मुखलिंगम् जैसे स्थानों में तांत्रिक साधना प्रचलित थी।[१४] बाणभट्ट

१२. ए० हि० इं० लि०, वा० २, पृ० ३४३–४४।

१३. वही, पृ० ३९२–९३।

१४. बुद्धिष्ट रिमेंस इन आंध्र ऐंड दि हिस्ट्री आफ आंध्र बिट्विन २२५ ऐंड

के श्रीशैल संबंधी विवरणों और अन्य विवरणों की जाँच से यह पता लगता है यद्यपि माध्यमिक नागार्जुन के समय में रसायन और मंत्रसिद्धि तथा अन्य तांत्रिक सिद्धियों की साधना प्रचलित थी, अनेक अलौकिक देवियों और शक्तियों की साधना उपासना का प्रचार था किंतु एक देवता के साथ एक देवी या शक्ति की कल्पना का कोई भी संकेत उस समय नहीं मिलता। अतः यह कहा जा सकता है कि शुद्ध तांत्रिक साधना, जिसमें विंटरनित्स की दृष्टि से शक्तिसाधना अनिवार्य तत्व है, लगभग ७ वीं इस्वी के पूर्व बौद्धों में प्रचलित नहीं थी।

तिब्बती ऐतिहासिक लामा तारानाथ की गवाही पर विद्वानों का कथन है कि तांत्रिक साधना अत्यधिक गुप्त रूप से गुरु–शिष्य–परंपरा से असंग से धर्मकीर्ति के समय तक जीवित रही। यह रहस्यसाधना बाद में जनसामान्य में प्रचलित हुई।[१५] दीक्षा के माध्यम से इस प्रकार के रहस्योपदेशों और साधनाओं का चतुर्थ शताब्दी से लगभग सातवीं तक जीवित रहना कुछ विश्वासयोग्य भी है किंतु जिन लोगों ने सिद्धांत रूप में बुद्ध को अनेक प्रकार की मंत्रशक्तियों का विश्वासी मान लिया है उनका कहना है कि मंत्रतंत्र अत्यधिक प्राचीन है। ऋग्वेद में भी मिलता है। इस आधार पर बौद्ध तांत्रिक मंत्रों को ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी तक ले जाना कठिनता से स्वीकार्य हो सकता है। बुद्ध का भी ऋद्धियों में विश्वास था।[१६] किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से इन मान्यताओं को स्वीकार करने में हिचक होती है। प्रायः सभी संप्र-

---

६०० ए० डी०—के० आर० सुब्रह्मण्यन्, पृ० ५३-५८ तथा पृ० ४, ९–१०, ५७–५८, ८३ भी द्रष्टव्य।

१५. इं० हि० क्वा०, मार्च १९३३, पृ० ५।

१६. 'टू वज्रयान वर्क्स' – सं० डा० विनयतोष भट्टाचार्य, इंट्रोडक्शन, पृ० १० तथा पुरातत्व निबंधावली— राहुल सांकृत्यायन, पृ० १३५।

दायों में अपनी सार्वजनीन मान्यता के लिये अपने मत को अधिक से अधिक प्राचीन सिद्ध करने का प्रयत्न देखा जाता है। स्वयं बुद्ध ने इन लौकिक सिद्धियों का विरोध किया था। इसकी पुष्टि प्रसिद्ध चंदनपात्र की कथा से होती है।

मंत्र, यंत्र, मंडल, मुद्रा, शक्तितत्व, पंचमकार आदि तांत्रिक तत्वों को बौद्ध धर्म में उद्घोषित करनेवाला आद्य आचार्य कोई भी रहा हो लेकिन यह निश्चित है कि लगभग छठीं शताब्दी के पूर्व महायान में ये तत्व बीजरूप में प्रविष्ट हो चुके थे। जहाँ तक शक्ति तत्व का प्रश्न है, प्रत्येक देवता के साथ एक एक शक्ति की कल्पना और प्रत्येक साधक के साथ भी साधना के लिये एक एक मुद्रा या योगिनी की अनिवार्यता जैसी विशेषताएँ छठीं शताब्दी के बाद ही प्रविष्ट हुई होंगी। कारण यह है कि ऐतिहासिक दृष्टि से शक्ति तत्व प्रधान तंत्र ग्रंथों का अभ्युदय सातवीं शताब्दी में हुआ। डा० फर्कुहर और डा० विंटरनित्स दोनों का यही मत है। फर्कुहर ने सबसे अधिक प्राचीन हिंदू तंत्र को ७वीं शताब्दी का माना है। इसी आधार पर विंटरनित्स ने गुह्य समाज तंत्र को छठी शताब्दी के पूर्व लिखे जाने के तथ्य को अस्वीकार कर दिया है। उनका कहना है कि शक्ति तत्व की अपेक्षा मंत्र तत्व बौद्ध धर्म में अधिक प्राचीन है। किंतु केवल मंत्र तत्व के आधार पर उसे पूर्णतया तांत्रिक धर्म नहीं कहा जा सकता।[१७] तात्पर्य यह कि तांत्रिक बौद्ध धर्म या महायान के अंतिम चरण या छठीं शताब्दी के पूर्व के समय में मंत्रों और धारणियों का बहुत प्रचार था। जैसा विद्वानों ने स्वीकार किया है, यदि हम यह मान लें कि वज्रयान की साधना गुरु-शिष्य-परंपरा में २०० वर्ष पूर्व से जीवित रही है और उसका खुलेआम प्रचार करनेवाले आचार्य ७ वीं शताब्दी के बाद हुए, तब यह भी कहा जा सकता है कि

---

१७. इं० हि० क्वा०, मार्च, १९३२, पृ० ६, ८ तथा दि रिलिजस क्वेस्ट आफ इंडिया-डा० फर्कुहर ऐंड ग्रिस्वोल्ड, पृ० १९९।

शक्तितत्वसमन्वित बौद्ध साधना का पूर्ण प्रकाशन ७वीं शताब्दी बाद हुआ। इसके पूर्व भी यह साधना प्रचलित रही होगी किंतु इसके लिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। अधिक संभावना इस बात की है कि देशी या विदेशी परंपरा से प्रेरित इस प्रकार की साधना भारत में अवश्य रही होगी जिसका आकस्मिक प्रकाशन ७वीं शताब्दी में विभिन्न तांत्रिक ग्रंथों में हुआ। बुद्ध ने शील और सदाचार की जो घोषणा की थी, उनके स्थान पर धर्मसाधना में शक्ति तत्व या नारी तत्व को प्रतिष्ठित करने में यदि इतना समय लग गया तो कोई आश्चर्य नहीं। वास्तव में बौद्ध धर्म के प्राणतत्व ये शील और सदाचार ही थे। इस प्रकार तांत्रिक महायान धर्म में शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से पुष्ट और धार्मिक दृष्टि से महनीयता प्राप्त शक्तितत्व को ७वीं शताब्दी के बाद स्वीकृति मिली।

तांत्रिक महायान धर्म में मंत्रों और धारणियों की प्रधानता थी। असंग और उनके बंधुओं का समय ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी माना गया है।[१८] असंगबंधु वसुबंधु ने बोधिसत्त्वभूमि में चार प्रकार की धारणियाँ मानी हैं-धर्मधारणी (स्मृति, बल और प्रज्ञा की प्राप्ति के लिये), अर्थ धारणी (धर्मों या पदार्थों के अर्थ या भाव जानने के लिये), मंत्रधारणी (सिद्धियों की प्राप्ति के लिये), क्षांतिधारणी (धर्मार्थों को जानकर उदारता या करुणा की उत्पत्ति के लिये)।[१९] इन धारणियों की व्याख्या से स्पष्ट है कि वसुबंधुकाल में बुद्धत्व प्राप्ति के प्रयासी लोगों के लिये, सरलता से, बिना अनेक जीवन तक प्रयास किए ही, पारमिताओं की प्राप्ति के हेतु मंत्रों और धारणियों का बहुल प्रयोग होता था। मंत्रों के सहारे साधक करुणा भावना के उत्पादन का इच्छुक हो गया। वह बिना अनेक कुशल कर्मों का संपादन किए तथा बोधिसत्त्व की क्रमनिविष्ट भूमियों को पार किए ही प्रज्ञा

१८. ए हि० इं० लि० वा० २, विंटरनित्स, पृ० ३५६–३५७।

१९. आब्स्क्योर रिलिजस कल्ट्स-डा० शशिभूषण दासगुप्त, पृ० २१।

की प्राप्ति धर्मधारणी के उच्चारण से करने लगा। तात्पर्य यह कि मंत्रों और धारणियों के आगमन से साधक सामान्य व्यावहारिक जीवन में प्रत्यक्ष करुणा संपादन से विरत हो गया।

वसुबंधु के अनुसार 'इति मिति किति भिक्षांति पदानि स्वाहा' इत्यादि मंत्र भी पदार्थों के परम सद्रूप का साक्षात्कार कराने की शक्ति रखते हैं। धर्मों या पदार्थों की शून्यता का ज्ञान कराने में ये मंत्र पूर्ण समर्थ हैं। वसुबंधु ने ऊपर जो विभाजन उपस्थित किया है उससे मंत्र और धारणी के प्रयोगों के इतिहास पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि महायान में जब तांत्रिक तत्वों ने प्रवेश किया उस समय मंत्र, जो आवश्यकतानुसार सार्थक और निरर्थक शब्दसमूह हुआ करते थे, आध्यात्मिक या अलौकिक साधना और वाह्य साधना या लौकिक साधना दोनों के लिये प्रयुक्त होते थे, इसीलिये वसुबंधु ने प्रज्ञाप्राप्ति और करुणा के उत्पाद के लिये मंत्रतत्व को स्वीकार करते हुए सिद्धियों (आठ सिद्धियों) को प्राप्त करने के लिये भी उसे स्वीकार किया। किंतु जैसे जैसे तांत्रिक महायान का विकास होता गया, उसके साथ ही मंत्रधारिणी की धर्मधारिणी के स्थान पर प्रमुखता होती गई। संभवतः परवर्ती विकसित तांत्रिक महायान में, केवल मंत्रतत्व की प्रमुखता का यही रहस्य है।

इन धारणियों और मंत्रों के क्रमागत विकास के विषय में डा० विनयतोष भट्टाचार्य का मत है कि उस समय तक हीनयान और महायान दोनों ने विपुल साहित्य का निर्माण कर लिया था। किंतु इनसे जनसाधारण का कुछ भी लाभ न हो पाता था क्योंकि सूक्ष्म धार्मिक और दार्शनिक बातों को विस्तार के साथ ग्रहण करने की उनके पास शक्ति नहीं थी। बौद्ध पुजारियों का यह विश्वास था कि बौद्ध साहित्य के अध्ययन से धर्मानुयायियों को महान् पुण्यों की प्राप्ति संभव है। विशिष्ट बुद्धिवालों के लिये भी विस्तृत ग्रंथों का व्यवहार और अध्ययन कठिन जान पड़ने लगा। इस सामान्य आव-

श्यकता के फलस्वरूप बौद्धपूजकों ने जनसामान्य की आवश्यता की पूर्ति करनेवाले ग्रंथों का संक्षेप करना आरंभ किया। उदाहरणार्थ 'अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता' (संभवतः १७६ ई०)[२०] एक पढ़ेलिखे बौद्ध के लिये विशाल और कठिन ग्रंथ था। इसलिये उसको 'शतश्लोकी प्रज्ञापारमिता' के रूप में संक्षिप्त किया गया। अनुयायियों से आशा की गई कि वे उसे कंठस्थ कर लें। कुछ लोगों के लिये यह कार्य भी कष्टसाध्य था अतः उसे 'प्रज्ञा-पारमिताहृदयसूत्र' में संक्षिप्त किया गया। इसका भी संक्षेप 'प्रज्ञापारमिता-धारणी' में हुआ। इससे यद्यपि याद करने में सरलता हो गई किंतु उनकी अस्पष्टता में वृद्धि हो गई। इस धारणी का ही परवर्ती विकसित रूप मंत्रों में दिखाई पड़ा। इस प्रकार शास्त्र, हृदयसूत्र, धारणी के विकासक्रम से विकसित होकर महायान के अंतिम दिनों में मंत्र सर्वाधिक प्रतिष्ठित हो गया।[२१]

योग के क्षेत्र में महायान प्राचीन बौद्ध ध्यानयोग से एक कदम और आगे बढ़ा। प्रारंभ में ही बताया गया है कि बुद्ध ने आलार कालाम जैसे सांख्याचार्यों तथा तत्कालीन अन्य योगियों से योग तो सीखा ही था किंतु उस समय औपनिषदिक योग की परंपरा भी थी। विसुद्धिमग्ग में प्राप्त होनेवाले समाधि और ध्यानयोग के विस्तृत परिचय के पूर्व ही पतंजलि का अभ्युदय तथा उनके राजयोग का प्रचारप्रसार विशेष महत्वपूर्ण है। योगाचारियों ने राजयोग को बौद्धरूप प्रदान किया तथा निर्विकल्प समाधि या चित्त की निर्विकल्पावस्था की कल्पना कर अनुभव की चरमावस्था को

---

२०. ए हि० इं० लि०, वा० २, विंटरनित्स, पृ० ३१४। डा० विंटरनित्स ने अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता को प्राचीनतम माना है-पृ० ३१६। १७९ ई० में एक प्रज्ञापारमिता ग्रंथ का अनुवाद चीनी में हुआ था।

२१. ऐन इंट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म—डा० विजयतोष भट्टाचार्य, पृ० ३०-३१।

उपस्थित किया। इस परंपरा में लंकावतार सूत्र के स्वानुभव या स्वक्संविति को ही विकसित बौद्धयोग का सर्वस्व मान बैठना अस्वाभाविक और अनुचित नहीं प्रतीत होता। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि लगभग ६ ठीं शताब्दी के पूर्व तांत्रिक महायान धर्म में राजयोग की प्रतिष्ठा थी किंतु बाद में, जैसा आगे के गुह्यसमाज तंत्र जैसे ग्रंथों के विवेचन से स्पष्ट होगा, हठ-योग आदि को बौद्ध तांत्रिक साधना में स्थान मिला।

---

७. तांत्रिक बौद्ध साधना का विकास और वज्रयान

पिछले विवेचन से स्पष्ट है कि महायान के अंतिम दिनों में बुद्ध, अमिताभ, बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर, मंजुश्री आदि देवताओं की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। हारीति, चंडिका, सरस्वती आदि देवियाँ भी कल्पित हो चुकी थीं। इन देवताओं की पूजा-उपासना-प्रार्थना के लिये अनेक स्तोत्रों, मंत्रों, धारणियों का निर्माण हो चुका था। बोधिसत्त्व के लिये करुणा—प्रसार और प्रज्ञा की उपलब्धि आवश्यक मानी गई थी। नागार्जुन के शून्यवाद के व्यावहारिक साक्षात्कार को प्रज्ञा की उपलब्धि से अभिन्न मान लिया गया था। योगाचार मत के आचार्य असंग आदि ने विज्ञान तत्व की प्रतिष्ठा कर चित्त को ही इस संपूर्ण संसार की उत्पत्ति और प्रणाश का मूल बतलाया था। बोधिचित्तोत्पाद की क्रमनिविष्ट प्रक्रिया में समय के अपव्यय तथा शीघ्र प्रज्ञोपलब्धि या प्रत्यात्मगति की प्राप्ति की भावना से धारणियों और मंत्रों को अत्यधिक महत्त्व दिया जाने लगा था। इन मंत्रों और धारणियों से अर्जित शक्ति की सहायता से प्राणिमात्र के दुःख से समुद्धरण की प्रक्रिया में सदैव लीन रहनेवाले नवीन बोधिसत्त्वों का अभ्युदय होने लगा था। इस प्रकार की धार्मिक और दार्शनिक परिस्थितियों में वज्रयान का विकास हुआ।

पहले ही अद्वयवज्र के प्रमाण पर यह बताया जा चुका है कि महायान के दो भेद थे—पारमितानय और मंत्रनय। संभवतः अद्वयवज्र ने बौद्ध तांत्रिक दृष्टि से यह विभाजन किया है। अनुमान है कि लगभग ५वीं ईस्वी शताब्दी के पूर्व महायान में एक संप्रदाय ऐसा था जो पंचपारमिताओं के अभ्यास को साधनात्मक जीवन में अत्यधिक महत्व देता था और अंततः प्रज्ञापारमिता की प्राप्ति कराता था। दूसरों का मार्ग वह था जो मंत्रों की

सहायता से बिना संपूर्ण पारमिताओं का अभ्यास किए ही प्रज्ञाप्राप्ति की आकांक्षा रखता था। यह प्रायः देखा जाता है कि सामान्य धार्मिक जन सरलता और संक्षेप की ओर अधिक आकर्षित होते हैं। परवर्ती काल में मंत्र तत्व के प्रमुख हो जाने के अनेक कारणों में से यह भी एक कारण माना जा सकता है।

राहुल जी ने मांत्रिक साधना या मंत्रयान का अंतिम काल ७वीं ईस्वी शताब्दी तक माना है। यह सहज अनुमेय है कि लगभग ४०० ई० से ७०० ई०तक के काल में तांत्रिक साधना के अन्य तत्वों का इस बौद्ध मांत्रिक साधना में प्रवेश हुआ होगा। श्री एच० कर्न का कथन है कि तारानाथ की सूचनानुसार तांत्रिक साधना की स्थिति पहले भी थी। यह अत्यंत गुप्त रूप से असंग और धर्मकीर्ति के बीच के काल में जीवित रही। किंतु धर्मकीर्ति के बाद अनुत्तरयोग अधिक से अधिक जन-प्रचलित एवं प्रभावशाली होता गया। तत्वतः, श्री कर्न की दृष्टि में, तारानाथ का यह कथन ठीक है।[1] डा० विंटरनित्स के अनुसार असंग का समय चतुर्थ शताब्दी है। कर्न ने असंग का समय ५५० ई० तथा धर्मकीर्ति का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना है।[2] इस प्रकार इस युग (लगभग ४०० ई० से ७०० ई० तक) के तीन सौ वर्षों में तांत्रिक साधना गुप्त रूप से गुरु-शिष्य-परंपरा में जीवित रही। इसके बाद अनेक ऐसे सिद्धाचार्य हुए जिन लोगों ने इस साधना को जन साधारण में प्रचलित करना आरंभ कर दिया। निस्संदेह, मंत्र-तत्व का प्रचार तो जन सामान्य में अवश्य था किंतु शक्तितत्व और पंचमकार (मत्स्य, मुद्रा, मैथुन मांस और मद्य) की साधना अत्यंत गुप्त सीमित और दीक्षित मंडली में ही चलती रही होगी। इन तत्वों से

---

१. मैन्युएल आव इंडियन बुद्धिज्म—एच० कर्न, पृ० १३३।

२. वही, पृ० ११८, १३०।

समन्वित साधना का जनता में प्रचार सातवीं शताब्दी के बाद हुआ। इसका प्रमाण यह है कि सातवीं शताब्दी के पूर्व का कोई भी ऐसा तांत्रिक बौद्ध ग्रंथ प्राप्य नहीं है जिसमें इन तत्वों का पोषण साधनात्मक, दार्शनिक तथा धार्मिक दृष्टि से किया गया हो।

महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने नेपाल से एक पोथी पाई थी। नामरहित उस पोथी को शास्त्री जी ने नागार्जुन शिष्य आर्यदेव लिखित माना है।[3] डा० विंटरनित्स ने आर्यदेव को, ह्वेन्त्सांग के प्रमाण पर अश्वघोष, नागार्जुन और कुमारलब्ध का समकालीन माना है।[4] यदि शास्त्री जी के कथन को प्रमाण माना जाय तो कहा जा सकता है कि द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रज्ञोपायसाधना चित्तत्व और रागतत्व की प्रतिष्ठा आर्यदेव ने की थी। मंत्र, मद्य, मांस आदि का भी प्रयोग उस समय विहित था। मातृ–दुहितृ–संबंध का भी विवेचन उपरोक्त ग्रंथ में मिलता है। वज्रधर शब्द का भी प्रयोग है।[5] डा० विंटरनित्स ने आर्यदेव के ऐसे किसी भी ग्रंथ की ओर संकेत नहीं किया है।

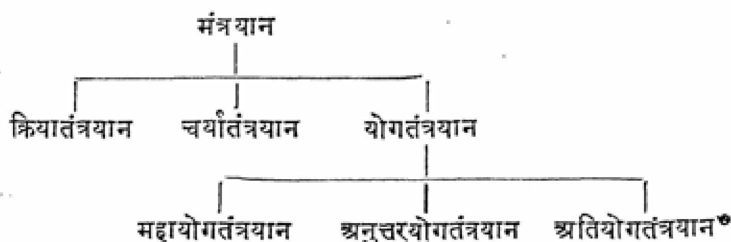
---

३. जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी आव बेंगाल, १९९८ ई०, वाल्यूम १, पार्ट २, पृ० १७५–१८४।

४. हि० इं० लि०, वा० २, पृ० ३४२।

५. ज० ए० सो० बें०, १८९८, वा० १, पा० २, पृ० १७५–१८४, श्लोक द्रष्टव्य—२७, २८, ३०, ३१, ३५–४०, ४५–५०, ७७, ८४, ९४, ९७–१०१, ११४, १२७। डा० विनयतोष भट्टाचार्य इस ग्रंथ (चित्त-विशुद्धि प्रकरण) के लेखक आर्यदेव को तांत्रिक आर्यदेव मानते हैं और उनका समय ७ वीं शताब्दी के बाद मानते हैं। 'दि इंडियन बुद्धिष्ट इकोनोग्राफी—मेनली बेस्ड आन दि साधनमाला एंड अदर काग्नेट तांत्रिक टेक्स्ट्स आव रिचुअल्स', पृ० १ पाद०में भट्टाचार्य महोदय ने यद्यपि उपरोक्त ग्रंथ के आधार पर तांत्रिक बौद्ध साधना, शक्तितत्व, पंच ध्यानी

इस मंत्रयान के बाद तांत्रिक बौद्ध साधना, धर्म और दर्शन का किस प्रकार विकास हुआ, इस विषय में अनेक मत हैं। डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने परवर्ती बौद्ध मत का विभाजन वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान में किया है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य यान भी हैं जिनका संबंध इस तांत्रिक बौद्ध धर्म से है, जैसे—तंत्रयान, मंत्रयान, भद्रयान आदि; जिनके विषय में कहा जा सकता है कि वे वज्रयान से विकसित हुए। इन तीनों में, उनकी दृष्टि में, वज्रयान प्रमुख है।[६] काजी दवासम दुप ने एक अन्य विभाजन उपस्थित किया है:—



उनके कथनानुसार बौद्ध धर्म में जिन नौ यानों (क्रमशः श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान, बोधिसत्त्वयान, क्रियातंत्रयान, चार्यतंत्रयान, उपायतंत्रयान, योगतंत्रयान, महायोगतंत्रयान, अनुत्तरयोगतंत्रयान, अतियोगतंत्रयान) का विकास हुआ, उनमें से प्रत्येक चार भागों में विभक्त था—दृष्टि, ध्यान, चार्य

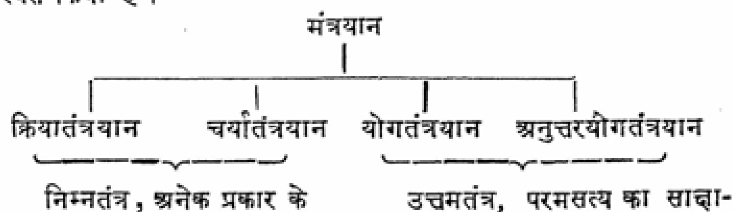
बुद्धों तथा शक्तियों के सिद्धांतों को ७वीं शताब्दी का माना हैं किंतु गुह्य-समाजतंत्र की भूमिका में उन्होंने इस साधना को तृतीय शताब्दी का ही सिद्ध करने का यत्न किया है।

६. इं० बु० ए०, भट्टाचार्य, पृ० ५२–५३।

७. श्री चक्रसंभारतंत्र—तांत्रिक टेक्स्ट्स, वा० ७, जेनरल एडीटर–आर्थर एवेलेन, एडीटर–काजी दवासम दुप, इंट्रो० पृ० ३२, तथा आब्स्क्योर रिलिजस कल्ट्स–डा० शशिभूषण दासगुप्त, पृ० २४।

(चर्या) और फल। प्रारंभिक तीन यान ही पद्मसंभव के अवतार से तिब्बत में नौ यान हो गए। पद्मसंभव ही तिब्बत में मंत्रयान और 'सिद्धि मत' (सिद्ध मत, बौद्ध सिद्ध मत) संस्थापक थे। अंतिम छः यान प्रारंभिक तीन के विभेद या अवस्थाएँ हैं। नौ यानों में से अंतिम अतियोगतंत्रयान ही सर्वोत्तम यान है। यह अद्वैत तंत्रयान है जिसमें सब को नित्य बुद्ध के रूप में साक्षात्कृत किया जाता है। काजी महोदय के अनुसार अद्वैत का तिब्बती में अनूदित अर्थ शून्यता है। इस प्रकार अद्वैत बौद्ध तंत्र का सिद्धांत शून्यता का सिद्धात है। इसका अर्थ यह है कि संसार और निर्वाण दो नहीं, एक हैं, अर्थात् शून्य हैं। ये दोनों एक उसी प्रकार हैं जिस प्रकार मन और शरीर किसी व्यक्ति की इकाई के दो पक्ष हैं। इसीलिये 'प्रज्ञापारमिताहृदय-गर्भ' का कथन है कि रूप शून्यता है और शून्यता ही रूप है। दोनों एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं।[८] काजी महोदय द्वारा उपस्थित किया गया अतियोग-तंत्रयान का यह विवेचन यह स्पष्ट करता है कि तांत्रिक बौद्ध धर्म का अंतिम यान शून्यता सिद्धांत का हिमायती था। संसार और निर्वाण की अद्वैतता की सिद्धि ही साधक की चरम सिद्धि है। काजी महोदय द्वारा उपस्थित किया गया यह विभाजन और विकास तांत्रिक दृष्टि से उचित हो सकता है किंतु स्पष्ट कदापि नहीं। इसलिए अन्य प्रकार के विभाजनों की आवश्यकता है।

डा० शशिभूषण दासगुप्त ने एक अन्य सामान्य स्वीकृत विभाजन उपस्थित किया है।[९]



८. श्री चक्रसंभारतंत्र, इंट्रो० पृ० २१–२३।

९. आ० रि० क०, दासगुप्त, पृ० २४।

विधि विधानों से युक्त, देवताओं देवियों की पूजा और अन्य बाह्यपूजा विधानों से युक्त।	त्कार करने के लिये यौगिक साधना की प्रधानता, परम सत्य की प्रकृति पर विचार और ध्यान।

तारानाथ के प्रमाण पर श्री एच० कर्न ने भी अनुत्तरयोगतंत्रयान को बाद में प्रभावशाली होना बतलाया है।[10]

इन आधारों पर यह कहा जा सकता है कि महायान के अंतिम चरण (लगभग ४थी–५वीं शताब्दी) में मंत्रों का प्रचार होने के बाद लगभग ३०० वर्षों तक पंचमकारों की साधना गुरु–शिष्य–परंपरा में जीवित रही। तारानाथ ने संभवतः इस प्रकार जीवित साधना को ही अनुत्तरयोगतंत्रयान कहा है। इस यान से वज्रयान और फिर उससे कालचक्रयान और सहजयान का विकास हुआ। ऊपर जिस निम्नतंत्र और उत्तमतंत्र की बात कही गई है, उसमें वाह्य और अंतस्साधना का अंतर स्पष्ट है। अनुत्तरयोगतंत्रयान का पूर्ण प्रकृष्ट अंतस्साधना का रूप सहजयान के रूप में प्रस्फुटित हुआ। बौद्ध सहजयान का अंतिम समय लगभग १२ वीं शताब्दी मानना चाहिए। वज्रयान के अंतर्गत, म० हरप्रसाद शास्त्री का मत है, नाथमत भी विकसित हुआ था। कालचक्रयान पहले स्वतंत्र मत रहा होगा किंतु बाद में तांत्रिक बौद्ध समाज द्वारा संमिलित कर लिया गया होगा। इसी प्रकार नाथमार्ग भी सम्मिलित हुआ। विकास क्रम की दृष्टि से डा० भट्टाचार्य ने कालचक्रयान को वज्रयान के बाद स्थान दिया है। डा० वेडेल ने वज्रयान के पूर्व कालचक्रयान की उत्पत्ति मानी है। म० शास्त्री का कहना है कि वेडेल का यह मानना भारतीय परंपरा के विरुद्ध है।[11] पारंपरिक दृष्टि से श्रीकालचक्र–

---

१०. मैन्युएल आव इंडियन बुद्धिज्म–एच० कर्न, पृ० १२३।

११. माडर्न बुद्धिज्म ऐंड इट्स फालोअर्स इन उड़ीसा–नगेंद्रनाथ वसु, इंट्रो०–महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, पृ० १–२८।

मूलतंत्र का विवरण 'अभिनिश्रयणसूत्र' में मिलता है। वहाँ कहा गया है कि इसका उपदेश बुद्ध ने श्री धान्यकटक में दिया था।[१२] कास्मा डे कारास के अनुसार भारत में इसका प्रवर्तन संभल से ६६५ ई० में किया गया था।[१३]

उपरोक्त विवेचित आधारों पर यह निर्णय करने में कोई बाधा नहीं दिखाई देती कि वज्रयान का प्रवाह काल ७ वीं से १० वीं शताब्दी तक था। डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने यह स्थापना की है कि गुप्त रूप से ३०० वर्षों तक तांत्रिक साधना के जीवित रहने के बाद ८४ सिद्ध पुरुषों के उपदेशों, रहस्यगीतों और उनके शिष्यों से वह जनसाधारण में प्रचारित की गई। अधिकतर ये महासिद्ध ईसा की सातवीं, आठवीं और नवीं शताब्दी में हुए थे। इन शताब्दियों में ही वज्रयान ने विपुल प्रसार पाया।[१४] उन्होंने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि बौद्ध मत में शक्ति-साधना प्रवर्तित करने वाले ग्रंथ मंजुश्रीमूलकल्प और गुह्यसमाजतंत्र, क्रमशः द्वितीय और तृतीय शताब्दी में निर्मित हुए थे।[१५] डा० विंटरनित्स के अनुसार मंजुश्रीमूलकल्प का समय ७वीं से १० ईस्वी शताब्दी के बीच है, तथा गुह्यसमाज का निर्माणकाल लगभग ७ वीं शताब्दी है।[१६] डा० भट्टाचार्य ने शक्तितत्व समन्वित तांत्रिक साधना को अधिक से अधिक प्राचीन सिद्ध करने के यत्न में गुह्यसमाज जैसे ग्रंथों को दो-तीन सौ वर्ष पहले का सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार का प्रयत्न उन्होंने सिद्धों के काल निर्धारण में करके

---

१२. पैग साम जान जैंग, पृ० २७; आ० रि० क०, पृ० २६ में उद्धृत।

१३. आ० रि० क०, पृ० २६।

१४. इं० बु० ए० भट्टाचार्य, पृ० ३४-३५।

१५. वही, पृ० ६२।

१६. इं० हि० क्वा०, मार्च १९३३, पृ० ५-६।

उन्हें भी लगभग सौ दो सौ वर्ष पहले का सिद्ध किया है। वास्तव में सिद्धों का काल ८ वीं शताब्दी से १२ वीं शताब्दी के बीच है।

कुछ विद्वानों ने सरहपाद को, जो आदि सिद्ध कहे जाते हैं, इस वज्रयानी साधना का आद्य आचार्य माना है। इनका समय ८ वीं शताब्दी है।[१७] डा० भट्टाचार्य ने सरह का समय ६३३ ई० माना है।[१८] दोनों समयों में लगभग एक शताब्दी का अंतर है फिर भी सरह का समय लगभग ८ वीं और ६ वीं शताब्दी के भीतर ही आता है। उन्होंने जिन ग्रंथों को वज्रयान का आधार ग्रंथ माना है तथा जो संस्कृत में लिखे गये हैं, वे भी ७ वीं से ६ वीं शताब्दी के अंतर्गत ही लिखे गये हैं। साधनमाला तथा अद्वय-वज्रसंग्रह का निर्माणकाल ११-१२ वीं शताब्दी स्थिर किया गया है। श्री भट्टाचार्य ने अद्वयवज्र का समय ११ वीं शताब्दी माना है तथा साधन-माला में अद्वयवज्र की रचनाएँ हैं। तात्पर्य यह कि तांत्रिक बौद्ध साधना का काल ८४ बौद्ध सिद्ध पुरुषों का विस्तार काल माना जा सकता है।

अधिकारभेदवाद तंत्रों का प्रिय विषय है। ऊपर क्रियातंत्र, चर्यातंत्र आदि का विभाजन इसी वाद पर आधारित मालूम होता है। डा० भट्टाचार्य ने यह सिद्ध किया है कि जिस प्रकार हिंदू तंत्रों में दक्षिणाचार और वामाचार नामक दो विभाग स्वीकृत किये गये हैं; उसी प्रकार बौद्ध तंत्रों में क्रियातंत्र और चर्यातंत्र को दक्षिणाचार में तथा योगतंत्र और अनुत्तरयोगतंत्र को वामाचार में गिना गया है।[१९] दक्षिणाचार में पूर्ण कठोर ब्रह्मचर्य, नियमित भोजन, नियमित पान आदि की प्रधानता होती है। जब साधक इस

---

१७. हिंदी काव्यधारा, राहुल सांकृत्यायन, पृ० २ तथा पुरातत्त्व निबंधावली, रा० सांकृत्यायन, पृ० १४७।

१८. इं० बु० ए०, भट्टाचार्य, पृ० ६५।

१९. वही, भट्टाचार्य, पृ० १६९।

आचार में पूर्ण कुशल हो जाता है, तभी वह वामाचार में दीक्षित होने का अधिकारी होता है। इस वामाचार में वामा या शक्ति या नारी को आचार-साधन का अनिवार्य उपकरण माना जाता है। योगतंत्र में नारी को आवश्यक साधन के रूप में व्यवहृत किया जाता है। अनुत्तरयोगतंत्रयान की साधना, इस क्रम में, भावप्रधान साधना मालूम होती है। दक्षिणाचार बाह्यसाधना है। शरीर को नियंत्रित करने का कार्य उस साधना में किया जाता है। जो उद्धरण और प्रमाण ऊपर दिए गए हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि लगभग ७ वीं शताब्दी के पूर्व जिस प्रकार की साधना प्रचलित थी, जिसका प्रामाणिक पता महायान के सूत्रों से हमें मिलता है, दक्षिणाचार की थी। अर्थात् उस समय क्रियातंत्र और चर्यातंत्र पर ही विशेष जोर दिया जाता था। यदि वामाचार की कोई साधना प्रचलित रही होगी तो उसका प्रमाण हमारे पास नहीं है। ७ वीं-८ वीं शताब्दी के ग्रंथ वामाचार की पंचमकारसमन्वित साधना की ओर संकेत करते हैं। किंतु बौद्ध सिद्धों की लोकभाषा की ओर सहज सिद्धांत की प्रतिपादक रचनाएँ भावसाधना या दिव्यसाधना की ओर प्रवृत्त दिखाई देती हैं जिनका उद्भव सरहपाद के काल से मानना चाहिए।



८. वज्रयान का साहित्य और उसका विवेचन

वज्रभावना की प्रतिष्ठा के साथ वज्रयान का आरंभ मानना चाहिये। यह वज्र तत्व साधना में ही नहीं दर्शन में भी कालांतर में प्रतिष्ठित हो गया। साधना, धर्म तथा दर्शन में इस तत्व की प्रतिष्ठा से ही पूर्ववर्ती तांत्रिक बौद्ध मत से इसका भेद स्थापित करने में सरलता होती है। देवियों और देवताओं की कल्पना, उनकी विशेषता, चिह्न, अस्त्र-शस्त्र, आभूषण, वेश-भूषा सबमें महान् परिवर्तन उपस्थित हो गया। श्रेय-प्रेय, उद्देश्य, साधन, परमतत्व, जीवात्मा, जगत् सबके विषय में इस यान ने अपनी भिन्न मान्यताएँ स्थापित की। दार्शनिक विशेषताएँ और विचार-धाराएँ शब्दांतर और प्रयोगांतर मात्र से वज्रयान में भिन्न दिखाई देती हैं। पूर्व-विवेचित धार्मिक-दार्शनिक और साधनात्मक परंपराओं से पूर्ण वातावरण में वज्रयान का उदय हुआ।

पहले ही बताया जा चुका है कि परवर्ती महायान बौद्ध धर्म मंत्रयान का ही विकास है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने मंत्रयान को ही विकास और विशेषता की दृष्टि से दो भागों में बाँटा है —

मंत्रयान (नरम)—ई० ४००–७०० तक।
वज्रयान (गरम)–ई० ८००–१२०० तक।[1]

वास्तव में मंत्रयान और वज्रयान दोनों में पार्थक्य स्थापित करने के लिये कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। मंत्रयान वह यान या मार्ग है जिसमें मंत्रों और धारणियों की सहायता से निर्वाण की प्राप्ति की जाती है। वज्र-

---

१. पुरातत्व निबंधावली—राहुल सांकृत्यायन, पृ० १२९।

यान वह यान है जिसमें केवल मंत्रों और धारणियों को ही नहीं, अपितु वज्र शब्द से अभिव्यक्त होनेवाली सभी वस्तुओं को भी साधन के रूप में व्यवहृत किया जाता है। वज्र शब्द के भी कई अर्थ हैं। वज्र हीरा है जो सभी प्रकार की कठोर, अप्रवेश्य, अच्छेद्य, अदाह्य, अविनाश्य वस्तुओं का प्रतीक है। वज्र इंद्रास्त्र को भी कहते हैं जिसको धारण करनेवाले बौद्ध पौराणिक कथाओं में वज्रपाणि के रूप में अवतरित हुए हैं। यह संन्यासियों और भिक्षुओं का वह अस्त्र भी है जिससे वे विरुद्ध शक्तियों से युद्ध करते हैं। पूर्ण अनिर्वचनीय स्वतंत्र सत्य के रूप में माध्यमिकों द्वारा वर्णित शून्य तथा योगाचारियों द्वारा पूर्ण परम सत्य विज्ञान या चित्त, अविनाशी होने के कारण वज्र हैं। अंततः वज्रयान के कुछ अनुयायियों की रहस्यमयी भाषा में तथा शाक्तों में वज्र का अर्थ पुरुषेंद्रिय तथा उसी प्रकार पद्म का अर्थ स्त्रींद्रिय लिया जाता है। इसके अतिरिक्त वज्रयान अद्वैत दर्शन की शिक्षा देता है। इसके अनुसार सभी प्राणी वज्रसत्त्व हैं और केवल वही सभी प्राणियों में अंतःस्थित हैं। बुद्ध के त्रिकाय के अतिरिक्त इन शाक्तों ने एक चतुर्थ सुखकाय की कल्पना की है जिससे नित्य बुद्ध अपनी शक्ति द्वारा या भगवती का आलिंगन करते हैं। यह महासुख बौद्ध शाक्त धर्मानुयायियों के द्वारा उसी प्रकार प्राप्त किया जाता है जिस प्रकार अबौद्ध शाक्तों में, जिनके क्रिया-विधान में मांस, मद्य और मैथुन विहित हैं। इस प्रकार वज्रयान ने अद्वैत दर्शन, भूतविद्या, शक्तितत्व, पंचमकार तथा राग के साथ संक्षिप्त बौद्ध विचारों का मिश्रण कर एक नवीन मत की स्थापना की।[२]

इस मत की स्थापना करनेवाले तांत्रिक बौद्ध ग्रंथों को चार कोटियों में विभाजित किया जाता है—क्रियातंत्र, चर्यातंत्र, योगतंत्र, अनुत्तर योगतंत्र। क्रियातंत्रों में मंदिर-निर्माण, देवमूर्तिस्थापन आदि की धार्मिक विधियों का विवेचन मिलता है। चर्यातंत्रों में व्यावहारिक आचार संबंधी नियमों का

२. ए हि० इं० लि०, विंटरनित्स, वा० २, पृ० ३८७–३८८।

विवेचन है। योगतंत्र योगाभ्यास का विवेचन करते हैं तथा अनुत्तरयोगतंत्र उच्चतर रहस्यवाद का विवेचन करते हैं। प्रथम में आदिकर्मप्रदीप, अष्टमीव्रत विधान, साधनमाला (११वीं शताब्दी), साधनसमुच्चय की गणना की जाती है। पंचक्रम, अनुत्तरयोगतंत्र है। यह गुह्यसमाज या तथागत-गुह्यक का एक अंश है। गुह्यसमाजतंत्र का समय डा० विंटरनित्स के अनुसार लगभग ७वीं शताब्दी है। मंजुश्रीमूलकल्प की गणना भी इसी कोटि में की जानी चाहिए।[3] आदिक्रमप्रदीप की पद्धति गृह्यसूत्रों की है जिसमें प्रतिदिन की क्रियाओं, ध्यान, दीक्षा, प्रार्थना आदि की विधियाँ मिलती हैं। प्रज्ञा-पारमिता ग्रंथों का पठन भी ग्रहण किया गया है। अष्टमीव्रतविधान में व्रतों, मुद्राओं और मंत्रों, मंत्र सहित प्रार्थनाओं (यथा—हुं हुं फट् फट् स्वाहा) का प्रयोग केवल बुद्धों और बोधिसत्त्वों के लिए ही नहीं, शैव देवताओं के लिये भी, स्वीकार किया गया है। इस कोटि के ग्रंथों में सिद्धि प्राप्त कर सिद्ध बनने की प्रवृत्ति भी दीख पड़ती है। ये साधन मंत्रों और अंगुलियों की मुद्राओं से युक्त हैं। साधक को किसी देवता में ध्यानमग्न होने की सम्मति दी गई है। इसीलिए इन ग्रंथों में देवताओं के उचित रूप, आकार, वर्ण आदि का पूर्ण विस्तार से वर्णन मिलता है जिसका उपयोग मूर्तिकारों और चित्रकारों ने किया है।

साधनमाला और साधनसमुच्चय का भी इसी दृष्टि से महत्व है। जिन देवताओं की पूजा-उपासना के लिये इन ग्रंथों में मंत्रादिकों की रचना हुई है, वे हैं—ध्यानी बुद्ध, उनके कुल, देवी तारा के विभिन्न रूप आदि। साधनमाला (भाग १) की आराध्य देवियाँ हैं—वज्रतारा, तारा, वरदतारा महाचीनक्रमार्यतारा, विश्वमाता, मारीची, प्रज्ञापारमिता, वज्रसरस्वती, वज्रवीणासरस्वती आदि। बोधिसत्त्व मंजुश्री के अवतार का तथा कामदेवता

---

३. वही, पृ० ३८९-३९४।



वज्रसत्त्व ('याब्-युम्'-युगनद्ध मुद्रा में)

१. बोधिसत्त्व—भारतीय पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से ।
२. वज्रसत्त्व (युगनद्ध)—डा० विनयतोष भट्टाचार्य के सौजन्य से ।

वज्रानंग का विवरण साधनमाला के साधन ५६–६० में मिलता है। यद्यपि इन साधनों के मूलतत्व भूतविद्या और सिद्धियाँ हैं फिर भी उनमें योगाभ्यास पूजा-उपासना, मैत्री, करुणा आदि का भी समायोग है। इस तंत्र ग्रंथ के ३१२ साधनों के लेखकों का समय ७ वीं शताब्दी से लेकर १२वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक के अंतर्गत है। तांत्रिक असंग, तांत्रिक नागार्जुन (७वीं शताब्दी) इंद्रभूति (लगभग ६८७-७१७ ई०), पद्मवज्र (इंद्रभूति के समकालीन), लक्ष्मींकरा (इंद्रभूति की समकालीन), सहजयोगिनी चिंता (लगभग ७६१ ई०), रत्नाकरगुप्त, पंडितावधूत अद्वयवज्र, सरहपाद, रत्नाकरशांति, श्रीधर आदि साधनों के लेखक हैं। इंद्रभूति की ज्ञानसिद्धि, पद्मवज्र की गुह्यसिद्धि, लक्ष्मींकरा की अद्वैतसिद्धि आदि उच्चकोटि की तांत्रिक पुस्तकें हैं। चंडमहारोषणतंत्र में प्रतीत्यसमुत्पाद के साथ ही महावज्री, पिशुनवज्री, राजवज्रा आदि योगिनियों का तथा यौन-साधना का विवेचन मिलता है। श्रीचक्रसंभारतंत्र में महासुखवाद की व्याख्या है। यह ग्रंथ मंत्र, ध्यान, अलौकिक युगनद्धों का विवेचन करता है।[४] इन ग्रंथों में तथागतगुह्यक, ज्ञानसिद्धि, प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, अद्वयवज्रसंग्रह आदि ग्रंथ वज्रयान की विशेषताओं के निरूपण के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

गुह्यसमाजतंत्र या तथागतगुह्यक प्रधानतया साधनात्मक ग्रंथ है। इसकी महती विशेषता यह है कि यह बौद्धधर्म में शक्तितत्व को उद्घोषित करता है। इसमें दो प्रकार की सिद्धियाँ बताई गई हैं—सामान्य सिद्धि तथा उत्तम सिद्धि। सामान्य सिद्धि में अंतर्द्धान, अणिमा, लघिमा आदि की गणना की गई है। बुद्धत्वप्राप्ति उत्तमसिद्धि के अंतर्गत है। बुद्धत्व-

---

४. वही, पृ० ३८९-३९८।

प्राप्ति षडंगयोग में पूर्ण अभ्यस्त हो जाने के बाद ही संभव है।[५] शरीर को कष्ट देनेवाले कठोर नियमों के आचार को गुह्यसमाज स्वीकार नहीं करता। उसका मत है कि अपने इच्छा-भोग से सरलतापूर्वक, बुद्धत्व प्राप्ति संभव है।[६] प्राचीनकाल में हीनयान और महायान दोनों के अनुसार अनेक जन्मों में बुद्धत्व प्राप्ति संभव थी, किंतु गुह्यसमाज अपनी साधना से इसे इसी जन्म में सरलतापूर्वक प्राप्त कराने का दावा करता है।[७] शक्तितत्व की प्रतिष्ठा इस तंत्र ने प्रथम पटल में ही की है। इसमें बुद्ध, अनेक बुद्धों, ध्यानी बुद्धों, बोधिसत्त्वों, शक्तियों से आवृत प्रदर्शित किये गये हैं। प्रत्येक ध्यानी बुद्ध के साथ एक-एक शक्ति है।[८] इसी प्रकार प्रत्येक साधक के साथ भी एक-एक शक्ति की आवश्यकता बतलाई गई है। उसे शक्ति या प्रज्ञा कहा गया है। प्रज्ञा या शक्ति या विद्या सर्वगुणसंपन्ना, योगनिपुणा

---

५. गुह्यसमाजतंत्र—सं० विनयतोष भट्टाचार्य, पृ० १६२–१६३—

अंतर्द्धानादयः सिद्धाः सामान्या इति कीर्तिताः
सिद्धिरुत्तममित्याहुर्बुद्धा बुद्धत्वसाधनम् ॥—पृ० १६२ ॥
सेवाषडङ्गयोगेन कृत्वा साधनमुत्तमम्।
साधयेदन्यथा नैव जायते सिद्धिरुत्तमा ॥—पृ० १६३ ॥

६. वही, पृ० २७–सर्वकामोपभोगैश्च सेव्यमानैर्यथेच्छतः।
अनेन खलु योगेन लघु बुद्धत्वमाप्नुयात् ॥
दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सव्यमानो न सिद्ध्यति।
सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयंश्चाशु सिद्ध्यति ॥

७. वही, पृ० ११४—भूतपूर्वं भगवन्तः''' अपितु भगवन्तः सर्वतथागता अस्मिन् गुह्यसमाजे बुद्धबोधिं क्षणलवमुहूर्तेनैव निस्पादयन्ति।''' तदिहैव जन्मनि गुह्यसमाजाभिरतो बोधिसत्त्वः सर्वतथागतानां बुद्ध इति संख्यां गच्छति ॥

८. वही, पृ० १-२।

तथा सुंदरी होनी चाहिए। गुरु तथागतों की साक्षी देकर दोनों का अभिषेक करता है। इसी को प्रज्ञाभिषेक कहते हैं। बिना शक्ति के अन्य किसी माध्यम से बुद्धत्वप्राप्ति असंभव है। अतः शिष्य को उसे कभी न त्यागने की प्रतिज्ञा करनी चाहिये। समस्त सांसारिक पदार्थ द्वयतायुक्त लक्षित होते हैं, यद्यपि वे तत्वतः अद्वय हैं। इसीलिये (अद्वययोग की सहायिका) इस विद्या को कभी भी नहीं छोड़ना चाहिये। इसीको विद्याव्रत कहते हैं। जो व्यक्ति इस विद्या को अस्वीकार कर देता है, वह कभी भी उत्तम सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता।[९] इसलिये इस ग्रंथ में साधना के लिये शक्ति को बार-बार आवश्यक ठहराया गया है। मद्य, मांस, मैथुन, मत्स्य की खुली छूट है। साधना के लिये हयमांस, हस्तिमांस, श्वानमांस, किंबहुना महामांस भी विहित है।[१०] आदर की निरर्थक वस्तुओं के लिये इस समाज में

---

९. वही, पृ० १६१—तामेव देवतां विद्यां गृह्य शिष्यस्य वज्रिणः।
पाणौ पाणिः प्रदातव्यः साक्षीकृत्य तथागतान्॥
हस्तं दत्वा शिरे शिष्यमुच्यते गुरुवज्रिणा।
नान्योपायेन बुद्धत्वं तस्माद्विद्यामिमां वराम्॥
अद्वयाः सर्वधर्मास्तु द्वयभावेन लक्षिताः।
तस्माद्वियोगः संसारे न कार्यो भवता सदा॥
इदं तत्सर्वबुद्धानां विद्याव्रतमनुत्तमम्।
अतिक्रमति यो मूढ सिद्धिस्तस्य न चोत्तमा॥

१०. वही, पृ० २६—मांसाहारादिकृत्यार्थं महामांसं प्रकल्पयेत्।
सिद्ध्यते कायवाक्चित्तरहस्यं सर्वसिद्धिषु॥
हस्तिमांसं हयमांसं श्वानंमांसं तथोत्तमम्।
भक्षेदाहारकृत्यार्थं न चान्यत्तु विभक्षयेत्॥

तनिक भी स्थान नहीं है। उसकी दृष्टि में पवित्र-ग्रंथ-पाठ, मण्डल-निर्माण, रत्नपूजा आदि कार्य निरर्थक है।[११]

गुह्यसमाजतंत्र की दृष्टि में योगी के लिये सामाजिक नियम और मर्यादाएँ व्यवहार्य नहीं है। वह उनका उल्लंघन कर सकता है। उसे असत्य–भाषण, जीवहिंसा, परद्रव्यहरण, नारिसेवनादि कार्य स्वतंत्र होकर करना चाहिए। इसीको वज्रमार्ग कहा गया है।[१२] शून्यता का साक्षात्कार करनेवाले व्यक्ति के लिए यह संसार नाटक है जिसका कोई अस्तित्व नहीं। इसके सामने द्वयता लुप्त हो जाती है और सभी वस्तुएँ प्रतीति मात्र मालूम होती हैं। अतः कोई भी वस्तु आदरार्थक पूज्य नहीं। इस ग्रंथ में अनेक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या भी मिलती है। उपाय चार प्रकार का माना गया है—सेवा, उपसाधन, साधन, महासाधन। सेवा के भी दो भेद हैं—सामान्य सेवा, उत्तम सेवा। सामान्य सेवा में चार वज्र है और उत्तम वज्रामृत है। चार वज्र हैं—शून्यताबोधि, बीज में रूपांतर, देवता के रूप में विकास, देवता का वाह्यप्रकाशन। उत्तम सेवा में षडंगयोग का विधान है—प्रत्याहार ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि। ध्यान, प्राचीन बौद्ध ध्यान योग के अनुसार ही पाँच प्रकार का है—वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, एकाग्रता। उपसाधन का अर्थ है देवता का साक्षात्कार। यदि छः मासतक विना भोजनादि के नियमों का पालन किये ही, अभ्यास करने पर सफलता न

---

११. वही, पृ० १४२—चैत्यकर्म न कुर्वीत न च पुस्तकवाचकम्।
मण्डलं नैव कुर्वीत न त्रिवज्राग्रवन्दनम्॥

१२. वही, पृ० १२०—प्राणिनश्च त्वया घात्या वक्तव्यं च मृषावचः।
अदत्तं च त्वया ग्राह्यं सेवनं योषितामपि॥
अनेन वज्रमार्गेण वज्रसत्त्वान्प्रचोदयेत्।
एषो हि सर्वबुद्धानां समयः परमशाश्वतः॥
('शील, समाधि और योग' में पंचशील से तुलनीय)।

प्राप्त हो तो तीसरी बार उपरोक्त योग-पद्धति की आवृति करनी चाहिये। पुनः असफल होने पर हठयोगाभ्यास शरीर-शुद्धि के लिए करना चाहिये। तात्पर्य यह कि साधक को उत्तम सिद्धि की साधना प्रारम्भ करने के पूर्व हठयोग में पूर्ण निपुण हो जाना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि जहाँ हठयोग का अंत होता है, वहाँ तंत्र का आरंभ होता है।[13]

सामान्य चामत्कारिक सिद्धियों को प्राप्त करने के लिये भी निर्देश दिए गए हैं। षटकर्म, (मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, स्तंभन, विद्वेषण, आकर्षण, शांतिक आदि) का भी विधान है।[14] जिस प्रकार महायान की साधना में बोधिचित्तोत्पाद का अत्यधिक महत्व है उसी प्रकार वज्रयान में भी। विभिन्न अतिमानवीय सिद्धियों की प्राप्ति के लिए बोधिचित्त बहुत महत्वपूर्ण है। यथार्थतः पंचध्यानी बुद्धों का मंडल बोधिचित्त की ही सृष्टि है। यह मंडल सर्वप्रदाता है। बोधिचित्त शुद्धतत्वार्थ, शुद्धार्थ धर्मनैरात्म्यसंभूत, बुद्धबोधिप्रपूरक, निर्विकल्प, निरालंब, समंतभद्र, सत्त्वार्थ, बोधिचित्तप्रवर्तक, बोधिचर्या, महावज्र, तथागतों का शुद्धचित्त बुद्धबोधि प्रदाता है।[15] यही वज्रमार्ग है। इस मार्ग की साधना से पतिततम तथा अनैतिकतम व्यक्ति भी निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है।[16]

गुह्यसमाजतंत्र देवताओं की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। ध्यानी बुद्धों का सबसे पहले व्यवस्थित विवेचन इसी ग्रंथ में मिलता है। ध्यानी बुद्ध हैं—अक्षोभ्य, अमिताभ, वैरोचन, अमोघसिद्धि और रत्नसंभव। पाँच बुद्ध—

---

१३. वही, पृ० १६५; इंट्रो०-बी० भट्टाचार्य, पृ० १६-१७।

१४. वही, पृ० ६६-६७, ८४-८५, ९६।

१५. वही, पृ० १२, अहो बुद्ध अहो धर्म...बुद्धबोधिप्रदाता च बोधिचित्त नमोस्तुते।

१६. वही, पृ० २०।

शक्तियाँ हैं—लोचना, मामकी, तारा, पांडरा या पांडरवासिनी और समयतारा। इनके अतिरिक्त चार द्वाररक्षक हैं—प्रज्ञांतक, पद्मांतक, यमांतक, विघ्नांतक। अचल, टक्किराज, नीलदंड, महाबल नाम के चार देवताओं के भी संकेत हैं जो या तो मंजुश्री के साथ रहते हैं या उष्णीषविजया के साथ भूताधिपति, अपराजित का भी नाम है। धनेश जंभल भी हैं। वज्रयानियों के कार्तिकेय, मंजुश्री या मंजुवज्र भी हैं। मंजुश्री के मूलरूप लोकेश्वर या अवलोकितेश्वर का भी नाम आया है। भविष्यत् बुद्ध मैत्रेय, बोधिसत्त्व वज्रपाणि का भी उल्लेख है। गुह्यसमाज में वज्रधर और वज्रसत्त्व परस्पर मिश्रित हो गए हैं। ये यहाँ परमोच्च बौद्ध देवता के रूप में हैं जो शून्य के मानवीकरण हैं। परवर्ती विकास में वज्रधर परमोच्च देवता हो गए और वज्रसत्त्व छठें ध्यानी बुद्ध। गुह्यसमाज में वज्रसत्त्व ध्यानी बुद्ध के रूप में नहीं हैं। ये यहाँ बौद्ध देवताओं के अधिदेव हैं।[१७] ग्रंथ का आरंभ 'ओं नमः श्रीवज्रसत्त्वाय' से किया गया है।

अनंगवज्ररचित प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, यद्यपि प्रज्ञोपाय साधना का ग्रंथ है तथापि इसमें दार्शनिक विवेचन अधिक है। इसके भी उपास्य वज्रसत्त्व ही हैं। प्रथम परिच्छेद का आरंभ 'नमः श्रीवज्रसत्त्वाय' से किया गया है। इसके विवेच्य विषय प्रज्ञा, उपाय, संसार, निर्वाण, तत्वचर्या, गुरुशिष्यवाद, दीक्षा, मुद्रा, वज्राचार्यपूजा आदि हैं। सांसारिक पदार्थों की तथा भव की उत्पत्ति, मिथ्या संकल्पों और कल्पनाओं से होती है। इसीसे दुःख, मरण, उत्पाद (उत्पत्ति, जन्म) आदि होते हैं। अतः संकल्पों और कल्पनाओं का त्याग आवश्यक है। प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि की दृष्टि में भाव का संकल्प या संसार को सत् समझना श्रेयस्कर है, अभाव या असत् की कल्पना नहीं, क्योंकि क्रम यह है कि जलता दीप ही निर्वाण प्राप्त करता है। जो दीप

---

१७. वही, प्रथम पटल, पृ० १–१०; इंट्रो० पृ० २५-२९।

जला ही नहीं उसकी निर्वाण की कहानी क्या? इस भाव-भावना से चित्त की एक ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है जिसमें न संसार रहता है न निर्वाण। ज्ञान और ज्ञेय के अंतर को भलीभाँति समझ लेने के बाद ही शून्यता की प्राप्ति होती है। यही परम ज्ञान या प्रज्ञा है। सभी प्राणियों का रंजन करने के कारण कृपा या करुणा को राग कहते हैं। प्राणी की अनुकूलता के अनुसार नौका के समान यह कृपा या करुणा अभिमत उद्देश्य तक पहुँचती है; अतः इसे उपाय भी कहते हैं। यह संमिलन अद्वयाकार है। यह ग्राह्य-ग्राहक संत्यक्त, लक्ष्य-लक्षण-विनिर्मुक्त, शुद्ध, प्रकृत्या निर्मल, प्रत्यात्मवेद्य, अचल, शिव, दिव्य, धर्मधातु आदि है। यही महासुख है, समंतभद्र है। यह प्रज्ञोपाय भुक्ति और मुक्ति दोनों का स्थान है।[१८]

परमतत्व या तत्वरत्न की परिभाषा नहीं की जा सकती। जिनों के द्वारा भी वह अनिर्वचनीय है। वह प्रत्यात्मवेद्य है। इस तत्व की प्राप्ति केवल सद्गुरु की सेवा से ही संभव है जिसके बिना कोटिकल्पों में भी तत्वप्राप्ति असंभव है। बिना तत्वरत्न की प्राप्ति के सिद्धिप्राप्ति भी नहीं होती। अतः तंत्रवेत्ता सद्गुरु की भक्ति तथा आदर से पूजा उपासना करनी चाहिए। सद्गुरु सूर्य है और शिष्य सूर्यकांत मणि। गुरु सूर्य की किरणों के संपर्क से शिष्य का चित्तमणि प्रज्वलित हो उठता है। सूर्य की किरणें ही प्रज्ञा की किरणें हैं। इस प्रकार का विवेचन करनेवाले परिच्छेद का नाम 'वज्राचार्याराधन' है। वज्रमार्ग का उपदेश देनेवाला सद्गुरु ही वज्राचार्य है।[१९] सेवा से वज्राचार्य को प्रसन्न कर लेने के बाद शिष्य को नवयौवन-संपन्ना,

---

१८. प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि—'टू वज्रयान वर्क्स' में डा० विनयतोष भट्टाचार्य द्वारा संपादित, प्रथम परिच्छेद, पृ० १-६, श्लोक ३-४, ७-९, १३, १५-१७, १९-२१, २५, २७।

१९. वही, पृ० ७-१०, श्लोक ३, ६—९, २४, २६, ३०, ३४।

सुलोचना, विभूषिता मुद्रा के साथ गुरु के पास जाकर उसकी भली भाँति पूजा करनी चाहिए। गुरु के द्वारा दीक्षित होने पर ही शिष्य बुद्धकुल में संमिलित होता है। शिष्य को चाहिए कि वह अत्यंत अनुज्ञापूर्वक इस कृपा-कार्य के लिये गुरु का अनुगृहीत हो और यह प्रतिज्ञा करे कि वह बुद्धत्वप्राप्ति के बाद त्रैलोक्य को बुद्धपद में प्रतिष्ठित करेगा।[२०] इस परिच्छेद का नाम है 'बोधिचित्ताभिषेक'।

जैसा पहले कहा जा चुका है, साधक को न शून्य की भावना करनी चाहिये, न अशून्य की। इन दोनों में किसी को भी ग्रहण करने पर विकल्पों की उत्पत्ति होती है। इसीलिये दोनों को छोड़ देना चाहिए। वह निर्विकार निरासंग, निराकांक्षी, गतकल्मष, कल्पनामुक्त, आकाशसदृश अपनी भावना करे। निष्प्रपंच स्वरूप होने के कारण ही वह प्रज्ञा कही जाती है और चिंतामणि के समान अशेष सत्वों के ऊपर करुणा करने को कृपा कहते हैं। प्रज्ञा और कृपा दोनों ही स्वतंत्र हैं। उन दोनों के समन्वय या योग से विषय और विषयी, ज्ञेय और ज्ञाता आदि नहीं रह जाते। इसीको अद्वय, बोधिचित्त, वज्र या वज्रसत्त्व या बोधि या बुद्ध कहते हैं। यही प्रज्ञापारमिता है, जिसमें सभी पारमिताएँ संनिविष्ट हैं। इसी से सारा संसार उत्पन्न और उसी में लय होता है। इसी से बोधिसत्त्व, संबुद्ध और श्रावक उत्पन्न होते हैं। योगी को इसी का ध्यान करना चाहिए। यह संसार तो विशाल संकल्पों से अभिभूत, प्रभंजन सा उन्मत्त, तड़ित् सा चंचल, अनिवार्य रागादि के मलादि से अवलिप्त चित्त की अवस्था है। निर्वाण प्रभास्वर, कल्पना-विमुक्त, रागादि मलों से निर्मुक्त ग्राह्यग्राहकहीन है।[२१] जहाँ द्वितीय

---

२०. वही, पृ० ११-१५, श्लोक ५-८, ९-१८, २९-३७।

२१. वही, पृ० १६-१९, श्लो० ५-८, १०-१२, १७-२१, २२-२३—

अनल्पसंकल्पतमोभिभूतं प्रभंजनोन्मत्ततडिच्चलं च।

रागादिदुर्वारमलावलिप्तं चित्तं हि संसारमुवाच वज्री ॥ २२ ॥

परिच्छेद में शिष्य को मान, अहंकार, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि छोड़ने का उपदेश दिया गया है, वहीं पंचम परिच्छेद में सामान्य दृष्टि से घोर अनैतिक उपदेश भी दिए गए हैं। यहाँ तत्वचर्या का उपदेश दिया गया है। मंत्रमार्ग में प्रकाशित समयाचार की शिक्षा दी गई है जिससे अनेक सिद्धियों की प्राप्ति तथा उपद्रव और रोग की शांति होती है। नर, अश्व, उष्ट्र, हस्ति और श्वानमांस को पंचपवित्र कहा गया है। मुक्ति के आकांक्षी योगियों द्वारा प्रज्ञापारमिता सेवनीय है। इस पृथ्वी पर की सभी स्त्रियाँ प्रज्ञापारमिता के विभिन्न रूप हैं। इस साधना में सामाजिक संबंधों का भी विचार योगी के लिये आवश्यक नहीं। किंतु इस प्रकार की साधना ऐसे करनी चाहिए जिससे चित्तरत्न संक्षुब्ध न हो, अन्यथा सिद्धि की प्राप्ति कभी भी न होगी। अतः चित्त के अनुकूल ही योग की साधना करनी चाहिए।[२२]

इंद्रभूति की ज्ञानसिद्धि में दार्शनिक और साधनात्मक विषयों का भलीभाँति विवेचन किया गया है। पूर्वविवेचित ग्रंथों की तरह ही इस ग्रंथ के भी उपास्य वज्रसत्त्व ही हैं। ग्रंथ का आरंभ 'नमो वज्रसत्त्वाय' से किया गया है। इसके अनुसार वज्रयान को जो नहीं जानता वह मूढ़ है तथा संसार-सागर में भ्रमित होकर घूमता है। जो साधक सभी प्रकार के संकल्पों से विवर्जित हैं, सत्त्वसमारूढ़ हैं, वे इसी जन्म में पराबोधि प्राप्त करते हैं। मुद्रा, मंडल, जप आदि में तत्पर रहनेवाले साधक असंख्य कोटिकल्पों में भी सिद्धि

---

२२. वही, पृ० २०-२७, श्लोक १७-२२, २३-२५, ४०, ४१—

चित्तानुकूलयोगेन स्वाधिष्ठानप्रदीपितः।
आचरेत् समयं कृत्स्नं मन्त्रमार्गं प्रकाशितम्॥ १७॥
तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन॥ ४०॥
तस्मात् सिद्धिं परामिच्छन् साधको विगताग्रहः।
चित्तानुकूलयोगेन साधयेत् परमं पदम्॥ ४१॥

नहीं प्राप्त कर सकते। साधक को चाहिए कि वह रूप, यौवन, संपत्ति, भोग, ऐश्वर्य, बल, प्रवृत्ति, जन्म, गोत्र आदि का मान चित्त में न रखे और न पंडित या सर्व शिल्पकलाओं में कुशल होने का ही अभिमान करे। बोधि-चित्त की भावना से युक्त होकर साधक शुष्कलोहित मांस को महोदक से संयुक्त कर उसका भक्षण करे। वह मांस मनुष्य, अश्व, गौ, हस्ति, गर्दभ आदि का भी हो सकता है। उसके असत्य भाषण, परदारकामना, परवित्त-हरण आदि कार्यों पर कोई बंधन नहीं है। जिन कर्मों से संसार के प्राणी कोटिकल्पों तक नरक में पड़ते हैं, उन्हीं से योगी मुक्ति प्राप्त करता है। महाकरुणा से संयुक्त योगी लोकहितकारक होता है। वह घृणास्पद व्यक्ति नहीं होता। प्रज्ञा और उपाय के समायोग से पाप भी नहीं होता। इस प्रकार की साधना करनेवाला भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय, शुचि-अशुचि विचार से विवर्जित होता है।[२३]

गुरुतत्व पर विचार करते हुए इंद्रभूति का कहना है कि जिस साधक के ऊपर गुरु की कृपा रहती है, वही उत्तम तत्व की प्राप्ति करता है, अन्यथा चिरकाल तक मूढ़ रहकर क्लेश पाता है। गुरु ही बुद्ध, धर्म और संघ है। उसी की कृपा से रत्नत्रय का ज्ञान प्राप्त होता है। अज्ञान के तिमिरांधों के लिये वह मार्गप्रदर्शक है, सभी आनंदों का आश्रय है, सभी प्रकार की इच्छाओं को पूर्ण करनेवाला है। उसके समान और कोई पूजनीय और महामुनि नहीं है। इसीलिये सभी प्रकार के प्रयत्न कर व्रती को गुरु की

---

२३. ज्ञानसिद्धि—'टू० व० व०' में डा० बिनयतोष भट्टाचार्य द्वारा संपादित, प्रथम परिच्छेद, पृ० ३१-३३; श्लोक ३-७, १२-१८।

कर्मणा येन वै सत्वाः कल्पकोटिशतान्यपि।
पच्यन्ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते॥ १५॥

पूजा करनी चाहिए।[२४] वज्रयान में अभिषिक्त होनेवाला तथा वज्रज्ञान प्राप्त करनेवाला योगी सर्वबुद्धात्मा, मतिमान्, महाबलशाली बोधिसत्त्व स्वेतरों का रक्षक होता है। लोकप्रतिष्ठित मारविघ्न (कामदेव के विघ्न) उसे बाधित या भयभीत नहीं करते। परमतत्व या वज्रतत्व, अनुत्तर, आकाशवत्, व्यापक, अप्रतिष्ठ, सर्वलक्षणविवर्जित है। यह समंतभद्र, महामुद्रा, धर्मकाय आदर्शज्ञान है। अपने में तथा प्राणियों में 'तथाभाव' का ज्ञान ही समताज्ञान है।[२५] कन्या चाहे चांडाल कुल की हो या द्विजाति की हो या जुगुप्सित कुल की हो, सिद्धि प्राप्त करने के लिये उसका उपयोग किया जा सकता है। स्त्री चाहे सर्वांग सुंदर हो या सर्वांग कुत्सित, उसकी अवमानना कभी नहीं करनी चाहिए। सभी कुलों में उत्पन्न स्त्रियाँ पूज्या और वज्रधारिणी होती हैं, किंतु उनके साथ इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए जिससे चित्त दूषित न हो। यही सुशोभन है। नाना भुजाओंवाले देवताओं की भावना करने से, साधनों से, सिद्धि नहीं प्राप्त होती।[२६] ग्रंथांत में लेखक ने इस ग्रंथ को किसी को न दिखाने के लिये सचेत किया है।[२७]

---

२४. वही, पृ० ३३, श्लो० २३-२६।

२५. वही, पृ० ३४-३६; श्लो० ३८-३९, ४१, ४७-४८, ५०—

सर्वतथागतं ज्ञानमात्मनः प्राणिनामपि।
एकस्वभाव सम्बोधौ समताज्ञानमुच्यते ॥ ५० ॥

२६. वही, पृ० ३९-४०, श्लोक ८०-८३, ८६—

सर्वाङ्गकुत्सितायां वा न कुर्यादवमाननाम्।
स्त्रियं सर्वकुलोत्पन्नां पूजयेद् वज्रधारिणीम् ॥ ८० ॥
व्रतोपवासनियमैर्देवतारूपभावनैः।
नानाभुजसमायुक्तैः सिद्ध्यते नहि साधनैः ॥ ८६ ॥

२७. वही, पृ० १००, श्लोक ३—दर्शनं पुस्तकस्यापि न दातव्यं प्रजानता।
वज्रज्ञानप्रतिक्षेपात् नरकं यान्ति मोहिताः ॥ ३ ॥

साधनमाला और अद्वयवज्रसंग्रह वज्रयान के परवर्ती ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों में धीरे-धीरे मंत्रतत्व क्षीण होता हुआ दिखाई देता है और साथ ही पंचमकारों की साधना अधिक प्रगल्भ होती हुई दिखाई देती है। इन ग्रंथों में कहीं भी साधनापद्धति को सभी लोगों से छिपा रखने की बात नहीं कही गई है यद्यपि गंभीरता की दृष्टि से उसे गुह्य अवश्य कहा गया है। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध अथवा आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से लेकर ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी तक निश्चित रूप से वज्रयान के संस्कृत ग्रंथ विपुल मात्रा में लिखे गए होंगे, किंतु मुसलमानों के द्वारा उच्छिन्न किए जाने पर ८४ सिद्धों के अनेक ग्रंथ तिब्बती भाषा में अनूदित रूप में तथा नेपाल में मूलरूप में तांत्रिक बौद्ध धर्म की सुरक्षा के साथ ही सुरक्षित रहे।[२८] इस दृष्टि से लगभग ढाई सौ वर्षों के परिवर्तनों की सूचना देनेवाले ये ग्रंथ अधिक महत्वपूर्ण हैं।

अद्वयवज्रसंग्रह, बहुलांश में वज्रयान की विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं पर लिखी गई छोटी छोटी रचनाओं का संग्रह है। इसीलिये इसमें आदि से अंत तक किसी व्यवस्थित विचारधारा का विवेचन नहीं मिलता। अद्वयवज्र की इस रचना का उनके सिद्धाचार्यों की लोकभाषा की रचनाओं का टीकाकार होने के कारण, विशेष महत्व है। इस ग्रंथ में अन्य पूर्ववर्ती ग्रंथों की अपेक्षा पारमितासाधन को विशेष महत्ता दी गई है। प्रज्ञापारमिता, पंचपारमिताओं का स्वभाव है। इस प्रज्ञापारमिता से विरहित पंचपारमिताएँ, पारमिता (पूर्णता) पद को नहीं प्राप्त कर सकतीं। आर्य विमल—

---

२८. श्री राहुल सांकृत्यायन तिब्बती में अनूदित सिद्धों की अप्राप्त रचनाओं का हिंदी रूपांतर प्रकाशित कर रहे हैं। अभी उन्होंने सरहपाद की कुछ रचनाओं का तिब्बत से भोट भाषा में उद्धार किया है। 'सहजयानी साहित्य' के प्रसंग में विवरण द्रष्टव्य।

कीर्ति के निर्देश की ओर संकेत कर अद्वयवज्रने प्रज्ञा और उपाय के अद्वय की प्रतिष्ठा की है। इस विचार की बारबार आवृति और उसकी महत्ता की घोषणा ग्रंथ में अनेक रूपों में मिलती है। प्रज्ञारहित उपाय बंधन है; उपायरहित प्रज्ञा भी बंधन है। प्रज्ञा सहित उपाय तथा उपाय सहित प्रज्ञा मोक्ष है। इन दोनों के, प्रदीप और उसके आलोक के समान सहजसिद्ध तादात्म्य का ज्ञान सद्गुरु के उपदेश से होता है। पंच पारमिताओं के साथ प्रज्ञापारमिता का सतत सेवन करने से साधक स्वस्थ और सुखी हो जाता है। उनका कहना है कि यद्यपि शुभ और अशुभ निःस्वभाव हैं तथापि शुभ कर्म ही करना चाहिए क्योंकि सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय। अद्वयवज्र ने शरीरदान को विशेष महत्व दिया है जिसे शब्दांतर से हम पंचपारमितासाधन कह सकते हैं। छठीं पारमिता में ही सभी धर्मों या पदार्थों से विलक्षण लक्षणों का अधिगमन होता है।[२९]

इस संग्रह ग्रंथ की प्रथम रचना 'कुदृष्टिनिर्घातनम्' में ही गृहपति बोधिसत्त्व का विवेचन मिलता है। काममिथ्याचारादिकों से यह विरत रहता है। प्रातःकाल ही उठकर शौचादिकों से निवृत्त होकर रत्नत्रयों का अनुस्मरण करता हुआ वह 'ओं आः हूँ' मंत्र से आत्मयोग की रक्षा करता है। इसमें जंभल जलेंद्र देवता का भी स्मरण किया गया है। मंडलनिर्माण का विधान किया गया है। वज्रयान के प्रायः सभी प्रमुख देवताओं, पंचध्यानी बुद्धों, तथागतों, बोधिसत्त्वों का भी नाम और स्थान आया है। प्रथम रचना में मंडलपूजा, मंडलानुशंसा, पटपुस्तक पूजा, धारणी आदि का प्रयोग और महत्व सिद्ध हो गया है।[३०]

---

२९. अद्वयवज्रसंग्रह, सं०–म० पं० हरप्रसाद शास्त्री, पृ० २-३–

शुभाशुभं यद्यपि निःस्वभावकं तथापि कुर्य्यात् शुभमेव नाशुभम्।
जलेन्दुबिम्बोपमलोकसंवृतौ सुखं प्रियं दुःखमजस्रमप्रियम्॥

३०. वही, पृ० ५-८।

उपासक की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि वह शांत्यर्थ बुद्धपूजा में सदैव तत्पर रहता है। प्राणियों का उपकार करने के लिये वह सदैव उपायान्वित (बुद्धयुक्त, करुणाभावना से युक्त) रहता है। पापियों के साथ रहते हुए भी वह पापों का आवर्जन करता है। पाप को सर्वत्र स्वीकार करता हुआ (पापादेशना) भी प्राणियों के पापों का निवारण करता है। वह समारोप (सांसारिक आरोप) से विनिर्मुक्त होकर समाधि में लीन रहता है। वह सर्वदा परमानंदित रहकर संबोधि (सम्यक्बोधि) की साधना करता है। वह करुणा का पालन करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। कष्ट में भी अनिष्टेच्छा न करते हुए पराकोटि की उपकृति करता है। कुशल कर्मों का संपादन करते हुए, पुण्यसंभार को प्राप्त कर अभ्यास से जाग्रत दशा के समान स्वप्न में भी वह कुशल कर्म करता है।[३१]

'तत्वरत्नावली' शीर्षक रचना में अद्वयवज्र ने अत्यधिक स्पष्टता से वज्रयान की दार्शनिक भूमिका उपस्थित की है और योगाचार तथा माध्यमिकों के सिद्धांत का विवेचन किया है। वज्र की विशेषताओं को निरूपित करने के लिये लेखक ने वज्रशेखर से उद्धरण दिया है। वज्र दृढ़ होता है, सारयुक्त होता है, अक्षीण, अछेद्य, अभेद्य, अदाह्य तथा अविनाश्य होता

---

३१. वही, पृ० १०-११—उद्युक्तो बुद्धपूजायां उपशान्तोपशायकः।
उपकाराय सत्त्वानां उपायेनान्वितो भवेत् ॥
पापानावर्जयेन्नित्यं पापिष्ठैः सह संगतिम्।
पापान्निवारयन् जन्तोः पापं सर्वत्र देशयेत् ॥
समारोपविनिर्मुक्तः समाधौ सुसमाहितः।
सर्व्वदा परमानन्दी सम्बोधिं साधयेत् बुधः ॥
करोति सर्व्वदा यत्नं करुणां परिपालयेत्।
कष्टेनापि न चानिष्टं करोत्युपकृतिं पराम् ॥

है। शून्यता को ही वज्र कहते हैं। वज्र का अर्थ शून्यता है और सत्त्व का अर्थ है ज्ञानमात्रता। इन दोनों के तादात्म्य से वज्रसत्त्व की सिद्धि स्वभावतः होती हैं। प्रदीप और आलोक की तरह ही शून्यता और करुणा का भेद है। दोनों का उसी प्रकार ऐक्य भी है। यह संसार शून्यता करुणा से अभिन्न है।[३२] 'सेकनिर्णय' में लेखक ने आरंभ में एवंकार (आदिबुद्ध) को नमस्कार किया है। शिवशक्ति के समायोग से अद्भुत सुख की उत्पत्ति होती है। शक्ति ही शून्यता है। ग्रंथ में उद्धृत उञ्छुष्म (जंभल—एक देवता) तंत्र के अनुसार शिवशक्ति के समायोग से उत्पन्न परमसुख अद्वयरूप होता है। इस रत्न के अंतर्गत न केवल शिव है, न केवल शक्ति। इसी को ब्राह्म सुख कहा गया है। आनंद ब्रह्मरूप है। वही मोक्ष है। जो कुछ दिखाई देता है उसे ब्रह्मरूप में कल्पित करना चाहिये। भगवद्गीता के प्रसिद्ध श्लोक (नासतो विद्यते भावो, २।१६) को उद्धृत कर बताया गया है कि प्रज्ञाप्राप्त पुरुष सत् और असत् दोनों के तत्व का दर्शन करता है। इस रचना में अद्वयवज्र ने हठयोग का भी विरोध किया है।[३३]

---

३२. वही, पृ० २३-२४, २६,—दृढं सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम्।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते।
वज्रेण शून्यता प्रोक्ता सत्त्वेन ज्ञानमात्रता।
तादात्म्यमनयोः सिद्धं वज्रसत्त्वस्वभावतः॥
शून्यताकृपयोर्भेदः प्रदीपालोकयोरिव।
शून्यताकृपयोरैक्यं प्रदीपालोकयोरिव॥

३३. वही, पृ० २८-२९—शक्तिसंगम संक्षोभात् शक्त्यावेशावसानिकम्।
यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं ब्राह्ममुच्यते॥
दुःखानामागमो नास्ति सुखं तत्र निरन्तरम्।
आनन्दो ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेति भण्यते॥

चार मुद्राओं की तंत्रानुसारी साधना से महासुख की प्राप्ति होती है। कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा और समयमुद्राओं में अंतिम मुख्य है। धर्ममुद्रा के विवेचन में कहा गया है कि यह निर्विकल्प, निष्प्रपंचा, उत्पाद-रहिता, करुणास्वभावा, परमानंदैकसुंदरी, उपायस्वरूपा होती है। ललना प्रज्ञा के स्वभाव की होती है तथा रसना उपाय के स्वभाव की। अवधूती मध्यदेश में स्थित रहती है। वह ग्राह्यग्राहक विवर्जित होती है। इस अवधूती को अधिकृत कर लेने से चित्त को सकल पदार्थों की सहजस्वभाविता की प्राप्ति होती है। यह सद्गुरु के उपदेश से प्राप्त होती है। यह धर्ममुद्रा तथा महामुद्रा की अभेदता का हेतु है। यद्यपि महामुद्रा और धर्ममुद्रा एक ही हैं, फिर भी महामुद्रा धर्ममुद्रा से उत्पन्न होती है। समयमुद्रा महामुद्रा का फल है।[३४]

शून्यता और करुणा अभिन्न हैं। उनकी अभिन्नता में ही चित्त भावना-युक्त किया जाता है। यही बुद्ध धर्म और संघ की देशना है। जिस प्रकार गुड़ में मधुरता तथा अग्नि में उष्णता निहित रहती है उसी प्रकार सभी धर्मों या पदार्थों में शून्यता व्याप्त है। भव का परिज्ञान ही निर्वाण है। भव और निर्वाण हेतुफलात्मक है।[३५] बिना सुख के बोधिप्राप्ति असंभव है क्योंकि बोधि या ज्ञान या प्रज्ञा ही सुख है। राग से आकर्षण, आकर्षण से संसार (जन्म-मरणादि) की उत्पत्ति होती है। जो सुख कारण और परिस्थिति से उत्पन्न होगा वह सादि और सांत होगा।[३६] शून्यता कन्या है

---

३४. वही, पृ० २३-२४, २५,—ललना प्रज्ञास्वभावेन रसनोपाय संस्थिता।
अवधूती मध्यदेशे तु ग्राह्यग्राहकवर्जिता॥

३५. वही, पृ० ४२—भवस्यैव परिज्ञानं निर्वाणं इति कथ्यते।

३६. वही, पृ० ५०—'सुखाभावे न बोधिः स्यात् मता या सुखरूपिणी।'
'आदिसान्तसुखं विद्धि यत्सुखं प्रत्ययोद्भवम्॥'

और उसकी छाया वर। बिना वर के कन्या मृत है। यदि वर को कन्या से विमुक्त कर दिया जायेगा तो वर बन्धन में पड़ जायेगा। इसलिए ये दोनों भयकंपित होकर गुरु के पास गये। गुरु ने करुणाप्लुत होकर उन्हें सहज प्रेम दिया जो अनादि और अनंत है। यह गुरु का कौशल था कि वे दोनों निरालंब, अनुत्तर, सभी लक्षणों से पूर्ण, चारो प्रकार की द्वयता से विवर्जित हो गए।[३७]

गुह्यसमाजतंत्र के समान ही आर्यमंजुश्रीमूलकल्प वज्रयान का महत्वपूर्ण किंतु प्रारंभिक ग्रंथ है। तुलना की दृष्टि से यदि गुह्यसमाजतंत्र तांत्रिक महायान धर्म में शक्तिवाद के सिद्धांत को प्रचारित करता है तो आर्यमंजुश्रीमूलकल्प शक्तिवाद के साथ साथ साधना में आनेवाले अन्य मुद्रा, मंडल, यक्षिणी, डाकिनी, आसुर देवताओं आदि के तत्व को प्रचारित करता है। संपूर्ण ग्रंथ को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर 'मूलकल्प' 'गुह्यसमाज' की अपेक्षा पूर्ववर्ती मालूम देता है। प्रधानतया यह ग्रंथ मंत्रयान का है। इस ग्रंथ में कुमार मंजुश्री बोधिसत्त्व महासत्त्व की महत्ता से आदि से अंत तक विभूषित है। मंजुश्री के मंत्र संसार के सभी प्राणियों के ऊपर दीर्घायु, आरोग्य, ऐश्वर्य, मनोरथों की पूरक सामग्री की वर्षा करते हैं।[३८] इन्हीं मंत्रों से अनेक प्रकार की अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। बीच बीच में ज्योतिष, शकुनों के लक्षण आदि विषय भी आए हैं। मंडल का विधान

---

३७. वही, पृ० ५८, प्रेमपंचक। श्लोक १—५।

३८. आर्यमंजुश्रीमूलकल्प—सं० टी० गणपति शास्त्री, पार्ट १, पृ० १—'शृण्वन्तु देवपुत्राः मञ्जुश्रियस्य कुमारभूतस्य बोधिसत्त्वस्य महासत्त्वस्याचिन्त्याद्भुत प्रातिहार्यचर्यासमाधिशुद्धिविशेष विमोक्षमंडल बोधिसत्त्वविकुर्वणं सर्वसत्त्वोपजीव्यमायुदारोग्यैश्वर्यमनोरथपापारिपूरकाणि मन्त्रपदानि सर्वसत्त्वानां हिताय भाषिष्ये।' तथा 'प्रीफेस' पृ० १।

आर्यमंजुश्रीमूलकल्प में अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से मिलता है। भगवती प्रज्ञापारमिता, मामकी आदि को विभिन्न दिशाओं में प्रतिष्ठित किया गया है। मंडलनिर्माण का पूर्ण संचालन मंडलाचार्य करते हैं। ब्राह्मण कर्मकांड, यज्ञयागादि में जैसे अनेक देवताओं और देवियों को विभिन्न दिशाओं और कोणों में पूजनादि के समय स्थापित किया जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी। भगवती प्रज्ञापारमिता को दक्षिण दिशा में स्थापित किया गया है। क्रियाविधान अत्यधिक जटिल है।[३९] एकाक्षरी 'ज' मंत्र के प्रभाव, विधान और सिद्धि आदि का सविस्तर वर्णन मिलता है। इस मंत्र की सिद्धि के लिये अनेक उपयुक्त स्थानों का निर्देश किया गया है। उस मंत्र के माहात्म्य में बताया गया है कि इससे रोगमुक्ति, ईप्सित फल-प्राप्ति, पुत्रप्राप्ति, सौभाग्यलाभ, धनप्राप्ति आदि संभव है।[४०] 'कल् ल् ह्रीं' मंत्र से डाकिनियों के उत्पात और ग्रहों से मुक्ति की आशा दिलाई गई है।[४१] इस ग्रंथ में प्रत्येक तांत्रिक क्रिया के लिये पूरा विधिविधान दिया गया है। कहा गया है कि जो कर्म विधिवत् नहीं किए जाते उनसे सिद्धि कभी नहीं मिलती। सिद्धिप्राप्ति के लिये दो बातें आवश्यक मानी गई हैं—ध्यान और विधि। साधक के लिये आवश्यक है कि वह विधि और ध्यान दोनों का अभ्यास करे। ध्यान से प्राप्त मोक्ष और विधिपूर्वक किये हुए कर्म ही साधक को पूर्ण बनाते हैं। ध्यान के बिना मोक्ष संभव नहीं। इसीलिये ध्यान और मोक्ष के संयोग को ही विधि कहा जाता है।[४२] 'मूलकल्प' में मुद्रा तत्व का भी विस्तार से वर्णन मिलता है। महामुद्रा, मंत्रमुद्रा आदि उसके अनेक भेद भी बताए गए हैं। षट्त्रिंश पटल के अध्ययन से मुद्रा का

---

३९. आर्यमंजुश्रीमूलकल्प, पार्ट १, पृ० ३६-४६।

४०. वही, पृ० ५३–५५—'मुच्यते सर्वरोगेभ्यो.........कल्पते ॥'

४१. वही, पृ० ८१–८४।

४२. वही, पृ० १६५।

'मूलकल्प' गृहीत अर्थ 'हाथ की उंगलियों से बनाये हुए अनेक प्रकार के आकार' प्रतीत होता है।[४३] अनेक देवताओं, देवियों, डाकिनियों आदि की कल्पना, 'मूलकल्प' में प्रचुर परिमाण में मिलती है। इसके अनुसार यक्षिणियाँ आठ हैं—नट, नटी, भट्ट, रेवती, तमसुरी, मेखला, लोका, सुमेखला। इन सभी की सिद्धि के लिये अलग अलग मंत्र दिए गए हैं और उनकी साधनपद्धति भी बताई गई है।[४४] मुद्रा, मंडल, मंत्र आदि का इतना सुविस्तृत विवेचन ही यह सिद्ध करता है कि यह मंत्रयान की पर्याप्त विकसित साधना का ग्रंथ है। डा० भट्टाचार्य का मंजुश्रीमूलकल्प को अत्यधिक प्राचीन सिद्ध करते हुए उसे द्वितीय शताब्दी का मानना अनुचित है जब कि गुह्यसमाज तंत्र को लगभग ७वीं शताब्दी का ग्रंथ माना गया है। अधिक से अधिक इसे लगभग ६ठीं–७वीं शताब्दी का ग्रंथ मानना चाहिए क्योंकि तुलनात्मक दृष्टि से गुह्यसमाजतंत्र कुछ विषयों में 'मूलकल्प' का विकल्प प्रतीत होता है। साधनमाला के दोनों भागों में इस साधना की चरम परिणति दिखाई देती है।

इन ग्रंथों के विषयवस्तु के विवेचन से प्रकट है कि वज्रयान की कुछ विचारधाराओं को स्पष्टरूप से उसके सिद्धांतों के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

———

४३. वही, पृ० ३८२–४२८।
४४. वही, पृ० ५६४–५७८।

६. वज्रयान की विचारधाराएँ

१—अधिकारभेदवाद और बौद्ध तंत्र

तांत्रिक बौद्ध धर्म या वज्रयान के साहित्य में जो विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं उनसे स्पष्ट होता है कि तांत्रिक महायान धर्म की साधना एक प्रकार की गुह्य साधना है। गुह्यसमाजतंत्र जैसे ग्रंथ ऐसी गुह्य साधना का विधान करते हैं। ज्ञानसिद्धि जैसे ग्रंथ इस साधना को अधिक से अधिक गुप्त रखने के लिये आदेश देते हैं तथा उल्लंघन पर नरकभोग का दंड भी सुनाते हैं। इन सबके मूल में काम करनेवाला तत्व है—अधिकारभेदवाद। उपनिषदों में नचिकेतस् जैसे बलिदानी मुमुक्षुओं और जिज्ञासुओं की कथा अधिकता से मिलती है। श्री पाल डायसन ने उपनिषद् शब्द के जो प्रामाणिक अर्थ किए हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषद् विद्या या ब्रह्मविद्या भी गुह्यविद्या है और उसके लिये गुरु के समीप जाकर शिक्षा लेनी पड़ती है। वह भी एकांत विद्या है।[१] इसी आधार पर तांत्रिक साहित्य में भावों और आचारों की कल्पना की गई है। यह माना जाता है कि सभी लोग सभी साधनाओं के योग्य नहीं होते। अतः प्रत्येक की शक्ति के अनुसार ही उसके लिये साधनविशेष उपयुक्त है। इसी विचार से साधकों का श्रेणीविभाग किया जाता है तथा प्रत्येक विभाग में प्रविष्ट या दीक्षित होने के लिये नियम बना दिए जाते हैं। इन्हीं आधारों पर साधना की गुह्यता, गुरु की योग्यता, शिष्य की पात्रता, भाव और आचार के विभाजन का विचार किया जाता है। इस विभाजन, बंधन का कारण यह है कि जिस साधना में सिद्धि की चर्चा हो, अनेक अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हों,

---

१. दि फिलासफी आव दि उपनिषद्स—डायसन, पृ० १२।

जिनके सुप्रयोग तथा कुप्रयोग से मानव जाति का हित अहित, उत्थान पतन, सुख दुःख, शांति अशांति का निर्णय होता हो, उनमें भलीभाँति परीक्षित व्यक्तियों को ही दीक्षित होने का अवसर देना चाहिए। इसीलिये वज्रयान के ग्रंथों में गुरु की योग्यता, शिष्य की पात्रता, दीक्षा की कठोरता, साधन-विधि की गोप्यता का विधान मिलता है। साधना की गुह्यता, गंभीरता अनुभव की परिपक्वता आदि के कारण तांत्रिक साधना में गुरु को बुद्ध या शिव से कम महत्व नहीं दिया गया है।

पहले ही कहा जा चुका है कि महायान बौद्ध धर्म को प्रकारांतर से हिंदू मत मानना चाहिए। उसी प्रकार वज्रयान को भी विद्वानों ने व्यवहारतः बौद्ध हिंदू धर्म या बौद्ध वेश में हिंदू अथवा शैव मत कहा है।[२] बौद्ध और हिंदू दोनों ही तंत्रों में देवी और देवता (शक्ति और देवता) साधनात्मक और दार्शनिक विषयों पर वार्तालाप करते दिखाई देते हैं। बौद्ध तंत्रों में वे मंडलों में क्रियात्मक प्रदर्शन भी करते हैं। देवता का आवाहन करने की शिक्षा गुरु ही देता है। ज्ञानसिद्धि इत्यादि ग्रंथों के विवेचन से स्पष्ट है कि देवता का आवाहन करने के लिये तथा तल्लीनता या अद्वयावस्था की प्राप्ति के लिये योगिनी या मुद्रा या कुमारी की कल्पना की गई थी। इसी साधना को प्रतीकात्मक ढंग से कहने के लिये योगी और योगिनी के लिये वज्र और पद्म दो प्रतीक चुने गए। उसके आधार पर मंत्र भी बने। ये मंत्र अद्वयावस्था की ओर संकेत करनेवाले थे। इनके जप का महाफल भी स्वीकार किया गया। 'ओं मणिपद्मे हूँ' जैसे मंत्र इसके प्रमाण हैं।[३] वज्रयानियों ने प्राचीन

---

२. इंसाइक्लोपीडिया आव रेलिजन ऐंड एथिक्स—जेम्स हेस्टिंग्स, वा० १२, पृ० १९३।

३. इस मंत्र की विशेष विस्तृत व्याख्या के लिये द्रष्टव्य—ज० रा० ए० सो०, १९१५, पृ० ३९७-४०४ में 'दि मीनिंग आव दि 'ओं मणिपद्मे हूँ' फार्मुला' शीर्षक लेख, ले० ए० एच० फ्रैंके।

त्रिकाय सिद्धांतों में भी परिवर्द्धन कर दिया। उनके अनुसार वज्रसत्त्व का वास्तविक काय आनंदकाय, सुखकाय या महासुखकाय है। इस प्रकार उन लोगों ने एक चौथे काय की कल्पना की। यही वज्रकाय है। इसी काय से तथागत या भगवान्, शक्ति या भगवती या तारा से सदैव संपरिष्वक्त रहते हैं। भगवती में सदैव विहार करनेवाले रूप की कल्पना की गई। एल० डे ला पुसिन ने इस तत्व को अनेक पुस्तकीय प्रमाणों के साथ उपस्थित किया है।[४] इन वज्रयानियों का यह भी विश्वास था कि पवित्र व्यक्ति के लिये सभी वस्तुएँ पवित्र हैं। इसीलिए लोग अपने आचार में भक्ष्याभक्ष्य, शुचि-अशुचि, गम्यागम्य, पेयापेय का विचार नहीं रखते थे। अतः संसार के पदार्थों का भोग करने में आपत्ति की कोई आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार के विचार म० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा उद्घाटित आर्यदेव की रचना (चित्तविशुद्धि प्रकरण ?) में मिलते हैं।[५]

इस साधना में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य है। एक तो यह कि तंत्रों में, चक्रपूजा में भी, जिसमें पंचमकारों (मद्य, मुद्रा, मैथुन, मांस, और मत्स्य) के सेवन के लिए छूट है, भोग की एक सीमा निर्धारित की गई है। एक तांत्रिक शैव ग्रंथ महानिर्वाण तंत्र में कहा गया है कि मद्यादि सेवन उतना ही करना चाहिये, जितने से चित्त विचलित न हो। वहाँ पूर्णाभिषेक केवल अपनी ही पत्नी के साथ होना उचित माना गया है। दूसरी बात यह है कि गुह्य क्रियाओं का विधान केवल चुने हुए उपासकों के लिये किया गया है। श्री पुसिन का विचार है कि वज्रयान में भी दक्षिणाचार और वामाचार, नामक दो आचार जीवित थे। उनमें कुछ तो ऐसे थे

---

४. ई० रे० ए०, जे० हे०, वा० १२, पृ० १९६।

५. ज० ए० सो० बें, १८९८, वा० १, पा० २, पृ० १७५-१८४।

जो राजयोग को आचरणीय मानते थे। कुछ लोग अँगुलियों से बनाई हुई अनेक मुद्राओं को महत्व देते थे। कुछ लोग ज्ञानमुद्रा (मानसिक मुद्रा) की बात करते थे।[६]

इस प्रकार की विशेषता से युक्त होने के कारण तथा मंत्र, मुद्रा, मंडल, पंचमकार आदि को प्रश्रय देने के कारण अपनी तथा लोक की नैतिक सुरक्षा के लिये साधकों का श्रेणी विभाग स्वीकार करना आवश्यक था। जिन विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि बुद्ध ने लौकिक जनों की संतुष्टि के लिये लौकिक सिद्धि प्रदान करनेवाले मंत्रादि को अपनी अनुज्ञा दी थी तथा बुद्ध ने बाद में धान्यकटक में कुछ चुने हुए लोगों को वज्रयान का उपदेश दिया, क्योंकि पहले लोगों में इसे ग्रहण करने की शक्ति नहीं थी, उन लोगों का मंतव्य संभवतः यही था कि इस प्रकार की साधना में साधकों का श्रेणी–विभाग आवश्यक है। बौद्ध धर्म में यद्यपि यह दीक्षा तत्व और श्रेणीविभाग तत्व बहुत स्पष्ट रूप में नहीं दिखाई देता, फिर भी वहाँ आचारादि के नैतिक विधानों में भेद अवश्य कर दिया गया है। पंचशील और दशशील का भेद इसी दृष्टि से किया गया था। भिक्षु तथा सामान्य गृहस्थ के बौद्ध नियमों में अंतर रखा गया था। बौद्ध के प्रव्रज्या लेने को भी दीक्षा लेने का एक प्रकार ही मानना चाहिए। अनुमान है कि जैसे जैसे बौद्ध धर्म के अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई, उसी के साथ बौद्ध भिक्षु और गृहस्थ के अंतर भी बढ़ते गये होंगे। महायान के बौद्ध भिक्षुओं में मंत्रमुद्रादि तत्व अन्य तांत्रिक साधकों के प्रभाव से प्रविष्ट हुए होंगे। बाद में प्रव्रज्या और विहार में रहकर भिक्षु जीवन व्यतीत करने के नियम और तत्व ने दीक्षा या सेक या अभिषेक का रूप धारण कर लिया होगा। नालंदा के बौद्ध बिहार ने तांत्रिक साधना के प्रसार में बहुत अधिक कार्य किया। वहाँ के बौद्ध भिक्षु

---

६. इं० रे० ए०, जे० हे०, वा० १२, पृ० १९७।

आचार्यों ने चीन और तिब्बत आदि देशों में तांत्रिक साधना का प्रसार किया।[७] वज्रयान ने इस दीक्षा या अभिषेक तत्व को अत्यधिक महत्ता दी क्योंकि पंचमकारों के सेवन और षटकर्म या आभिचारिक कर्मसाधन के लिए ऐसा करना आवश्यक था। इसीलिये अद्वयवज्र ने इस वज्रयान को मंत्रनय कहते हुए उसकी साधना को अत्यधिक गंभीर माना है। इसे तीक्ष्णेंद्रिय-अधिकार-साध्य माना गया है।[८]

इन आधारों पर गुरु तत्व की महती प्रतिष्ठा के साथ एक दूसरा कार्य जो वज्रयान ने किया, वह यह था कि उसने अपने सभी देवताओं, देवियों, पूजन सामग्रियों अथवा साधना में प्रयुक्त होनेवाले उपकरणों को वज्रांकित कर दिया। तात्पर्य यह कि वज्रयान का साधनात्मक और धार्मिक प्रतीक वज्र है।[९] वास्तव में वज्रयान की साधना दृढ़ता और अमरता की साधना है। मनुष्य के इस सांसारिक जीवन में, उसके उत्थान और पतन के तीन विंदु उसके शरीर में ही है। कुछ लोग उपासना के क्षेत्र में इन्हें मन, वचन और कर्म कहते हैं। बौद्ध साधना में इन्हें काय वाक् और चित्त कहते हैं। इन तीनों के वज्र स्वभाव की प्राप्ति करना ही वज्रयान की साधना

---

७. इं० हि० क्वा०, दिसंबर, २१, सं० ४, 'पापुलर बुद्धिज्म'—नलिनाक्ष दत्त, पृ० २४८-२४९।

८. अद्वयवज्रसंग्रह, पृ० २१—'मन्त्रनयस्तु अस्माद्भिर्थैरिहातिगम्भीरत्वाद् गम्भीरनयाधिमुक्तिकपुरुषविषयत्वात् चतुर्मुद्रादि साधनप्रकाशन विस्तरत्वाच्च न व्याक्रियते।

एकार्थत्वेऽप्यसंमोहात् बहूपायाददुष्करात्।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते॥'

९. सेकोद्देश टीका—सं० मैरिओ ई० करेल्ली, इंट्रो० पृ० ६, तथा ऐन इंट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म-डा० शशिभूषण दासगुप्त, पृ० ८०-८१।

है। वज्रकाय, वज्रवाक् और वज्रचित्त आदि के साथ यह भी स्वीकार कर लिया गया कि संसार की प्रत्येक वस्तु जो वज्रांकित है, शून्यता की प्राप्ति कराने में सहायक हो सकती है। इस प्रकार की साधना में चित्त को प्रधानता दी गई और कहा गया कि यही एक ऐसा तत्व है जिससे योग और भोग, मुक्ति और भुक्ति, निर्वाण और संसार दोनों सिद्ध होते हैं।

बोधिचित्त और प्रज्ञोपाय

वज्रयानियों का चित्त, दार्शनिक दृष्टि से योगाचारियों के चित्त से बहुत भिन्न नहीं है। वज्रयानियों ने चित्त को शुद्ध तांत्रिक एवं साधनात्मक रूप प्रदान किया। दार्शनिक दृष्टि से चित्त चेतना का प्रतिक्षण परिवर्तनशील प्रवाह है। प्रत्येक क्षण आगामी क्षण को जन्म देता है। चेतन क्षणों की यह श्रृंखला अनादि और अनंत है। अकुशल कर्मों के प्रभाव से यह चित्त स्वभावतः स्मृति, वासना, कल्पना आदि से अशुद्ध हो जाता है। शोधन न करने से चित्त द्वादश निदानों के चक्र में पड़ता है। वासना-कल्पनादि के क्रमशः हट जाने पर यह चित्त ऊर्ध्वमुख होकर आध्यात्मिक स्थितियों को, जिन्हें महायान में भूमि कहा जाता है, पारकर दसवीं या अंतिम भूमि धर्म-मेघा में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है। यह पूर्णज्ञानी बोधिचित्त अपने वास्तविक विश्वात्मक रूप में अकनिष्ठ लोक (स्वर्ग) में निवास करता है।[१०] ज्ञानसिद्धि में इसी बोधि को प्राप्त कर लेनेवाले चित्त को शून्यता और करुणा का अभिन्न रूप कहा गया है।[११] साधक का यह व्यक्तिगत बोधिचित्त

---

१०. तत्वसंग्रह—सं० डा० विनयतोष भट्टाचार्य, इंट्रो० पृ० ३९; मूल पृ० ५, ९१६।

११. ज्ञानसिद्धि—टू० व० व०, पृ० ७५—'शून्यता करुणाभिन्नं बोधिचित्त-मिति स्मृतम्।' श्री गुह्यसमाजतंत्र से उद्धृत।

वज्रसत्त्व है। जीव की बोधिचित्त की विवृत अवस्था, अनुत्तर अवस्था है। यह भव और निर्वाण दोनों से परे है। प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि में इसे नित्य प्रभास्वर, शुद्ध, जिनालय, सर्वधर्ममय, दिव्य, निखिलास्पदकारण कहा गया है।[१२]

डा० दासगुप्त ने प्रज्ञा और उपाय तथा शून्यता और करुणा के परस्पर पर्याय के रूप में प्रयुक्त किए जाने का इतिहास प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि शून्यता के लिये प्रज्ञा शब्द का प्रयोग बौद्ध दर्शन और साहित्य में बहुत अधिक मिलता है किंतु करुणा के लिये उपाय शब्द का प्रयोग कुछ शास्त्रीय और सांकेतिक है। सुजुकि के प्रमाण पर यह कहा जा सकता है कि अश्वघोष के महायानश्रद्धोत्पादसूत्र में बोधि की दो उपाधियाँ मानी गई हैं—१—प्रज्ञा और २—उपाय (करुणा)। परवर्ती महायान साहित्य में करुणा के लिये उपाय शब्द का प्रयोग बहुलता से मिलता है। वहाँ उपाय का अर्थ है—वह धर्मकार्य जो सत्योपदेश द्वारा सांसारिक जनों को अपने अविद्या आवरण को हटाकर सत्य साक्षात्कार के लिये प्रेरित करता है।[१३]

हेवज्रतंत्र में उपाय और प्रज्ञा को योगी और उसकी साधन-सहयोगिनी या महामुद्रा के रूप में कल्पित किया गया है। बोधिचित्त को इन दोनों का, जो क्रमशः करुणा और शून्यता हैं, अद्वयरूप कहा गया है।[१४] बौद्धतंत्रों

---

१२. ऐन इं० तां० बु०—दासगुप्त, पृ० ९८–१००; तथा 'टू० व० व०' में प्र० वि० सि०, पृ० १०, श्लोक २९।

नित्यं प्रभास्वरं शुद्धं बोधिचित्तं जिनालयम्।
सर्वधर्ममयं दिव्यं निखिलास्पदकारणम्॥ २९॥

१३. ऐन इं० तां० बु०—दासगुप्त, पृ० १०१-१०२।

१४. हेवज्रतंत्र, पटल १०, हस्तलिखित ग्रंथ, २० (अ०), डा० दासगुप्त द्वारा पृ० १०२ पादटि० में उद्धृत।

में इन दोनों के योग पर, दार्शनिक और तान्त्रिक योगसाधना दोनों की दृष्टि से, बहुत अधिक जोर दिया गया है। अद्वयवज्रसंग्रह के प्रेमपंचक में इन दोनों के योग के लिये वर और वधू की कल्पना की गई है। एक दूसरे से वियुक्त होने पर दोनों ही निष्क्रिय और अशक्त हो जाते हैं।[१५] अनुभवी गुरुके उपदेश से दीपक और उसके आलोक के समान अद्वयत्व प्राप्त करने से धर्मों (पदार्थों) और आत्मा के स्वभाव के ज्ञान में, साक्षात्कार करने में, सफलता मिल सकती है। प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि में उपाय को नौका के रूप में कल्पित किया गया है। यह करुणा नौका संसार के जीवों को अनुकूल तट तक पहुँचाती है, इसीलिये इसे उपाय भी कहते हैं। इस करुणा को राग भी कहा गया है। जल और दूध की तरह प्रज्ञा और उपाय का अद्वयत्व प्रज्ञोपाय कहलाता है।[१६] जिस प्रकार दो काष्ठों के घर्षण से अत्यंत शुद्ध अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार प्रज्ञा और उपाय के संमिलन से शुद्ध और प्रकाशपूर्ण ज्ञान उदित होता है।[१७]

प्रज्ञा और उपाय एक ही परमतत्व के दो पक्ष हैं। प्रज्ञा निष्क्रिय है और करुणा सक्रिय। वज्रयान के परमोच्च देवता हेरुक उपाय हैं और उनकी शक्ति वाराही प्रज्ञा हैं। प्रज्ञा या वाराही ज्ञान हैं और उपाय या हेरुक ज्ञेय। इन दोनों के योग से अवधूतीमंडल का निर्माण होता है। प्रज्ञा नारी है, अभावात्मक है, जब कि उपाय नर सक्रिय और भावात्मक है। इन

---

१५. अद्वयवज्रसंग्रह, पृ० ५८—प्रतिभासो वरः कान्तः प्रतीत्योत्पादमात्रकः।
न स्यात् यदि मृतैव स्यात् शून्यता कामिनी मता ॥ १ ॥
शून्यतातिवरा कान्ता मूर्त्या निरुपमा तु या।
पृथक् यदि कदाचित् स्यात् बद्धः स्यात् कान्तनायकः ॥

१६. प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि—टू० ब० व०, पृ० ५, श्लो० १५-१७।

१७. ऐन ई० तां० बु०, दासगुप्त, पृ० १०५।

दोनों को क्रमशः इसी विचारपरंपरा में, निवृत्ति और प्रवृत्ति भी कहा जा सकता है। नेपाल के ऐश्वरिक मत में इन्हें आदिप्रज्ञा और आदिबुद्ध कहा गया है। इस नामकरण में जगत् का विकास संबंधी दार्शनिक सिद्धांत स्पष्ट परिलक्षित होता है। बौद्ध धर्म के त्रिरत्नों में धर्म को प्रज्ञा, बुद्ध को उपाय और संघ को संसार कहा जाता है। बुद्ध और धर्म के संयोग से संघ की उत्पत्ति होती है।[१८]

अद्वयवज्रसंग्रह में प्रज्ञा को शक्ति और उपाय को शिव कहा गया है और दोनों के समायोग से उत्पन्न तत्व को अद्भुत सुख माना गया है।[१९] शैवों का 'शक्ति-शिव-मथुन-पिंड' (अर्द्धनारीश्वर) ही बौद्धों का प्रज्ञोपाय है। बौद्धों के यहाँ प्रज्ञा निवृत्ति पक्ष है और उपाय (करुणा), निवृत्ति या प्रज्ञाप्राप्ति के बाद का प्रवृत्ति पक्ष, जिन्हें दूसरे शब्दों में हम क्रमशः निर्वाण और संसार कह सकते हैं। उसी प्रकार शैवों में पूर्णतात्मक मोक्ष को अहं तथा अपूर्णतात्मक संसार को इदं कहा गया है। शक्ति को 'रक्त' और शिव को 'बिंदु' कहा जाता है। सांख्य में पुरुष को निष्क्रिय निर्गुण और शांत माना जाता है और प्रकृति को सक्रिय और सगुण (स+गुण) कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि शैव-शाक्त और वेदांत में नर और नारी तत्व या पक्ष का जो विचार मिलता है, बौद्धों में उसका विपरीत रूप दिखाई देता है। अद्वयवज्र ने जहाँ उच्छुष्मतंत्र को उद्धृत कर शिव–शक्ति–समायोग को परमाद्वय और सत्सुख कहा है वहाँ निश्चित रूप से

---

१८. वही, पृ० १०६-१०९।

१९. अद्वय० सं०, पृ० २८–'न सन्ति तत्त्वतो भावाः शक्तिरूपेण भाविता'।
शक्तिस्तु शून्यता दृष्टिः सर्व्वारोपविनाशिनी ॥'
तथा—'लक्ष्यलक्षणनिर्मुक्तं वागुदाहारवर्जितम्।
शिवशक्तिः समायोगात् जायते चाद्भुतं सुखम् ॥'

उन्होंने शिवशक्ति को बौद्ध परंपरा के अनुसार ग्रहण किया है।[२०] इसी प्रकार क्रियाशील बोधिचित्त को उपाय कहा जाता है और निष्क्रिय बोधिचित्त को प्रज्ञा या नैरात्म या शून्यता कहा जाता है। जब बोधिचित्त ऊर्ध्वमुख होकर गतिशील होता है तो अंततः वह नैरात्मा या शून्यता या सहजानंद में लीन हो जाता है।[२१]

बौद्धतंत्र संसार के नारी तत्व को प्रज्ञा का तथा नर तत्व को उपाय या बुद्ध का अवतार मानते हैं। प्रज्ञा को भगवती या मुद्रा तथा उपाय या बुद्ध को भगवान् कहते हैं। प्रज्ञा को ही, साधना की दृष्टि से महामुद्रा, वज्रकन्या, युवती या पद्म भी कहा गया है। हेवज्रतंत्र में प्रज्ञा को जननी, भगिनी, रजकी, नर्तकी, दुहिता डोम्बी आदि कहा गया है। इन सभी संज्ञाओं की वहाँ पूर्ण व्याख्या मिलती है, किंतु वह व्याख्या आध्यात्मिक और साधनात्मक दृष्टि से की गई है न कि सांसारिक या स्मृतियों की दृष्टि से।[२२] इसी प्रकार प्रज्ञा को पद्म या नारी और उपाय को वज्र या नर कहा गया है क्योंकि प्रज्ञा या नारी महासुखाश्रय है। वह भगवती है क्योंकि वह सभी कष्टों का भंजन करनेवाली है। उसे योनि इसलिये कहा जाता है कि उसी से सभी प्राणियों की उत्पत्ति होती है।[२३] इसी विचारपरंपरा का अनुसरण

---

२०. वही, पृ० २८—उच्छुष्मतंत्रेऽपि—'शिवशक्तिसमायोगात् सत्सुखं परमाद्वयम्
न शिवो नापि शक्तिश्च रत्नान्तर्गत संस्थितम्।'

२१. ऐ० इं० तां० बु०, दासगुप्त, पृ० ११२।

२२. व्याख्या के लिये द्रष्टव्य—ऐन० इं० तां० बु०, दासगुप्त, पृ० ११३-११४।

२३. हेवज्रतंत्र, हस्तलिखित ग्रंथ, पृ० २३ (बी), ऐन० इं० तां० बु०, पृ० ११७।

करते हुए ज्ञानसिद्धि में स्त्रींद्रिय को पद्म तथा पुंसेंद्रिय को वज्र कहा गया है।[२४]

प्रज्ञा को ललना और उपाय को रसना भी कहा जाता है जिन्हें हिंदू तंत्रों में इड़ा नाड़ी और पिंगला नाड़ी कहा जाता है। जिस नाड़ी में दोनों नाड़ियाँ समायुक्त होती हैं उसे अवधूती कहते हैं। इसे हिंदू तंत्रों में सुषुम्ना कहते हैं। बौद्धों के यहाँ यह नाड़ी निर्वाण मार्ग के रूप में स्वीकार की गई है। यह नाड़ी महासुखाश्रय है। अवधूती का स्थान दोनों नाड़ियों के बीच में है।[२५] हिंदू तंत्रों में इड़ा (ललना), चंद्रमा और शक्ति का प्रतीक है और पिंगला (रसना), सूर्य और शिव का प्रतीक है।[२६] प्रज्ञा आलि (स्वर) है और उपाय कालि (व्यंजन)। इन्हीं को क्रमशः वाम और दक्षिण भी कहते हैं। इन्हीं को चंद्र और सूर्य भी कहते हैं। प्रज्ञा 'ए' है और उपाय 'वं'। दोनों का समायोग 'एवं' है। यही युगनद्ध है। अद्वयवज्र ने बुद्ध को एवं का रूप मानकर उन्हें नमस्कार किया है।[२७]

---

२४. ज्ञानसिद्धि, टू० व० व०, पृ० ४२, श्लोक ११–

शुक्रं वैरोचनं ख्यातं वज्रोदकं तथाऽपरम्।
स्त्रीन्द्रियं च यथा पद्मं वज्रं पुंसेन्द्रियं तथा ॥ ११ ॥

२५. साधनमाला, सं० विनयतोष भट्टाचार्य, पृ० ४४८, तथा ऐन इं० तां० बु०, पृ० ११८।

२६. षटचक्रनिरूपण–सं० तारानाथ विद्यारत्न, रामवल्लभ कृत टीका, पृ० ३। 'वामगा या'''केसरप्रभा।'

२७. ऐन इं० तां० बु०, दासगुप्त, पृ० १२२। अद्वयवज्रसंग्रह, पृ० २८– 'एवंकारं नमस्कुर्मो...।' विस्तृत विवेचन के लिये द्रष्टव्य—दि मिस्टिक सिग्निफिकेंस आव "एवं"—भा रिसर्च इन्स्टीट्यूट जर्नल, वा०२, पार्ट १, १९४४।

ऊपर प्रज्ञा और उपाय के अद्वयत्व की चर्चा की गई है। प्रज्ञा और उपाय का अभिन्न रूप ही बोधिचित्त है। इसी अभिन्न रूप को अद्वय भी कहा जाता है। साधनमाला में अद्वैत रस की कल्पना की गई है। कहा गया है कि जैसे सिद्ध रस के संपर्क से ताम्रपत्र अपनी, संपूर्ण अशुद्धता को छोड़कर स्वर्ण हो जाता है उसी प्रकार शरीर भी अद्वैतरस के संपर्क से राग द्वेषादिक दोषों को छोड़ देता है।[२८] शून्यता और करुणा को नमक और जल के समान कल्पित किया गया है। इन दोनों के अभिन्न मिश्रण के समान ही अद्वयता होती है। देवताओं में प्रज्ञा और उपाय या शून्यता और करुणा के प्रतिनिधि प्रज्ञा और हेरुक हैं जिनका संयुक्त या संपरिष्वक्त रूप युगनद्ध या अद्वय कहलाता है।[२९]

संसार की द्वयता का अद्वैत में तिरोधान ही अद्वय है। यही युगनद्ध है। संसार और निर्वाण की भिन्न भावनाओं के निष्कासन से प्राप्त एकात्मता की अवस्था ही युगनद्ध की अवस्था है। काय, वाक् और चित्त की तथता के आश्रय में प्रवेश करना, इनसे परे होना तथा पुनः क्लेशयुक्त संसार की ओर अभिमुख होना युगनद्ध की अवस्था प्राप्त करना है। अर्थात् संसार की ओर उन्मुख होना करुणा है और काय, वाक् और चित्त की तथता में प्रवेश करना शून्यता-ज्ञान प्राप्त करना है। संवृति (सांसारिक सत्य) और परमार्थ (अलौकिक सत्य) के स्वभाव को जानना और दोनों को संयुक्त करना युगनद्ध है। यह अवस्था स्मृति अस्मृति, राग-अराग, उत्पत्ति उत्पन्न, रूप-अरूप इन सबसे परे है। यह इन सभी द्वैतसंपन्न रूपों का अद्वय रूप है। यही बुद्धत्व की अवस्था है। वज्रसत्त्व, वज्रोपम, अद्वय, अनुत्तर, सभी इस अवस्था की ओर संकेत करते हैं। 'प्रेमपंचक' में इसी

---

२८. साधनमाला, सं० विनयतोष भट्टाचार्य, पृ० ८२।

२९. ऐन इं० बु० ए०, भट्टाचार्य, पृ० १०२-१०३।

अद्वय की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया गया है, गुरु से सहायता ली गई है। शैवों और शाक्तों के 'कामकला' और कामेश्वर तथा कामेश्वरी के परस्पर समन्वय या सामरस्य के सिद्धांत भी इसी तत्व की ओर संकेत करते हैं।[३०]

तांत्रिक साधना में परम देवता को 'भुक्तिमुक्तिप्रदाता' माना जाता है। बौद्धों में इसी को संसार और निर्वाण का अद्वय कहा जाता है। तंत्रों के साधनपरक होने के कारण देवता के परम रूप की प्राप्ति ही साधक का चरम लक्ष्य है। यह परम रूप अद्वय रूप है। इसीका प्रयुक्त या आचरित रूप युगनद्ध है। युगनद्ध का प्रतीक स्त्रीत्व और पुंसत्व के विलक्षण ऐक्य की ओर संकेत करता है। यह सांवृतिक सत्य और परमार्थ सत्य, प्रज्ञा और करुणा या राग के ऐक्य का प्रतीक है। वह प्रत्येक के जीवन में उत्पन्न होने वाली बुद्धि और हृदय के परस्पर विभेद और वैषम्य की समस्या का समाधान देता है। डा० ग्वेंथर की दृष्टि में युगनद्ध मानव के यथार्थ जीवन में उत्पन्न होनेवाली समस्याओं का मानसिक समाधान देता है।[३१] यह युगनद्ध या अद्वय संसार के सभी पदार्थों में व्याप्त है। वे पदार्थ केवल देखने में द्वैत या भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हैं। युगनद्ध चेतनता और अचेतनता (प्रज्ञा और उपाय) का अद्वय रूप है। दोनों ही एक हैं। उनमें भिन्नता नहीं है।[३२] शक्तिमार्ग आत्मा का मार्ग है और शिव मार्ग शरीर का। दोनों के बीच का मार्ग अद्वयमार्ग है। यही मानव जीवन के संतुलन का मार्ग है।

---

३०. ऐन इं० तां० बु०, दासगुप्त, पृ० १२५-१२९।

३१. युगनद्ध–दि तांत्रिक व्यू आव लाइफ–हर्बर्ट वी० ग्वेंथर, प्रीफेस, पृ० ३, इंट्रो० पृ० ६।

३२. युगनद्ध, ग्वेंथर, पृ० १५७; गुह्यसमाजतंत्र, पृ० १६१–
'अद्वयाः सर्वधर्मास्तु द्वयभावेन लक्षिताः।'

वज्रयानियों ने राग और महाराग की भी कल्पना की है। यह राग सांसारिक राग न होकर साधनात्मक राग है। कृपा या करुणा को ही राग कहा जाता है। यह रंजन करती है, प्रसन्न करती है, दुःखसागर से प्राणियों का उद्धार करती है, इसीलिये इसे राग कहते हैं। मनुष्य राग से ही बंधन में पड़ता है और उसी से मुक्त भी होता है। अनंत जन्मों से संसार चक्र में पड़े हुए प्राणियों के दुःखसागर से उद्धार की प्रतिज्ञा और प्रयत्न से उत्पन्न सुख को महाराग सुख कहा जाता है। इस संसार की उत्पत्ति और प्रणाश राग से संभव है। मनीषी लोग रागों से अपनी रक्षा करने के लिए, राग (या महाराग) की सहायता लेते हैं। तात्पर्य यह कि राग या महाराग सुख शब्दों का प्रयोग प्राणियों के उद्धार-प्रयत्न तथा सघन आनंद के लिये किया गया है जो प्रज्ञा और उपाय के व्यवस्थित और सुसंगत सम्मिलन से उत्पन्न होता है।[३३]

इसी प्रकार हिंदू तांत्रिकों की भाँति वज्रयानियों में समरस की भावना भी प्रचलित है। समरस का अर्थ है, विश्व की अनेकता में एकता की उपलब्धि, सर्वव्यापी सुख के अनूठे प्रवाह में एक परम सत्य का साक्षात्कार। हेवज्रतंत्र के अनुसार सहजावस्था में प्रज्ञा और उपाय की अभेदता रहती है। किसी का पृथक् प्रत्यभिज्ञान उस समय नहीं होता।[३४] सम का अर्थ है एकात्मता तथा रस का अर्थ है चक्र। इस संसार चक्र के पदार्थों की एकात्मता की उपलब्धि ही समरसोपलब्धि है। दार्शनिक दृष्टि से समरस का अर्थ अद्वय और युगनद्ध है। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर संपूर्ण संसार एकरसमय एकरागमय हो जाता है। इस अवस्था में पहुँचने पर पर-अपर, सुख-दुःख राग-विराग आदि का अनुभव नहीं रह जाता। हिंदू तंत्रों का सामरस्य भी

---

३३. ऐन इं० तां० बु०, दासगुप्त, पृ० १३५-१३८।

३४. आब्स्क्योर रेलिजस कल्ट्स, शशिभूषण दासगुप्त, पृ० ३४।

संयोग या शिव-शक्ति के भावैकरसत्व की ओर संकेत करता है। बौद्ध तंत्रों में यौन-यौगिक साधना से उदित अद्वयत्व को संकेतित करने के लिये इस शब्द का व्यवहार मिलता है।

अद्वय, युगनद्ध, समरस की तरह तांत्रिक बौद्धों ने महासुख की कल्पना की। इसका विकास बौद्ध निर्वाण से हुआ है। इसी को सुखराज, सहजानंद आदि नामों से अभिहित किया जाता है। पहले निर्वाण शब्द का अर्थ था जन्म-मरण का पूर्ण-निरोध, बुझ जाना, सभी वासनाओं और संस्कारों के निरोध से प्राप्त होनेवाली परम शांति। निर्वाण भावात्मक है या अभावात्मक, इस पर अत्यधिक विवाद है। पालि साहित्य में (विशेषकर 'मिलिंद पञ्हो' में) निर्वाण को भावात्मक ही माना गया है। यद्यपि पालि ग्रंथों में निर्वाण को अनिर्वचनीय कहा गया है किंतु काव्यात्मक वर्णनों में इसे परम, संत, विशुद्ध, पनित, संति, 'अक्खर', ध्रुव, 'सच्च', अनंत, अजात, 'असंखत', अकट, केवल, शिव आदि विशेषणों के साथ प्रयुक्त किया गया है।[३५] कुछ पालि ग्रंथों में इसे परमसुखावस्था भी कहा गया है।[३६] विज्ञानवाद या योगाचार मत में निर्वाणधातु को ज्ञाता ज्ञेय से परे बताया गया है। वसुबंधु ने विज्ञप्तिमात्रता को विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में अनाश्रव, अचिंत्य, कुशल, ध्रुव, सुख, विमुक्तिकाय, धर्म आदि कहा है।[३७] धम्मपद जैसे प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में भी निर्वाण को भावात्मक और सुखात्मक मानकर उसे परमसुख कहा गया है।[३८] तांत्रिक बौद्ध दर्शन में महासुख के ही अर्थ में निर्वाण को ग्रहण किया गया। बौद्ध

---

३५. आ० रे० क०, दासगुप्त, पृ० ३५, पीछे 'महायान की विचारधाराएँ' में 'निर्वाण' प्रसंग द्रष्टव्य।

३६. मज्झिम निकाय, १.५०८, 'निब्बानं परमं सुखम्।'

३७. त्रिंशिका, श्लोक ३०।

३८. दि धम्मपद, सर एस० राधाकृष्णन्, सुखवग्गो, पृ० १२६, श्लोक २०३–२०४।

तांत्रिक ग्रंथों में इसे सतत सुखमय कहा गया है। इंद्रभूति के अनुसार महासुख के अनिर्वचनीय होने के कारण जिनोत्तमों ने उसका प्रवचन नहीं किया।[३९] सिद्ध सरहपाद ने कहा है कि यह सुखराज कारणरहित है, संपूर्ण जगत् में उदित है। इसके निर्वचन के समय सर्वज्ञ बुद्ध को भी वचनदरिद्र होना पड़ा था।[४०] यह तत्व भुक्ति और मुक्ति दोनों का आश्रय है। यह अपरिवर्तनशील, परमानंद, सभी वस्तुओं का बीज, पूर्णता-प्राप्त साधकों की अवस्था और परमोच्च स्थान है। यह धर्मकाय, अनादि, अनंत, वज्रसत्त्व, युगनद्ध, अद्वय, बोधिचित्त, परमतत्व आदि नामों से अभिहित किया जाता है। यह प्रज्ञा भी है, उपाय भी है, युगनद्ध भी है।[४१]

तांत्रिक बौद्ध योग

इस महासुख तत्व का परिचय भलीभाँति प्राप्त किए बिना साधना चल नहीं सकती। तांत्रिकों ने बार-बार इन विचारों को गंभीर बताया है। सबका प्रवेश इसमें संभव नहीं। तंत्र दर्शनप्रधान न होकर क्रियाप्रधान है। जीवन में आचार की व्यावहारिकता को छोड़कर, लगभग प्रथम शताब्दी से बौद्ध मत दर्शन की जटिलताओं में लग गया था। बाद में तांत्रिक प्रभावापन्न होने पर उसमें पुनः व्यावहारिकता और क्रिया की प्रधानता हुई। क्रियासंपादन के लिये गुरु की आवश्यकता का अनुभव किया गया।

---

३९. ज्ञानसिद्धि—टू० व० व०, पृ० ५७, श्लोक १।

४०. सेकोद्देश टीका, सं० एम० ई० करेली, पृ० ६३ पर नडपाद द्वारा उद्धृत सरहपाद का वचन—

जयति सुखराजः एकः कारणरहितः सदोदितो जगताम्।
यस्य च निगदनसमये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः॥

४१. आ० रे० क०, दासगुप्त, पृ० ३६–३७।

जिस तांत्रिक प्रभावापन्न मार्ग की प्रतिष्ठा हुई उसके साधन पक्ष को कुछ विद्वानों ने वज्रयोग नाम से अभिहित किया है। इस साधना में गुरु, शिष्य, शरीर, चक्र–नाड़ी–कल्पना इत्यादि का अत्यधिक महत्व है। अधिकारभेदवाद को स्वीकार करने से तथा अपनी साधना को एकांत में संपादित करने के कारण इस साधना को गुह्यसाधना कहते हैं। इन्हीं कारणों से इसमें गुरु को बुद्धवत् महत्ता प्राप्त है।

बौद्ध तंत्रों में गुरु बुद्ध हैं, सुगत हैं, धर्मकाय हैं। वही मुक्तिप्रदाता हैं। किंतु यह गुरु-पद-लाभ सरल नहीं है। वह शून्यतागर्भ, सर्वसंकल्प–वर्जित, सर्वज्ञ, ज्ञानसंदोह, ज्ञानमूर्ति होता है। अनेक तांत्रिक ग्रंथों में प्राप्त गुरु तत्व के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि गुरुपद ही बुद्धपद है। स्वयं गौतम बुद्ध महागुरु थे। गुरु शिष्य पर कृपा करता है। बिना गुरुकृपा के प्रज्ञाप्राप्ति असंभव है। साथ ही उत्तम और सच्चा गुरु मिलना भी कठिन है। जो गुरु प्रबुद्ध, सर्वज्ञ, ज्ञानसंदोह नहीं होता वह मिथ्याज्ञाना-भिमानी होता है। वह लोभ से प्रेरित होकर धर्मदेशना करता है।[४२] उसी प्रकार शिष्य को दीक्षा के पूर्व पूर्ण ब्रह्मचारी और सभी प्रकार के संयमों का अनुसरण करनेवाला होना चाहिए। तांत्रिक ग्रंथों में विभिन्न स्थानों पर शिष्य के लिये अनेक बातें लिखी मिलती हैं। उनमें से अनेक परस्पर-विरोधिनी हैं। अनुमान है कि वे निर्देश भाव और आचार के अनुकूल दिए गए हैं। इंद्रभूति ने तीन और अद्वयवज्र ने दो भेद शिष्यों के माने हैं। अद्वयवज्र के अनुसार शिष्य दो प्रकार के होते हैं—शैक्ष और अशैक्ष। दवासम दुप ने तंत्रों का जो विभाजन किया है वह भी क्रियाप्रधानता और भावप्रधानता को ध्यान में रखकर किया है।[४३] इस प्रकार की साधना आरंभ करने के लिये दो बातों की आवश्यकता है—योग्य गुरुप्राप्ति तथा

---

४२. द्व० व० व०, पृ० १२, ७१, ७२।

४३. ऐन इं० बु० ए०, भट्टाचार्य, पृ० ९२-९६।

उपयुक्त प्रज्ञा (योगिनी या मुद्रा) की प्राप्ति। शिष्य अपनी मुद्रा के साथ गुरु के पास जाता है, उसकी पूजा करता है, प्रार्थना करता है। गुरु प्रसन्न होकर अभिषेक करते हैं। तभी से शिष्य बुद्धकुल में संमिलित होता है। बिना अभिषेक के बुद्धत्वप्राप्ति असंभव है। वज्रगुरु या वज्राचार्य के द्वारा वज्रमुद्रा के साथ साधक के किए गए अभिषेक को वज्राभिषेक कहते हैं। यह वज्राभिषेक अनेक प्रकार के अभिषेकों के बाद होता है।[४४] अभिषेक हो जाने के बाद शिष्य मंडल में अपनी प्रज्ञा के साथ प्रवेश कर साधना आरंभ करता है। इस साधना में साधक अपने को बुद्ध और अपनी मुद्रा को प्रज्ञा का अवतार समझता है।

वज्रयान का साधक अपनी साधना में अपने शरीर को अत्यधिक महत्व देता है। अन्य तांत्रिकों की तरह बौद्ध तांत्रिक भी इस शरीर को सभी सत्यों का आश्रय मानते हैं। संपूर्ण विश्व के सत्य इसी शरीर में निवास करते हैं। यह शरीर संसार से विषम नहीं है। नदी, पर्वत, समुद्र आदि शरीर के विभिन्न भागों में स्थित हैं। परम सत्यलाभ के लिये यह शरीर महत्वपूर्ण यंत्र है। इसी मान्यता के आधार पर तांत्रिक बौद्धों ने कमलों, चक्रों और नाड़ियों की कल्पना की है। शरीर का मेरुदंड वाह्य विश्व में स्थित 'मेरु पर्वत' है। बौद्धों ने नामांतर से चार चक्रों की कल्पना की है—मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और सहस्रारचक्र (उष्णीष कमल)। बौद्धों चक्रों के साथ कायों की अभिन्नता भी स्थापित की है। क्रमशः उन चक्रों से निर्माणकाय, संभोगकाय, धर्मकाय और सहजकाय का संबंध है। मेरुदंड के मूल में निर्माणचक्र या निर्माणकाय स्थित है, हृदय में धर्मकाय और गर्दन के नीचे संभोगकाय है। त्रिकायों में सबसे पहले निर्माणकाय, दूसरा संभोगकाय और अंत में तीसरा स्थान धर्मकाय को मिलता है। किंतु यहाँ क्रमपरिवर्तन कर निर्माणकाय, धर्मकाय और संभोगकाय कर दिया गया

४४. ऐन इं० तां० बु०, दासगुप्त, पृ० १७५-१७६।

है। चतुर्थ चक्र सहस्रारचक्र या सहजकाय या उष्णीषकमल है। हेरुकतंत्र के अनुसार महासुखकमल में चार आर्यसत्यों के प्रतीक चार दल हैं। संभोग चक्र में सोलह दल हैं। धर्मचक्र में आठ दल तथा निर्माणकमल में चौंसठ दल हैं। सेकोद्देशटीका के अनुसार उष्णीषकमल से निर्माणकमल तक के चार कमलों में क्रमशः चार, सोलह, बत्तीस तथा चौंसठ दल हैं। हेरुक-तंत्र ने इनके बीच में भी कुछ कमलों की कल्पना की है।[४५] श्रीसंपुट में चार चक्रों का संबंध इन चार मुद्राओं के साथ जोड़ा गया है—कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा तथा समयमुद्रा। ये मुद्राएँ पुनः चार स्कंधों की अधिष्ठात्री देवियों से संबद्ध कर दी गई हैं—लोचना (पृथ्वी), मामकी (अप, जल), पांडरा (अग्नि) और तारा (वायु)। इनके प्रतीकात्मक मांत्रिक वर्ण हैं—ए, वं, म और या (तुलनीय 'एवं मया श्रुतम्')।[४६] अर्थात् निर्माणचक्र का वर्ण 'ए' और अधिष्ठात्री देवी लोचना हैं, जिसकी मुद्रा को कर्ममुद्रा कहते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक चक्र में एक मुद्रा, एक वर्ण और एक अधिष्ठात्री देवी हैं। चक्रों में लोचना, मामकी, पांडरा और तारा देवियाँ क्रमशः करुणा, मैत्री और प्रणिधि (एकाग्रता), मुदिता तथा उपेक्षा के प्रतीक रूप में रहती हैं (द्रष्टव्य 'शील, समाधि और योग' परिच्छेद)।

वज्रयानियों ने नाड़ीकल्पना भी की है। उपनाड़ियों को छोड़कर बौद्ध तंत्रों में बहत्तर हजार नाड़ियाँ मानी गई हैं। हिंदू तंत्रों में भी नाड़ियों की संख्या बहत्तर हजार मानी गई हैं। इनमें बत्तीस नाड़ियाँ मुख्य हैं। उनमें भी तीन प्रमुख हैं—ललना, रसना और अवधूती। इन्हें ही हिंदू तंत्रों में क्रमशः इड़ा, पिंगला, और सुषुम्ना कहते हैं। ललना वाम भाग में स्थित रहती है तथा रसना दक्षिण भाग में। इस वाम और दक्षिण युग्म के अन्य पर्यायवाची शब्द भी हैं —

४५. ऐन इं० तां० बु०, दासगुप्त, पृ० १६१-१६५; सेकोद्देशटीका, पृ० २८—'चतुर्दलोष्णीष''''''प्रज्ञाज्ञानाभिषेकः।'

दक्षिण—रसना, पिंगला, सूर्य, रवि, अग्नि, प्राण, चमन, कालि, बिंदु, उपाय, यमुना, रक्त (?), पलित, सूक्ष्म, रेतस, धर्म, स्थिर, पर, द्यौ, भेद, चित्त, विद्या, रजस्, भाव, पुरुष, शिव, निर्माणकाय, ग्राह्य।

वाम—ललना, इड़ा, चंद्र, शशिन्, सोम, अपान, धमन, आलि, नाद, प्रज्ञा, गंगा, शुक्र (?), बली, स्थूल, रजस्, अधर्म, अस्थिर, अपर, पृथिवी, अभेद, अचित्त, अविद्या, तमस्, अभाव, प्रकृति, शक्ति, संभोगकाय, ग्राहक।[४७]

बौद्ध तंत्रों में वर्णित ललना (प्रज्ञा, आलि), गर्दन के पास से निकलती है और बाईं ओर से नाभिप्रदेश में प्रवेश करती है। नाभिप्रदेश से रसना (उपाय, कालि) आरंभ होती है और गर्दन के पास दाहिनी ओर से प्रवेश करती है। इन दोनों के बीच में हृत्कमल से निकलती हुई अवधूती से बोधिचित्त प्रवाहित होता है। यह अवधूतिका सहजानंदप्रदायिका है। यह स्वयं सहजानंदरूपिणी है। अवधूती बोधिचित्त है, भगवती नैरात्मा है, सहजसुंदरी है।[४८]

इस यौगिक साधना का मुख्य उपाय बोधिचित्तोत्पाद है इस उत्पाद—

---

४६. संगीति पद्धति पर लिखे गए बौद्ध तंत्रों का आरंभ इसी प्रकार के वचन से किया गया है। विशेष विवेचन के लिये द्रष्टव्य—(१) ऐन इं० तां० बु०, दासगुप्त, पृ० १२०-१२४; (२) गुह्यसमाजतंत्र, इंट्रो० डा० विनयतोष भट्टाचार्य, पृ० ९-१०।

४७. स्टडीज इन दि तंत्राज, पार्ट १, डा० प्रबोधचंद्र बागची, पृ० ६९। डा० बागची ने ही यह स्वीकार किया है कि इन दोनों वर्गों में अनेक शब्द ऐसे हैं, जिनका वर्गनिर्धारण संदेहजनक है। बौद्ध तंत्रों में अधिकतर आलि-कालि, प्रज्ञा-उपाय, रक्त-शुक्र और ग्राहक-ग्राह्य शब्दों का प्रयोग मिलता है।

४८. ऐन इं० तां० बु०, दासगुप्त, पृ० १७०-१७४।

साधन से प्रज्ञा और उपाय के परम योग तथा महासुखावस्था की प्राप्ति होती है। जब तक चित्त अशांत या चंचल रहता है, तब तक वह प्राणी को भाव-अभाव के जगत् से बाँधे रहता है किंतु जब यह उष्णीषकमल में अचंचल कर दिया जाता है तो यह बोधिचित्त महासुखोत्पत्ति करता है। तात्पर्य यह कि बोधिचित्त के दो पक्ष हैं—सामान्य चंचल अवस्था में संवृत तथा असामान्य निश्चल शांत अवस्था में विवृत। इन दोनों अवस्थाओं को क्रमशः सांवृतिक और पारमार्थिक अवस्था भी कहते हैं। माध्यमिकों का विचार है कि सत्य दो प्रकार का होता है—संवृति सत्य और परमार्थ सत्य।[४९] इन्हीं दोनों को बोधिचित्त की संवृत और विवृत अवस्था कह सकते हैं। चित्त सामान्य अवस्था में संवृत सत्य का और असामान्य विवृत अवस्था में परमार्थ का साक्षात्कार करता है। महासुख की प्राप्ति के लिये चित्त की अधोगति अवरुद्ध कर देनी चाहिए। चित्त की अधोगति से सिद्धिप्राप्ति असंभव है।[५०] मर्मकलिकातंत्र की टीका के अनुसार बोधिचित्त की अधोगति के अवरोध के लिये षडंग योग-साधन आवश्यक है। पतंजलि के अष्टांग योग से यह षडंग योग भिन्न है। इसमें प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा अनुस्मृति और समाधि को छः अंगों के रूप में ग्रहण किया गया है जब कि पतंजलि ने यम, नियम, आसन के अतिरिक्त प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि की परिगणना की है। श्रीगुह्यसमाजतंत्र ने इस योग-साधना को कितनी महत्ता दी है, इसका विवेचन पहले ही हो चुका है। (द्रष्टव्य 'वज्रयान का साहित्य' परिच्छेद)।

प्राण और अपान की साधना मंत्रयोग की सहायता से की जाती है। उसमें पूरक, कुंभक, और रेचक तीन क्रियाएँ होती हैं। इन तीन क्रियाओं में क्रमशः 'ओं आः हुं' तीन वर्णों के मंत्र का जप होता है। प्राण-अपान

---

४९. द्रष्टव्य-'माध्यमिक दर्शन' परिच्छेदांश।

५०. ऐन इं० तां० बु०, दासगुप्त, पृ० १८०।

नियंत्रण के लिये मंत्र का प्रयोग विहित है। इस वज्रजाप से संपन्न प्राण-अपान के नियंत्रण से चित्त की अधोगति बाधित होती है तथा वह ऊर्ध्वमुख होकर उष्णीषकमल में महासुखरस का पान करता है। इस साधनात्मक और आध्यात्मिक यात्रा को महायान में बोधिसत्त्व की दशभूमियों की यात्रा के रूप में कल्पित किया गया है। चित्त की अधोगति के नियंत्रण के लिये हठयोग की मुद्राओं, बंधों, आसनों और प्राणायाम का विधान भी है। गुह्यसमाजतंत्र ने इस हठयोग को प्रारंभिक साधन के लिये उपकारक माना है।[५१] तांत्रिक बौद्धों की बोधिचित्तोत्पाद की यह साधना हिंदू तंत्रों के कुंडलिनी जागरण की साधना से बहुत मिलती-जुलती है। कुंडलिनी के जागरण के समय साधक की जीवात्मा कुंडलिनी से अभिन्न हो जाती है और फिर जाग्रत कुंडलिनी के साथ ही उसकी आध्यात्मिक यात्रा आरंभ होती है। जिस प्रकार हिंदू तंत्रों के अनुसार मूलाधारचक्र में कुंडलिनी जागती है, उसी प्रकार बौद्ध तंत्रों के अनुसार निर्माण चक्र में चांडाली जाग्रत होती है। जाग्रत होने पर शिरोभाग स्थित चंद्रमा से अमृतस्राव होने लगता है। इसीसे योगी के शरीर का रूपांतर होता है। इसी देवी चांडाली को विकास की अवस्थाओं के अनुसार, डोंबी, योगिनी, सहजसुंदरी, नैरात्मा आदि नामों से भी पुकारा जाता है। यही सहजसुंदरी बोधिचित्त को मध्यमपथ से उष्णीषकमल या महासुखचक्र तक ले जाती है।

चक्रों और नाड़ियों के साथ चार मुद्राओं, क्षणों और आनंदों की भी कल्पना की गई है। जिस प्रकार का क्रम निर्माणचक्र से लेकर उष्णीष-कमल तक है, वही क्रम इन मुद्राओं, क्षणों और आनंदों में है—

मुद्रा—कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा और समयमुद्रा।

क्षण—विचित्र, विपाक, विमर्द और विलक्षण।

आनंद—आनंद, परमानंद, विरमानंद और सहजानंद।

---

५१. वही, पृ० १८५–१८८।

चक्र—निर्माणकायचक्र, संभोगकायचक्र, धर्मकायचक्र और उष्णीषकमल-चक्र या सहस्रार चक्र।

अधिष्ठात्री देवियाँ—लोचना, मामकी, पांडरा और तारा।

वर्ण—ए, वं, म और या।

कर्ममुद्रा शारीरिक, यौगिक क्रियाओं से संबद्ध है। इसी में चित्त को ऊर्ध्वमुख किया जाता है। धर्ममुद्रा निष्प्रपंच, निर्विकल्प और अकृत्रिम होती है। जब बोधिचित्त और भी ऊपर उठता है और अनुत्तर ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसी को महामुद्रा का प्राप्ति कहते हैं। इसमें ज्ञेयावरण और क्लेशावरण क्षीण हो जाते हैं। यह भव और निर्वाण का ऐकात्म्य है। समयमुद्रा इन सबसे परे है। इन मुद्राओं में क्रमशः आनंद, परमानंद, विरमानंद और सहजानंद की प्राप्ति होती है। आनंद, सांसारिक आनंद है। परमानंद उसकी अपेक्षा अधिक सघन है। विरमानंद में सांसारिक आनंद सेपूर्ण विराग संपन्न होता है। सहजानंद ही प्रासव्य आनंद है। भव और निर्वाण से यह पूर्णतया परे होता है। यह तीनों से परे और विलक्षण है।[५२]

हिंदू तंत्रों में विवेचित चक्र, नाड़ी और वर्णकल्पना अधिक विस्तृत, सूक्ष्म और व्यवस्थित है। बौद्ध तंत्रों की ये कल्पनाएँ बौद्ध दार्शनिक और साधनात्मक विचारणाओं की परंपरा के अनुकूल है। इसीलिए इनके यहाँ छः के स्थान पर चार ही चक्रों की कल्पना की गई है। डा० शशिभूषण दासगुप्त ने विस्तार से इन कल्पनाओं का तुलनात्मक विचार किया है।

———

५२. ऐन इं० तां० बु०, दासगुप्त, पृ० १९२-१९३। हिंदू तंत्रों में विवेचित नाड़ीचक्रकल्पना के लिये द्रष्टव्य—ए० हि० इं० फि०, वा० २, सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, 'मेडिकल स्कूल' पर लिखित परिच्छेद। अद्वयवज्र-संग्रह, पृ० ३२-३५।

१०. कालचक्रयान

कालचक्रयान संबंधी महत्वपूर्ण कार्य श्री वैडेल और श्री कोरोस ने किया है। श्री कोरोस के कथनानुसार इस विशेष यान का जन्म संभल में हुआ था। यह उत्तर का कोई ऐसा प्रदेश है जिसकी राजधानी चल्प (Calpa) थी। अनेक प्रख्यात राजाओं का प्रदेश संभल ४५° से ५०° अक्षांश के बीच स्थित है। कालचक्रयान ईसा की दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मध्यभारत में और बाद में काश्मीर से होकर तिब्बत में प्रचारित हुआ। तिब्बत में चौदहवीं, पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में बहुत से विद्वानों ने अनेक भाष्य और टीकायें लिखीं जो अभी तक उस देश में प्रचलित हैं। पद्म चर्पो (Padma Carpo) ने, जिनका समय कोरोस ने लगभग सोलहवीं शताब्दी माना है, नालंदा में कालचक्रयान के प्रवर्तित होने की बात लिखी है। नालंदा में विहार के प्रधान द्वार पर बहुत सी बातें उत्कीर्ण की गई थीं जिनका संबंध कालचक्रयान के सिद्धांतों से था। स्वयं श्री कोरोस ने यह स्वीकार किया है कि प्राचीन लेखकों द्वारा कहीं भी आदिबुद्ध या कालचक्र उद्धृत या संकेतित नहीं हुए हैं। उनके अनुसार इसका सबसे पहला उल्लेख दसवीं शताब्दी के 'केंह्ग्युर' में मिलता है। वहाँ भी ऐसा मालूम होता है कि यह बाद में प्रक्षिप्त किया गया है। उन्होंने उपदेशों की प्रामाणिकता पर विश्वास करते हुए उन्हें कालचक्र और आदि-बुद्ध के विचारों का मूल आधार माना है।[1]

---

१. ज० ए० सो० बें, नं० १४, फरवरी, १८३३, १—नोट आन दि ओरिजिन आव दि कालचक्र ऐंड आदिबुद्ध सिस्टम, मि० एलेक्स डे कोरोस, पृ० ५७, ५९।

श्री वैडेल के कथनानुसार दसवीं शताब्दी में उत्तर भारत, काश्मीर और नेपाल में आसुर बुद्धों (या ऐंद्रजालिक बुद्धों) से युक्त बहुदेवतावादी एक तांत्रिक संप्रदाय विकसित हुआ। इस संप्रदाय में मंत्रयान की साधनाएँ भी संमिलित की गईं। इसने स्वयं अपने को वज्रयान कहा। इसके अनुयायी वज्राचार्य कहलाते थे। कालचक्रयान दर्शन नहीं साधना है। फिर भी इसका सैद्धांतिक आधार अवश्य है। वैडेल की दृष्टि में यह आदिबुद्ध-सिद्धांत का तथा मंत्रयान के सिद्धांतों का अति सामान्य तांत्रिक विकास है। ध्यानी बुद्धों, आदिबुद्ध और भयंकरा काली के संयोग से उत्पन्न होनेवाली सृष्टि और प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियों की व्याख्या यह यान करता है।[२]

डा० दासगुप्त इसे वज्रयान का ही एक उपयान मानते हैं जिसमें भयंकर देवियों और देवताओं की प्रधानता थी। इन भयंकर देवियों और देवताओं को ही वैडेल ने आसुर देवी देवता कहा है। किंतु कालचक्र और इन भयंकर देवी देवताओं का एक घनिष्ठ संबंध है।[३] श्रीकालचक्रमूलतंत्र की उत्पत्ति के विषय में पारंपरिक मत यह है, जैसा अभिनिश्रयणसूत्र में मिलता है, कि बुद्ध ने श्री धान्यकटक में इसका प्रवर्तन किया था।[४]

नालंदा के विहार में जो उपदेश प्राप्त हुए थे, संक्षेप में वे निम्नलिखित हैं—

१—जो आदिबुद्ध को नहीं जानता, वह कालचक्र को भी नहीं जानता।

२—जो कालचक्र को नहीं जानता, वह दैवी गुणों की यथाक्रम गणना नहीं जानता।

---

२. लामाइज्म—वैडेल, पृ० १५; ऐन इं० तां० बु०, दासगुप्त पृ० ७२-७३ पर उद्धृत।

३. ऐन इं० तां० बु०; दासगुप्त, पृ० ७३।

४. आ० रे० क०, दासगुप्त, पृ० २०।

३—जो दैवी गुणों की गणना नहीं जानता, वह वज्रधरज्ञान को नहीं जानता।

४—जो वज्रधरज्ञान को नहीं जानता, वह तंत्रयान को नहीं जानता।

५—जो तंत्रयान को नहीं जानते, वे जन्म-मरण-चक्र में घूमते रहते हैं तथा भगवान् वज्रधर के मार्ग के वे पथिक नहीं हैं।

६—प्रत्येक लामा (गुरु) के द्वारा आदिबुद्ध की शिक्षा दी जानी चाहिए और प्रत्येक मुक्ति के अभिलाषी शिष्य को उसे सुनना चाहिये।[५]

इस यान की अपनी सुदृढ़ साधनात्मक तथा दार्शनिक भित्ति भी है। पं० हरप्रसाद शास्त्री ने 'कालचक्र' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि काल का अर्थ है, मृत्यु और नाश। कालचक्र का अर्थ है, नाशचक्र और कालचक्रयान का अर्थ है, वह यान जो काल या नाश के चक्र से रक्षा कर सके।[६] कालचक्रयान के प्रामाणिक ग्रंथ सेकोद्देशटीका में कहा गया है कि 'का' से 'शांत कारण', 'ल' से 'लय', 'च' से 'चंचल चित्त' तथा 'क्र' से 'क्रमबंधन' अर्थ संकेतित होता है। तात्पर्य यह कि सांसारिक विषयों से चंचल चित्त के साथ परम शांत कारण (आदिबुद्ध) में प्राण के लय को कालचक्र कहते हैं।[७] 'आदिबुद्ध की कल्पना करुणा और शून्यता की मूर्ति के रूप में की गई है। उन्हीं की संज्ञा काल है। उनकी शक्ति संवृतिरूपिणी है

---

५. ज० ए० सो बें०, नं० १४, फरवरी, १८३३, १-नोट आन दि ओ० का० आ० सि०, कोरोस, पृ० ५८।

६. माडर्न बुद्धिज्म ऐंड इट्स फालोअर्स इन ओरिसा, नगेंद्रनाथ वसु, इंट्रो०-म० हरप्रसाद शास्त्री, पृ० ८।

७. सेकोद्देशटीका, करेली, पृ० ८—

ककारात्कारणे शान्ते लकाराल्लयो अत्र वै।
चकाराच्चलचित्तस्य क्रकारात्क्रमबन्धनैः॥

अर्थात् जगत् का यह व्यावहारिक रूप (संवृति) उन्हीं की शक्ति है। चक्र सतत परिवर्तनशील विश्व का प्रतिनिधि है। शक्ति से संवलित रूप काल-चक्र है। यह अद्वय (दो होकर भी एक) है तथा कभी उसका विनाश नहीं होनेवाला (अक्षर) है।'[८]

आसुर बुद्ध संबंधी वैडेल के मत को सभी विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है। कालचक्रयान के विशेष ग्रंथ हैं—श्रीकालचक्रमूलतंत्र, सेकोद्देशटीका, परमार्थ सेवा, विमलप्रभा। इस साहित्य के अध्ययन से आसुर बुद्धों की स्थापना, कोई ऐसा लक्षण नहीं प्रतीत होता जिसके आधार पर कालचक्रयान को वज्रयान से विलक्षण सिद्ध किया जा सके। डा० दासगुप्त का कथन है कि कालचक्रयान की प्रमुख विशेषता है योग पर जोर देना। श्रीकालचक्रमूलतंत्र में कहा गया है कि सभी वस्तुओं और स्थानों से युक्त यह संपूर्ण विश्व इस शरीर में ही स्थित है। काल भी अपने विभिन्न रूपों (दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष आदि) में इस शरीर में प्राणवायु की क्रियाओं के रूप में स्थित है। प्राण और अपान का नियंत्रण ही योग का प्रधान कार्य माना गया है। जहाँ तक वज्रयान और काल-चक्रयान के परस्पर भेद का प्रश्न है, इन ग्रंथों के अध्ययन से इनके मौलिक भेदक तत्वों का पता नहीं चलता।[९]

विद्वानों का विचार है कि काल या प्राणापान की इस प्रकार की साधना का विवेचन काश्मीर के तांत्रिक शैव ग्रंथों में भी मिलता है। तंत्रालोक के षष्ठ परिच्छेद में स्पष्ट रूप से इन सिद्धांतों का विवेचन प्राप्य

---

८. वही, पृ० ८, करुणाशून्यतामूर्तिः काल संवृत्तिरूपिणी।
शून्यताचक्रमित्युक्तं कालचक्रोऽद्वयोऽक्षरः।
तथा बौद्ध दर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० ४५६-४५७।

९. आ० रे० क० दासगुप्त, पृ० २६-२७।

है। अभिनवगुप्त ने इन सिद्धांतों को तांत्रिक शैव परंपरा में ही ग्रहण किया है। वहाँ काल के विभिन्न रूपों का वर्णन प्राण और अपान की विभिन्न क्रियाओं के रूप में किया गया है। ये क्रियाएँ नाड़ीमंडल की सहायता से प्रसरित होती हैं। इसलिये योग की सहायता से प्राण और अपान के संयमन का उपदेश किया गया है। पं० बलदेव उपाध्याय का स्पष्ट मत है कि ये सिद्धांत मुख्यतया वे ही हैं जिनको आधार मानकर तांत्रिक बौद्ध संप्रदाय ने अपने नवीन यान, कालचक्रयान का प्रवर्तन किया।[10] इस मत का पारंपरिक प्रवर्तन संबंधी विचार एम० करेल्ली ने सेकोद्देशटीका के आधार पर उपस्थित किया है। इस ग्रंथ का कहना है कि मंत्रयान (= वज्रयान) की शिक्षा ऐतिहासिक बुद्ध के पूर्ववर्ती बुद्ध दीपंकर ने दी थी। किंतु इस युग में धर्म ग्रहण करने के लिये राजा सुचंद्र, जो सीता नदी पर स्थित रहस्यमय संभल प्रदेश का राजा था और जो वज्रपाणि का निर्माणकाय था, स्वर्ग गया और संबुद्ध से सेकसिद्धांत (सेकोद्देश टीका के विषय) की व्याख्या की याचना की। संबुद्ध (गौतम) ने श्रीधान्य में एक संगीति बुलाई जिसमें सबसे पहले प्रज्ञापारमिता सिद्धांत की व्याख्या की और जैसा इस ग्रंथ से पता लगता है, यही वज्रयान का स्रोत था।[11]

सेकोद्देश टीका में चार प्रकार का योग माना गया है—विशुद्धियोग, धर्मयोग, मंत्रयोग और संस्थानयोग। मुक्तिप्रक्रिया में साधक को इन चार योगों की अवस्थाओं को पार करना चाहिए। इन्हें वज्रयोग कहते हैं। इन योगों को पूर्ण करने के लिये साधक को चार प्रकार के विमोक्षों को प्राप्त करना चाहिए—शून्यता, अनिमित्त, अप्रणिहित और अनभिसंस्कार विमोक्ष। क्रमशः प्रत्येक योग में निविष्ट शक्तियों की प्राप्ति में, ये विमोक्ष साधक की

१०. बौद्ध दर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० ४५४; आ० रे० क०, दासगुप्त, पृ० २७।

११. सेकोद्देशटीका, करेल्ली, इंट्रो० पृ० ९।

आत्मा को स्थिर करते हैं। ये शक्तियाँ भी चार प्रकार की हैं तथा शुद्धि की विधियाँ (ब्रह्मविहार) भी चार प्रकार की हैं। इन चारों का संबंध तुरीय, सुषुप्ति, स्वप्न तथा जाग्रत् अवस्थाओं से जोड़ा जा सकता है।[१२] कालचक्र-यान के प्रधान देवता आदिबुद्ध हैं। आदि का अर्थ है, आदि-अंत-विवर्जित। आदिबुद्ध सर्वज्ञ हैं। वज्रयान के बुद्ध की तरह इनके भी चार काय हैं—सहजकाय, धर्मकाय, संभोगकाय और निर्माणकाय। सहजकाय अर्थात् आदि-बुद्ध के वास्तविक काय की प्राप्ति के लिये यौन-यौगिक साधना स्वीकार की गई है। उपास्यदेव को करुणाशून्यता की मूर्ति माना गया है। उनकी देवी या शक्ति प्रज्ञा या काली हैं। ये बुद्धों के पिता हैं। यदि हिंदू तंत्रों के शब्दों में कहा जाय तो शिव और शक्ति के समायोग से उत्पन्न सतत परिवर्तनशील विश्व का प्रतीक चक्र है। तात्पर्य यह कि कालचक्र में दो तत्व हैं—काल और चक्र। बौद्ध शब्दों की परंपरा की दृष्टि से विचार करने पर कालचक्रयान में काल, उपाय तथा करुणा एक दूसरे के पर्याय प्रतीत होते हैं। आस्तिक ग्रंथों में इसे ही शिव या पुरुष कहा गया है। इसी को दूसरे शब्दों में ज्ञाता अथवा बुद्ध कह सकते हैं। चक्र, प्रज्ञा और शून्यता भी एक ही तत्व के पर्याय हैं। इसी को प्रकृति या शक्ति कहा जाता है। यही ज्ञेय हैं। आदिबुद्ध सर्वज्ञ हैं और इस यान के उपास्य हैं। इन्हें ज्ञाता-ज्ञेय, उपाय तथा प्रज्ञा, शून्यता तथा करुणा का परम एकात्म रूप माना जाता है। इन्हीं को कालचक्र की संज्ञा से पुकारा जाता है। तात्पर्य यह कि कालचक्र या आदि बुद्ध युगलरूप, युगनद्ध, शिवशक्ति की एकता के प्रतीक हैं।[१३]

साधनात्मक दृष्टि से इस ग्रंथ में चार प्रकार की विशुद्धि बताई गई है—ज्ञानविशुद्धि, चित्तवज्रविशुद्धि, वाग्विशुद्धि तथा कायविशुद्धि। सेकक्रिया शुद्धि

---

१२. वही, इंट्रो० पृ० ९–१०।

१३. बौद्ध दर्शन, पं० ब० उपाध्याय, पृ० ४५९-४६०; सेकोद्देशटीका, पृ० ८।

के लिये ही की जाती है। सेक क्रिया के बाद गुरु वज्र और घंटा शिष्य के हाथ में देता है। वज्रयानियों के पाँच ध्यानी बुद्धों की जो कल्पना की गई है उनसे छठें वज्रसत्त्व हैं। उनके प्रतीकास्त्र वज्र और घंटा हैं। इस प्रकार की क्रिया कर, गुरु साधक को बुद्धकुल में संमिलित करता है। अभिषेक संबंधी सभी तांत्रिक क्रियाओं और विधियों का विवेचन इस ग्रंथ में विस्तार से मिलता है। ऊपर जिस योग की चर्चा की गई है, उसे संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है—

१—सहजकाय, करुणा, ज्ञानवज्र, विशुद्धियोग, तुरीय।
२—धर्मकाय, मैत्री, चित्तवज्र, धर्मयोग, सुषुप्ति।
३—संभोगकाय, मुदिता, वाग्वज्र, मंत्रयोग, स्वप्न।
४—निर्माणकाय, उपेक्षा, कायवज्र, संस्थानयोग, जाग्रत्।[१४]

'वज्रयान की विचारधाराएँ' में विवेचित तांत्रिक बौद्धयोग की रूपरेखा से इसकी तुलना करने से स्पष्ट होता है कि साधक की अंतिम सिद्धावस्था महासुखावस्था है। उसीको तुरीयावस्था से तुलित किया जा सकता है। इसी अवस्था में करुणा का उदय चित्त में होता है। यह अवस्था विशुद्धि-योग से प्राप्त होती है। इसी अवस्था में ज्ञान की दृढ़ता प्राप्त होती है। इसीमें सहजानंद की प्राप्ति होती है। इस सहजानंद तथा विलक्षण क्षण का अनुभव उष्णीषकमल में होता है। यही साधकों का साध्य है।

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कालचक्रयान पर हिंदू तांत्रिक प्रभाव अत्यधिक स्पष्ट है। काश्मीर से होकर इस मत के तिब्बत में प्रचारित होने तथा कश्मीर में इसका प्रचार स्थल होने के तथ्य को दृष्टिगत रखना चाहिए। अभिनवगुप्त ने तंत्रालोक में प्राण-अपान की

---

१४. विस्तार के लिये द्रष्टव्य—सेकोद्देशटीका की करेली द्वारा लिखित भूमिका तथा बौद्ध दर्शन, पं० ब० उपाध्याय, पृ० ४५७-४६०।

तांत्रिक साधना तथा कालसिद्धांत का विवेचन किया है। यह साधना निश्चित रूप से उन्हें अपनी परंपरा से मिली होगी। यदि अभिनवगुप्त का समय श्री जगदीशचंद्र चटर्जी के अनुसार ९९३–१०१५ ई० माना जाय तो फलतः यह साधना दसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के भी पूर्व प्रचलित रही होगी, ऐसा स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं पड़ती।[१५] लुईपाद से अभिन्न मत्स्येंद्र और गोरखनाथ की हठयोग की साधना का भी विचार इस संबंध में किया जा सकता है।

---

१५. काश्मीर शैविज्म, जगदीशचंद्र चटर्जी, पार्ट १, पृ० ४०।

११. सहजयान और लोकभाषा की रचनायें

१—सहजयान का विकास

हीनयान और महायान का विवाद जब बौद्ध धर्म में उठा था, उस समय सबसे बड़ी समस्या व्यक्तिगत और सामूहिक निर्वाण की थी। अनेक प्रकार के कठोर आचार तथा नैतिक नियमों की कठिनता के कारण सभी लोग उसका पालन नहीं कर सकते थे। जैसे जैसे बौद्धधर्म का विकास और प्रसार होता गया, उसमें गृहस्थ, राजा, शासनाधिकारी तथा जनसामान्य के अनेक उच्च-निम्न वर्ग के लोग उसके अनुयायी होते गए। फलतः आवश्यकतावश, नए नए प्रकार के अनुयायियों के संमिलित होने, बदली परिस्थितियों तथा काल देश के परिवर्तन से अनेक नए नियमों का निर्माण करना पड़ा। नवीन और जनसामान्य के वर्ग के अनुयायियों की सुविधा की दृष्टि से जो परिवर्तित यान बौद्ध धर्म में प्रचलित हुआ, उसे महायान के नाम से लोगों ने पुकारा। इन्हीं दोनों यानों के भिन्न भिन्न दृष्टियों से भिन्न भिन्न नाम मिलते हैं। जिनमें 'कठिनयान' और 'सहजयान' की भी परिगणना की जाती है। श्री किमुर ने विस्तार से उन नामों की ऐतिहासिकता और उनके प्रवृत्तिगत विभेद का विवेचन किया है।[1]

ये दोनों नामकरण धार्मिक दृष्टि से किए गए हैं। किमुर के कथनानुसार सबसे पहले इन नामों का प्रयोग नागार्जुन ने किया था। दशभूमिविभाषाशास्त्र के एक उद्धरण के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि कठिन मार्ग वह मार्ग है जो अधिक दिनों तक साधना करने के बाद परम

---

१. हि० स्ट० ही० म०, किमुर, इंट्रोडक्टरी नोट, पृ० १।

शांति-स्थान निर्वाण तक पहुँचाता है। सहजमार्ग वह मार्ग है जो विश्वास और श्रद्धा के बल पर शीघ्र ही उद्देश्य तक पहुँचा देता है।[२] नागार्जुन ने अनेक भविष्यत् बुद्धों का नाम लेकर उनमें अमिताभ बुद्ध को विशेष महत्ता दी है और कहा है कि यदि कोई व्यक्ति अमिताभ बुद्ध का नाम भी सुन ले तो वह निर्वाण प्राप्त करेगा। तात्पर्य यह कि हीनयान और महायान दोनों ही कठिनमार्ग है किंतु 'नाम स्मरण' और 'नाम जप' या 'नाम गायन', सहजमार्ग है। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नागार्जुन ने सामान्य जनों को 'नाम गायन' या 'नाम जप' के मार्ग सहजमार्ग का अनुगमन करने की सलाह दी थी।[३]

इस प्रकार सामान्य जनों की धार्मिक वृत्ति को आकर्षित करने के कारण उस समय की राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों में निहित हैं। नागार्जुन के सद्यःपूर्व ही वैदिक और अवैदिक मत इतने बलशाली हो गए थे कि वे सरलता से बौद्ध धर्म को उच्छिन्न कर सकते थे। यह अशोककालीन बौद्ध धर्म की प्रखरता की प्रतिक्रिया थी। बौद्ध धर्म-प्राण अशोक के बाद उसके स्थान पर घोर बौद्ध धर्म उच्छेदक शुंग और काण्ववंश की प्रतिष्ठा हुई। ये दोनों वंश कर्मकांड प्रधान ब्राह्मण धर्म के कट्टर अनुयायी थे। इन दोनों वंशों का समय लगभग १७५ ई० पू० से २८ ई० पू० तक था।[४] इसी काल में अवैदिक धर्मों का वैदिकीकरण भी होता रहा। बाद के काल में, द्वितीय शताब्दी तक, मीमांसा और वेदांत जैसे शुद्ध वैदिक दार्शनिक मतों का तथा सांख्य जैसे वैदिकेतर आर्य मतों का पूर्ण विकास हुआ। यही समय नागार्जुन, आर्यदेव, मैत्रेयनाथ, असंग और वसुबंधु का है। इसी समय

---

२. दशभूमिविभाषाशास्त्र, किमुर द्वारा अनूदित, वही, पृ० १९-२०।

३. हि० स्ट० ही० म०, किमुर, पृ० २०।

४. वही, पृ० २१-२२।

अवैदिक किंतु आर्य दार्शनिक मतों (योग, सांख्य आदि) का भी वैदिकीकरण किया गया। वास्तव में यह कार्य ब्राह्मणों द्वारा बौद्धों के विरुद्ध अपने पक्ष को और भी सुदृढ़ बनाने के लिये किया गया था। इसी काल में वैष्णव, शैव, शाक्त आदि मत भी सर्वप्रचलित होने लगे। अनुमान है कि बौद्ध ग्रंथों के कर्मकांडप्रधान मत के विरोधी, कठोर और उग्र स्वरों की परंपरा का आरंभ यहीं से होता है। नागार्जुन ने इन विरोधों की प्रबलता को देखकर बौद्धधर्म को जनप्रचलित बनाने और श्रद्धार्जन करने के लिये यह प्रयत्न किया था।

असंग और वसुबंधुकाल (लगभग ३१० ई० ४०० ई० तक) में सहजयान में 'नामवाद' का प्रचलन और भी तीव्र हुआ तथा साथ ही साथ अन्य धार्मिक क्रियाएँ भी उसमें संमिलित हो गईं।[५] अश्वघोष द्वितीय (समय लगभग ५वीं शताब्दी) के समय में यह नामस्मरण केवल अमिताभ बुद्ध तक ही सीमित हो गया।[६]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि नागार्जुन इत्यादि का सहज संबंधी दृष्टिकोण कम से कम समय में चरम सिद्धि या निर्वाण प्राप्त करने तथा बुद्ध-नाम-जप (विशेषकर अमिताभ बुद्ध) से संबंधित था। साधना की सरलता के लिये उन लोगों ने नामजपप्रधान सहजयान की कल्पना की थी। परवर्ती सहजयान मत में यद्यपि साधना की दृष्टि से शीघ्र सिद्धि प्राप्ति को ध्यान में रखा गया था किंतु दीक्षा तत्व का प्राधान्य होने के कारण उसे हम जनसामान्य का मत नहीं कह सकते। परवर्ती सहजयान में दूसरा भेदक तत्व यह है कि सहजतत्व परमतत्व के रूप में कल्पित कर लिया गया था। आगे के विवेचन से अन्य भेदक तत्व भी सामने आएँगे।

---

५. वही, पृ० ३९-४०।

६. वही, पृ० ४०-४२।

आज से लगभग पैंतालीस वर्ष पूर्व उत्तरी बौद्ध धर्म के परवर्ती विकसित रूप का परिचय देनेवाली रचनाओं को महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने नेपाल से प्राप्त किया था। उन रचनाओं का संपादन उन्होंने 'बौद्ध गान ओ दोहा' के नाम से किया। गानों या पदों या 'गीतियों' को शास्त्री महोदय ने 'बौद्ध सहजिया मत के बंगला गान' नाम से संबोधित किया। जिन दोहाकोषों को उन्होंने उपरोक्त ग्रंथ में संपादित किया है, उसमें सरोज-वज्र या सरोरुहपाद का दोहाकोष भी है। किंतु इस दोहाकोष में अद्वयवज्र की टीका भी है जिसमें बीच बीच में कहीं कहीं दोहांश और कहीं कहीं पूरे दोहे उद्धृत किए गए हैं। इस दोहाकोष का नाम 'सहजाम्नायपंजिका' है। इसके साथ ही कृष्णाचार्यपाद का दोहाकोष, मेखला टीका (संस्कृत) के साथ संपादित किया गया है। एक तीसरा ग्रंथ डाकार्णव भी संमिलित कर लिया गया है।[७] इनके अतिरिक्त सरहपाद के संपूर्ण दोहाकोष, कृष्णाचार्य का दोहाकोष तथा तिल्लोपाद का दोहाकोष डा० प्रबोधचंद्र बागची ने अलग से प्रकाशित किया है। डाकार्णव के अपभ्रंश अंश का संपादन अलग से डा० नरेंद्रनारायण चौधरी ने किया है। शास्त्री महोदय के डाकार्णव के संस्करण में संस्कृत श्लोकों के साथ अपभ्रंश छंदों और गीतियों का प्रयोग भी मिलता है। यह ग्रंथ संगीति पद्धति में लिखा गया है।[८]

---

७. बौद्ध गान ओ दोहा, सं० महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री—चर्याचर्यविनिश्चय (चर्यापद) पृ० १-७६, चर्यापदों का पाठ संस्कार तथा बंगला में व्याख्या पृ० १-४२; चर्यापदों की लिखित संख्या ५०; सहजाम्नायपञ्जिका, पृ० ७७-११६; मेखला टीका सहित कृष्णाचार्य का दोहाकोष, पृ० ११७-१२६; डाकार्णव पृ० १२७-१५९।

८. दोहाकोष—सं० डा० प्रबोधचंद्र बागची, कलकत्ता; डाकार्णव-सं० डा० नरेंद्रनारायण चौधरी। बौ० गा० दो० के चर्यापदों और दोहा-

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने 'दोहाकोश' नाम से एक ग्रंथ प्रकाशित किया है जिसमें केवल सरहपाद के दोहे तथा अन्य रचनाएँ संपादित हैं। सरहपादकृत तथा डा० बागची द्वारा संपादित अपभ्रंश मूल को 'तंजुर' में प्राप्त तिब्बती रूपांतर, सस्क्य विहार से प्राप्त ताल पोथी के अपभ्रंश मूल तथा अन्य पाठभेदों के साथ दिया गया है। इसमें सरह की १४ ऐसी रचनाएँ संपादित हैं जिनका केवल तिब्बती रूपांतर ही प्राप्त हो सका है। सुविधा के लिये उनका प्रचलित हिंदी में रूपांतर भी कर दिया गया है।

म० शास्त्री महोदय ने लुईपाद, कुक्कुरीपाद, विरुवापाद, गुंडरीपाद, चाटिल्लपाद, भूसुकुपाद, शबरपाद, आर्यदेवपाद, ढेंढणपाद, दारिकपाद, कान्हुपाद, कंबलांबरपाद, डोंबिपाद, शांतिपाद, महीधरपाद, बीनपाद, सरहपाद, भादेपाद, तारकपाद, कोंकणपाद, जयनंदीपाद और धामपाद नाम के २२ बौद्ध सिद्धों के गानों को, जिन्हें राहुल जी ने 'चर्यागीति' कहा है, अपने ग्रंथ में संपादित किया है। इन सिद्धों के लिखे दोहे भी सहजयान के अंतर्गत स्वीकार किए जायंगे। वे सभी सिद्ध सहजिया थे। किंतु शास्त्री महोदय ने अपने ग्रंथ के प्रारंभ में कुल ३३ सिद्धों का परिचय दिया है। यद्यपि सिद्धों की पारंपरिक संख्या ८४ मानी जाती है, फिर भी वे सभी ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं और न सभी की लोकभाषा या संस्कृत में रचनाएँ ही मिलती हैं। वर्णरत्नाकर में जो १३वीं शताब्दी का ग्रंथ माना जाता है, ८४ सिद्धों का नाम गिनाया गया है।[१] तात्पर्य यह कि १३वीं शताब्दी के पूर्व ही ये ८४ सिद्ध, विशेषकर बौद्ध सहजिया संप्रदाय या सहजयान के २२ सिद्ध अवश्य हो चुके थे।

कोषों का पाठशोध और संपादन डा० बागची ने जर्नल आव डिपार्टमेंट आव लेटर्स, कलकत्ता के क्रमशः जिल्द ३० और २८ में किया है।

१. वर्णरत्नाकर—ज्योतिरीश्वर ठाकुर लिखित, सं० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा बबुआ मिश्र, पृ० ५७।

इन सिद्धों में सरह, काण्ह, लुई, दारिक, शबर और शांति का नाम विशेष प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण है। लुई और सरह में आदिसिद्ध कौन था, इस विषय पर बहुत विवाद है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन सरहपाद को आदिसिद्ध मानते हैं और अनेक प्रमाणों के आधार पर उनका समय ७६८ ई० से ८०६ ई० तक मानते हैं। इन्हीं सरहपाद ने अपनी रचनाओं, विचित्र रहन-सहन तथा योगक्रियाओं से वज्रयान को एक सार्वजनीन धर्म बना दिया था।[१०] राहुल जी ने लुईपाद का समय ७६९ ई० से ८०९ ई० तक माना है। इस प्रकार दोनों का काल एक ही है। उनकी दृष्टि में 'संख्या में ८४ सिद्धों में इनका (लुई का) नाम प्रथम होना ही बतलाता है कि ये कितना प्रभाव रखते थे।' दोनों का समय लगभग एक होते हुए भी सरह को आदिसिद्ध मानने का कारण उन्होंने यह बतलाया है कि लुईपाद, सरहपाद की शिष्यपरंपरा में तीसरी पीढ़ी में थे।[११] किंतु प्रबोधचंद्र बागची ने कौलज्ञाननिर्णय की भूमिका में मत्स्येंद्रनाथ और लुईपाद को अभिन्न मानते हुए लुईपाद को ही आदिसिद्ध माना है।[१२] म० शास्त्री ने पदकर्ताओं के परिचय में लुईपाद को सहजिया नामक नूतन संप्रदाय का प्रवर्तक माना है तथा उनके आदिसिद्धाचार्यत्व की ओर भी संकेत किया है।[१३] डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने सरहपाद का समय ६३३ ई० और लुईपाद का समय ६६९ ई० माना है।[१४] तात्पर्य यह कि म० शास्त्री ने इन पदकर्ताओं को सहजयानी कहा है। इससे उनके वज्रयान–सहजयान–विभेदक मत का स्पष्टीकरण हो जाता है। राहुल जी ने इन पदकर्ता

---

१०. पुरातत्व निबंधावली, राहुल सांकृत्यायन, पृ० १४७।

११. वही, पृ० १४७, १४८, १५५, १७४।

१२. कौलज्ञाननिर्णय; सं० प्रबोधचंद्र बागची, इंट्रो० पृ० २४।

१३. बौ० गा० दो०, शास्त्री, 'पदकर्त्तादेर परिचय', पृ० २१।

१४. ऐन इं० बु० ए०, भट्टाचार्य, पृ० ६६, ६९।

सिद्धों को वज्रयानी माना है। दोनों ने ही ८वीं शताब्दी को वज्रयान या सहजयान का आरंभिक काल माना है। इन सिद्धों ने वज्रयान के या अपने पूर्व के स्थापित उन अनेक विचारों और साधनापद्धतियों का खंडन कर दिया है जो वज्रयान में मान्य थे। डा० दासगुप्त ने सहजयान को वज्रयान का एक उपयान माना है। इसका कोई पृथक् साहित्य नहीं है, किंतु सहजिया सिद्ध कवियों ने वज्रयान के ग्रंथों को आधारग्रंथों के रूप में स्वीकार किया है।[१५]

इन सिद्धाचार्यों ने अपनी लोकभाषा की रचनाओं में सबसे अधिक जोर जीवन और धर्म की बाह्याडंबरता के विरोध पर दिया था। सत्य कष्टसाधन, कृच्छ्राचार, बाह्याडंबर आदि से परे है। वह दर्शन, व्रत, उपवास मूर्तिस्थापन, देव–देवी–पूजन तथा वज्रयान के अनेक विधिविधानों से भी अप्राप्य है। वह केवल तत्वदीक्षा तथा योगाभ्यास से ही प्राप्य है। इससे सहजयानियों का वज्रयानियों से भेद स्पष्ट हो जाता है।[१६] लोकभाषा में लिखित चर्यापदों और दोहों का विश्लेषण इन भेदक तत्वों पर अधिकाधिक प्रकाश डालेगा।

डा० शशिभूषण दासगुप्त ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि चर्यापदों का दर्शन वास्तव में माध्यमिक–योगाचार और वेदांत का समन्वय है। 'वेदांत' से उन्होंने स्पष्ट संकेत अद्वैत वेदांत की ओर किया है। उनका कहना है कि महासुख और बोधिचित्त को चर्यापदों और दोहों में औपनिषदिक ब्रह्म का पद प्राप्त हो गया है।[१७] किंतु भारतीय दर्शन और रहस्यवाद के विकास का अध्ययन करने से कुछ भिन्न निष्कर्ष की ओर संकेत होता

---

१५. ऐन इं० तां० बु०, दासगुप्त, पृ० ७७।

१६. वही, दासगुप्त, पृ० ७७।

१७. आ० रे० क०, दासगुप्त, पृ० ३९।

है। तांत्रिक बौद्ध साधना के पूर्व भारतवर्ष में और विशेषकर उत्तरी भारत में अद्वैत शैव दर्शन प्रकट हो चुका था जिसे काश्मीर शैव दर्शन के नाम से भी अभिहित किया जाता है। प्राचीनकाल में शिव के आदेश से दुर्वासा ने त्र्यंबक, आमर्दक और श्रीनाथ को क्रमशः अद्वैत, द्वैत तथा द्वैताद्वैत का उपदेश दिया था। शिवसूत्रों का दर्शन वसुगुप्त ने अष्टम शताब्दी के अंत में या नवम शताब्दी के आरंभ में किया था। वसुगुप्त के शिष्य थे—कल्लट और सोमानंद। वसुगुप्त का समय श्री जगदीशचंद्र चटर्जी ने ८५०-९०० ई० माना है।[१८] पं० बलदेव उपाध्याय के अनुसार सोमानंद अपने को अद्वैतवादी शैव त्र्यंबक की १९वीं पीढ़ी में बतलाते हैं। अतः एक पीढ़ी के लिये २५ साल का समय मानने पर त्रिकदर्शन, प्रत्यभिज्ञा या काश्मीर शैव दर्शन का आविर्भाव काल पंचम शतक में सिद्ध होता है।[१९] तांत्रिक प्रभावापन्न अद्वैतवादी शैव दर्शन लगभग १० वीं शताब्दी में पूर्ण अभ्युदय को प्राप्त कर चुका था, यह बात अभिनवगुप्त के तंत्रालोक ग्रंथ से भली भाँति स्पष्ट होती है। कालचक्रयान के विवेचन में बताया जा चुका है कि अभिनवगुप्त के तंत्रालोक में कालचक्र का विस्तृत विवेचन मिलता है। इस कालचक्र का अभ्युदयकाल कोरोस के प्रमाण पर ९६५ ई० माना गया है। कहना यह है कि सहजयान ने माध्यमिक और योगाचार के साथ अद्वैतवादी तांत्रिक शैव मत का समन्वय किया, औपनिषदिक परंपरा से प्राप्त अद्वैत वेदांत का नहीं। यदि मत्स्येंद्र और लुई को अभिन्न माना जाय और जिस मच्छंदविभु का स्तवन अभिनवगुप्त ने किया था, उन्हें भी मत्स्येंद्र से अभिन्न माना जाय तो उपरोक्त कथन को अधिक बल मिलेगा।

---

१८. काश्मीर शैविज्म, जगदीशचंद्र चटर्जी, पृ० ६, ९, ४० ।

१९. भारतीय दर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० ५६० ।

इसी प्रकार डा० दासगुप्त का कहना है कि सहजिया सिद्धों का सहज, वेदांतिक ब्रह्म के सदृश है।[२०] उस सहज को शैव मत के परम शिव से तुलित किया जा सकता है।[२१] वास्तव में औपनिषदिक वेदांत या शांकर अद्वैत वेदांत की अपेक्षा अद्वैतवादी शैव दर्शन परवर्ती तांत्रिक बौद्ध साधना और रहस्यवाद के अधिक निकट है। इस प्रकार की बोधिचित्त, सहज–साधना, जगत् आदि की विशेषताओं और विचारधाराओं का उद्‌घाटन लोकभाषा की रचनाओं के विवेचन से संभव है। यहाँ सरह, लुईपाद और कृष्णपाद की लोकभाषा की रचनाओं के आधार पर उनके रहस्यवाद और साधना की विचारधाराओं को उपस्थित किया जा रहा है। इस विवेचन से बौद्धसिद्धों के संप्रदाय, जिसे बौद्ध सिद्ध मत कह सकते हैं, के सिद्धांतों तथा साधना पद्धतियों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त हो सकेगा।

२—दार्शनिक विचार

पहले ही कहा जा चुका है कि महासुख को धर्मकाय के समान माना गया था। सरहपाद महासुख को धर्ममहासुख कहते हैं। इसमें साधक, परमावस्था प्राप्त होने पर उसी प्रकार विलीन होकर एकमेक हो जाता है, जैसे नमक पानी में। गुरु वह है जिसके वचनों से सभी प्रकार की शंकाओं के पाश छिन्न–भिन्न हो जाते हैं। उस गुरु के उपदेश से ही महासुख तत्व, परम तत्व की प्राप्ति होती है। वह न तो सुनने से प्राप्त होता है न देखने से। वह न तो पवन से कंपित होता है, न क्षय को प्राप्त होता है। वह अनिर्वचनीय है। गुरु अपने वचनों से उसे कह नहीं सकता और न शिष्य उसे बूझ ही सकता है। यह सहजामृत रस या सहज सुख या महासुख अनिर्वचनीय है। सभी प्राणियों और पदार्थों में वह व्याप्त है। वह

---

२०. आ० रे० क०, दासगुप्त, पृ० ४० ।

२१. काश्मीर शैविज्म; चटर्जी, पृ० ६१ ।

अनुभवैकगम्य है। वह परमार्थ है। जो कुछ भी इंद्रिय-मन-गोचर है, वह परमार्थ नहीं है। वह केवल अपने संवेदन से प्राप्त हो सकता है, स्वसंविचि है।[२२]

सिद्ध सरहपाद देवताओं के अस्तित्व को नहीं मानते। देवताओं की पूजा निरर्थक है।[२३] संसार और निर्वाण, जन्म और मरण इत्यादि में कोई भेद नहीं। वास्तव में मनुष्य ने कल्पना से यह सब बना रखा है और उससे अपने को बाँध रखा है। अजरत्व, अमरत्व, प्राप्त करने के लिये इन भेदों को रखने की कोई आवश्यकता नहीं। चित्त तो स्वभावतः मुक्त होता है। सूर्य, चंद्र, नाद, बिंदु आदि चित्त में नहीं होते। उस चित्त के स्वाभाविक सरल मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। यह चित्त मनुष्य के शरीर के अंदर ही होता है। यह चित्त-मार्ग ही सर्वोत्तम मार्ग है। मन के दोष से ही प्राणी शून्य को विकृत देखता है और ऐसी अवस्था में वह गुरुवचन में भी स्थिर नहीं रह सकता। यह जगत् जल में पड़नेवाले प्रतिबिंब के समान न सत्य है न मिथ्या है। इस संसार में ही अमृत व्याप्त है किंतु उसके रहते हुए भी प्राणी विषपान करता है, अपने-पराये का भेद करता है। तात्पर्य यह कि प्राणी का वास्तविक स्वरूप समभाव का है। उसका चित्त स्वभावतः मुक्त रहता है किंतु अनेक प्रकार के विकल्पों और कल्पनाओं से वही चित्त संसार में विष देखता है, विष पीता है। सहज रस, महासुख, चित्त के स्वाभाविक मुक्त रूप का साक्षात्कार, ये सभी परमार्थ हैं, इंद्रिय-मन-गोचर

---

२२. हिंदी काव्य धारा, राहुल सांकृत्यायन, पृ० २; जर्नल आव दि डिपार्टमेंट आव लेटर्स, कलकत्ता, वा० २८, सरहपदीय दोहाकोश, पृ० ५.२; ७.३; ५.६; ८.१०। 'महायान की अन्य विचार धाराएँ' के विचारों से तुलनीय।

२३. ज० डि० ले०, वा० २८, दोहाकोष, पृ० ११.१४-१९।

नहीं है। इस संसार से ही निर्वाण प्राप्त होता है। इसी में रहकर निर्वाण, परम पद, परम तत्व, महासुख की प्राप्ति संभव है। किसी देवता की पूजा-अर्चना (इस अवस्था में) निरर्थक है। वह तो निर्गुण है, निराकार है।[२४]

लुईपाद भी महासुख को परमतत्व मानते हैं। चित्त का अचंचल रूप ही उसका वास्तविक रूप है। चित्त के चंचल रहने से ही संसार में सुख और दुःख हैं। शून्यता की प्राप्ति करना या संसार के पदार्थों की निःस्वभावता का ज्ञान प्राप्त करना चित्त की अचंचलावस्था को प्राप्त करना है। चित्त की अचंचलता से महासुख या अमृतरस की प्राप्ति होती है। उसमें काल प्रवेश नहीं करता। महासुखरस का पान कर जीव अमर हो जाता है। वह महासुख भाव और अभाव से परे है, दुर्लक्ष्य है, विज्ञप्तिमात्र है। तीनों धातुएँ (रूपधातु, अरूपधातु, कामधातु) उसीमें विलीन होते हैं। वितर्कों और विकल्पों से वह नहीं जाना जा सकता। उस महासुख का न रूप है, न वर्ण है, न चिह्न है। वह अनिर्वचनीय है। आगम और वेद इत्यादि में उसका जो वर्णन किया गया है, वह सत्य नहीं है। ये जगत् के पदार्थ न एकांत सत्य हैं, न एकांत मिथ्या, क्यों कि यह संपूर्ण जगत् परम सत्य का विकास है। परम सत्य ही महासुख है, सहज है। उस परम सत्य के प्रतिबिंब के कारण इसे हम मिथ्या नहीं कह सकते। जगत् के स्वयं परम सत्य न होने के कारण उसे हम एकांत सत्य भी नहीं कह सकते। इस प्रकार लुईपाद की दृष्टि में यह जगत् जल में प्रतिबिंबित चंद्रमा के समान न एकांत सत्य है, न एकांत मिथ्या।[२५]

---

२४. बौ. गा. दो., शास्त्री, चर्यापद २२, पृ० ३८-३९; ज० डि० ले०, वा० ३०, पृ० १२९.२२।

२५. बौ० गा० दो०, चर्या० १, २९; पृ० १, ४५-४६। ज० डि० ले०, वा० ३०, पृ० १०७.१, १२५.२९।

कृष्णपाद ने चित्त और महासुख को निस्तरंग, सम, सहज रूप, सकल-कलुष-विरहित माना है। उनकी दृष्टि में वह चित्त पाप पुण्य-रहित है। वह सहज तत्व एक है। वह चित्त न ऊपर जाता है, न नीचे आता है, द्वैतरहित है। प्राण और अपान के निरोध से न वह ऊपर जाता है, न नीचे आता है। अर्थात् वह बोधिचित्त स्थिर रहता है। वह कभी भी रुद्ध नहीं होता। निर्वाण, कृष्णपाद की दृष्टि में निश्चल, निर्विकल्प और निर्विकार है। वह सार रूप है तथा उदय अस्त से रहित है। वहाँ मन का प्रवेश नहीं है। वह परमार्थ है।[२६]

इस प्रकार इन सहजयानी बौद्ध सिद्धाचार्यों की दृष्टि में सहज सुख का अनुभव ही साधनात्मक जीवन का चरम प्राप्तव्य है। चित्त का स्वभाव अचंचलता है। वह स्वभावतः मुक्त होता है। बोधिचित्त ही सहज सुख है, परम तत्व है, अनिर्वचनीय है। उसे अद्वैतवादी के परमशिव के रूप में भी कल्पित किया जा सकता है। निर्वाण की अवस्था को निश्चल, निर्विकल्प, निस्तरंग आदि कहा गया है। मनुष्य का चित्त अस्वाभाविक रूप से संसार और निर्वाण को अलग-अलग देखता है। चित्त से ही निर्वाण भी है, संसार भी है। परम ज्ञान या शून्यता का ज्ञान या प्रज्ञा प्राप्त कर लेने पर यह चित्त अजर, अमर, सतत सुखमय हो जाता है। यह जगत न सत्य है, न मिथ्या। सहज, सहजसुख, महासुख, बोधिप्राप्ति ही साधक का लक्ष्य है। बाह्य साधना निरर्थक और अंतस्साधना सार्थक है। संक्षेप में सिद्धों के जीव, जगत्, परमतत्व, मुक्ति आदि के विषय में ये ही विचार हैं।[२७]

---

२६. ज० डि० ले०, वा० २८, पृ० २५-२६,१०-२०।

२७. इन दर्शनिक विचारों को रहस्यानुभव की अभिव्यक्ति भी कहा जा सकता है। चर्यापदों में रहस्यानुभव और दोहों में यत्र-तत्र दार्शनिक निष्कर्षों के संकेत मिलते हैं किंतु उनका तर्क-प्रतिष्ठित विवेचन उपलब्ध नहीं होता।

इन विचारों के दार्शनिक स्रोत भी हैं जिनमें से कुछ की ओर ऊपर संकेत किया गया है। चर्यापदों और दोहाकोषों की दार्शनिक समीक्षा करते हुए राहुल जी ने इन सिद्धों (विशेषकर सरह) को अद्वैतवादी माना है। दार्शनिक दृष्टि से, जैसा बताया जा चुका है, माध्यमिक–योगाचार का विकास वज्रयान–सहजयान में हुआ। माध्यामिक मत एक प्रकार से अनिर्वचनीयतावादी है। उसे द्वैतवादी या अद्वैतवादी नहीं कहा जा सकता। राहुल जी के अनुसार योगाचार मत अद्वैतवादी है। वह विज्ञान और विज्ञान–संनिकर्ष से प्रत्यक्ष होनेवाले संसार को भिन्न नहीं मानता। इसी प्रकार सरह भी अद्वैतवादी योगाचारी हैं। राहुल जी ने इस विवेचन में शांकर अद्वैतवाद अथवा काश्मीर शैव अद्वैतवाद की ओर संकेत नहीं किया है। इस दार्शनिक विवेचन से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि, जहाँ तक जगत् के अस्तित्व के विचार का प्रश्न है, दार्शनिक दृष्टि से बौद्ध सिद्धों ने माध्यमिक शैली का अनुसरण किया है किंतु चित्त तत्त्व का विवेचन करते समय उनकी विचार–परंपरा सर्वथा योगाचारी विचारणा का अनुसरण करती है। सिद्ध और दिव्य अनुभवों से उपलब्ध ये विचार सामान्य सांवृतिक दृष्टि से प्राप्त ज्ञानानुभव से पूर्णतया भिन्न और विपरीत है।

३—साधना पक्ष

सरहपाद का कहना है कि साधना की चरमावस्था वहाँ है जहाँ चित्त धर्मकाय या महासुख में उसी प्रकार विलीन हो जाय जैसे नमक पानी में। यह चित्त की पूर्ण शांति की अवस्था है। किंतु, इस चरम शांति और महासुख में चित्त की एकांत विलीनता की अवस्था की प्राप्ति तंत्र और मंत्र

संपूर्ण भारतीय तांत्रिक साहित्य की विशेषता है कि उसमें कहीं भी तर्क के आधार पर दर्शन के सिद्धांतों और विचारों को उपस्थित नहीं किया गया। सरह के दार्शनिक विचारों की संक्षिप्त समीक्षा के लिये द्रष्टव्य–'दोहाकोष'–सं० राहुल सांकृत्यायन, भूमिका, पृ० ३२–३६।

से नहीं होती। ये सभी बाह्य हैं। जब तक भीतर स्वतः अनुभव न किया जाय, तब तक यह अवस्था नहीं आती। तंत्र तो उसी प्रकार निस्सार संतोष और शांति देनेवाले हैं जैसे पेड़ में लगे हुए फल। फलों को देखने से कभी संतोष नहीं होता और न वैद्य को देखने मात्र से कभी रोग ही दूर भाग जाता है। इसी प्रकार लुईपाद ने अनेक प्रकार की समाधियों और उसके विधानों का खंडन किया है। वे समाधियों को सुखरहित मानते हैं। कृष्णपाद ने स्पष्टरूप से तंत्रमंत्र का विरोध किया है और उनके स्थान पर केवल सहज साधना या महासुख साधना पर जोर दिया है। उन्होंने तंत्रमंत्र को जप–होम–मंडल के समान ही माना। इस शरीर से ही बोधि प्राप्त करने के लिये इन सब आडंबरों की जरूरत नहीं।[२८]

अपने ही संप्रदाय में फैले इन कृत्रिम कठिन विधानों का विरोध करने के साथ ही सहजसिद्धांतियों ने परधर्मों की कठिन साधनाओं और आडंबरों का विरोध किया। सरहपाद का कहना है—ब्राह्मण परम तत्व के रहस्य को नहीं जानता। चारो वेद तो उसने यों ही पढ़ लिया है। मिट्टी, कुश, पानी, होम आदि के कर्मों को अकारण ही संपादित करते हुए वह अपने को कष्ट देता है। कड़ुए धुएँ से अपनी आँखों को दग्ध करता है। एकदंडी, त्रिदंडी, भगवावेषी, हंस आदि सभी मिथ्या उपदेश देते हैं, बाहर भूले हुए हैं। उन्हें धर्म–अधर्म का कुछ भी पता नहीं। राख लपेट कर अनेक प्रकार के आचार करते हैं। शीश पर जटाभार धारण किए रहते हैं। दक्षिणा के उद्देश्य से अनेक प्रकार के रूप बनाते हैं, दीपार्चन करते हैं, घड़ी और घंटा बजाते हैं, आसन बाँधते हैं, आँख बंद करते हैं। वे बड़े बड़े नाखून रखते हैं,

---

२८. ज० डि० ले०, वा० २८, पृ० ५.२, ६, ७; पृ० १२–१४.१२–१६;
वही, वा० २०, पृ० १०७.१;
वही, वा० २८, पृ० २७.२८–२९।

मलिन वेष में रहते हैं, नग्न रहते हैं, अपने केश नुचवाते हैं। क्षपणक लोग तो ज्ञानविडंबित हैं। वे अपने से बाहर मोक्ष ढूँढ़ते हैं। कर्मकांड, वेदपाठ, 'उंछभोजन', केशधारण आदि मुझे तनिक भी पसंद नहीं। यदि यह सब करने से मुक्ति होती है तो पशु, पक्षी, युवतिनितंब, सभी को मुक्त क्यों नहीं होने देते ?[२९]

इसी प्रकार उन्होंने धूप-दीप-नैवेद्य, तपोवनगमन, गंगास्नान, शास्त्रपुराण का भी विरोध किया है। उनका कहना है कि बाह्य सुरसरि, यमुना, गंगासागर, प्रयाग, वाराणसी, चंद्रमा, सूर्य, क्षेत्र, पीठ और उपपीठ, ये सभी निरर्थक और निस्सार हैं। इस शरीर जैसा तीर्थ सरहपाद को अन्यत्र नहीं मिला।[३०] लुईपाद आगम, वेद, पुराण में वर्णित परम तत्व को निरर्थक और मिथ्या मानते हैं। उनकी दृष्टि में उस तत्व तक वे पहुँच ही नहीं सकते। वे झूठा मान वहन करते हैं। करोड़ों में एक ही व्यक्ति ऐसा होता है जो निरंजन में लीन हो पाता है। आगम, वेद, पुराण आदि झूठे हैं। वे पंडित तो परम तत्व के बाहर उसी प्रकार चक्कर लगाते हैं जैसे पके श्रीफल के बाहर भौंरा चक्कर लगाता है।[३१]

इन सब साधनापद्धतियों को अस्वीकार करने के साथ ही सहजमार्गी सिद्धों ने अपना मार्ग भी बतलाया है, जो उनके पूर्ववर्ती और तत्कालीन प्रचलित सभी प्रकार की साधनापद्धतियों से सहज और सरल है। उनकी यह साधना, सहज साधना कहलाती है। इस साधना के लिये सरहपाद योग्य गुरु की आवश्यकता पर सबसे अधिक जोर देते हैं। गुरु उसी को बनाना चाहिए जो परमार्थ, निर्वाण, परमसुख, महासुख में प्रवीण हो तथा उसका भली-भाँति अनुभव प्राप्त कर चुका हो। गुरु को भी चाहिए कि वह तब तक शिष्य

२९. वही, बा० २८, पृ० ९–१०.१–१०।

३०. वही, बा० २८, पृ० १५.४७-४८।

३१. वही, बा० २८, पृ० २४.१–२।

बनाना प्रारंभ न करे, जब तक वह स्वयं परमज्ञान या प्रज्ञा का लाभ न कर ले अन्यथा अंधा होने के कारण वह तो स्वयं कूएँ में गिरेगा और शिष्य को भी गिराएगा। गुरु के वचन सभी शंकाओं का निवारण करनेवाले हैं। शिष्य जब तक अपने चित्त के दोषों को दूर नहीं कर देता, तब तक उसके लिये गुरु के उपदेश भी अस्तव्यस्त हैं।[३२] उस गुरु की सहायता से ही सरहपाद कायातीर्थ की साधना करने को कहते हैं। बाहर के तीर्थ इस शरीर के तीर्थ से निकृष्ट हैं। गुरु के इस प्रकार के उपदेश में अमृतरस रहता है। अनेक प्रकार के शास्त्रार्थ उसकी तुलना में मरुस्थल के समान हैं। गुरु के वचन में, इसी लिये दृढ़ भक्ति रखनी चाहिए। इसी से सहज उल्लास की प्राप्ति होती है। जो शिष्य या योगी या साधक, विषय में रमण करते हुए भी, उसमें लिप्त नहीं होता, वही मूलतत्व को बूझ सकता है। वह जीवित रहते हुए भी जरा को नहीं प्राप्त करता, अजरामर हो जाता है। गुरु के उपदेश से उसकी मति विमल हो जाती है। उससे बढ़कर कोई धन्य नहीं है।[३३] लुईपाद के मत से गुरु ही महासुख और विषयसुख के अंतर, भेद या रहस्य को बताता है।[३४]

सरहपाद इस लोक को ही इस साधना का चरम साधन मानते हैं। खाते, पीते और सुख पूर्वक रमते हुए साधना करना ही परलोक की प्राप्ति कराता है। इससे भयलोक का दलन होता है। वे साधक से बार बार वहाँ विश्राम करने के लिये कहते हैं जहाँ मनपवन का संचार नहीं होता, रवि शशि का प्रवेश नहीं होता। वहाँ आदि नहीं, अंत नहीं, पराया-अपना नहीं। जिस प्रकार जल में जल मिलकर एकमेक हो जाता है, उसी प्रकार परम महासुख

---

३२. वही, वा० २८, पृ० ५.८; पृ० १२.२४, २७।

३३. वही, वा० २८, पृ० १६.५६; पृ० १७–१८.६४–६९।

३४. वही, वा० ३०, पृ० १०७.१।

में लीन हो जाने के लिये वे बार बार प्रेरित करते हैं।[३५] इस तल्लीनता के लिये साधन बताया गया है—संसार में ही रमण करना। किंतु इस संसार में ही रमण करते हुए जब चित्त विस्फुरित हो जाता है, चंचल हो जाता है, तब स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। ये संसार और आकाश (निर्वाण) उसी प्रकार एक हैं जैसे तरंग और जल। सब जगह जल ही जल दिखाई दे, समरसता दिखाई दे, तभी सुख की प्राप्ति समझनी चाहिए।[३६] चित्त से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है और चित्त से ही बंधन भी। ये चौदह भुवन, इस शरीर से भिन्न नहीं हैं। अतः इन दोनों में भेद न मानकर साधना करनी चाहिए।[३७]

इस साधना का व्यवहारपक्ष उन्होंने कमलकुलिश साधना के रूप में उपस्थित किया है। कमल और कुलिश दोनों के बीच में स्थित होने से सुख की प्राप्ति होती है। इसमें पराये और अपने का भाव नहीं रह जाता। चित्त मुक्त गजेंद्रवत् रमण करने लगता है। इस साधना के लिये न घर में रहने की आवश्यकता है न बन में जाने की। जहाँ जहाँ मन जाता है, वहाँ वहाँ जाना चाहिये। बोधि और निर्वाण के ऊपर घर और बन का बंधन और सीमा नहीं लग सकती।[३८] उनकी यह साधना वाम और दक्षिण को छोड़कर मध्यम मार्ग को अपनाने की साधना है। इसे ही ऋजुमार्ग (उजूवाट) की साधना कहते हैं। उनकी इस साधना में यह शरीर ही नौका है, चित्त डाँड़ा है और गुरु वचन ही पतवार है। उनकी दृष्टि में भवसागर पार उतरने के लिये, गगन में समा जाने के लिये यह परमोत्तम नौका है।[३९]

---

३५. वही, वा० २८, पृ० १२–१३. २४, २५, २७, ३२।

३६. वही, वा० २८, पृ० १९. ७२।

३७–३८. वही, वा० २८, पृ० २१. ८९; पृ० २२. १०३।

३९. वही, वा० २८, पृ० १४४; वही, वा० ३०, पृ० १०७. १

इसी को लुई ने चित्त की साधना कहा है। चित्त को यदि चंचल न होने दिया जाय, संसार में रहते हुए भी यदि उसे विस्फुरित न होने दिया जाय, तो अजरामरता प्राप्त हो सकती है। फिर उसमें काल प्रवेश नहीं करेगा। अचंचल चित्त से, गुरु के द्वारा महासुख का परिमाण बता दिए जाने पर, तत्व की प्राप्ति होती है। इस साधना के लिये कपटत्याग आवश्यक है। चित्त की इच्छाओं को छिपाने की जरूरत नहीं। शून्यता या प्रज्ञा को आलिंगित करना इस साधना का प्रधान अंग है। इस साधना से साधक धमण–चमण या चंद्र–सूर्य पर या काल पर विजय पा सकता है।[४०] कृष्णपाद तो नैरात्मा डोंबी से विवाह करते हैं। उस विवाह में अनाहत नाद सुनाई देता है। उस अवस्था में उन्हें बाह्य जगत् की तनिक भी चिंता नहीं रहती। अविद्यारूपी हथिनी का, उस समय, बिना क्लेश के ही दमन हो जाता है। यह डोंबी परमानंदमयी है। चतुःषष्टिदलकमल पर वह नृत्य करती है। नैरात्मा के समालिंगन के समय सास (श्वास) मार डाली जाती है, 'नणंद' (चक्षुरादि व्यापार से उत्पन्न ज्ञान) को घर में बंद कर दिया जाता है।[४१] शून्य जगत् के प्रवाह में तथता के शस्त्र से मोह भंडार का नाश कर दिया जाता है।[४२] तात्पर्य यह कि इन सहजयानियों की साधना, महासुख की साधना है जिसमें सभी प्रकार के बाह्याडंबरों, मंत्र, तंत्र, मंडल, बाह्याचारों का पूर्ण विरोध है। यह अंतस्साधना है।

इस संपूर्ण विवेचन से सहजिया लोगों के गुरुशिष्यवाद, पिंडब्रह्मांडवाद, बाह्याडंबरविरोध, अंतस्साधनावाद, कमलकुलिश या प्रज्ञोपायसाधना, युगनद्ध और महासुखवाद, ध्यान, वाम–दक्षिण साधना के सिद्धांतों और पद्धतियों पर प्रकाश पड़ता है। बाह्याचार का जो विरोध इस यान में दिखाई देता है, वह वज्रयान या तंत्र–मंत्र–मुद्रा–मंडल–प्रधान यान में नहीं मिलता। यहाँ

४०. वही।

४१–४२. वही, बा० ३०, पृ० १२६. १९; पृ० ११८. ११; बौ० गा० दो०, पृ० २१–२२; ज० डि० ले०, वा० ३०, च० ३६।

वज्रसत्त्व या अन्य किसी देवता की पूजा तथा अर्चा नहीं है। निर्गुण, निराकार सहजतत्व या महासुख तत्व की मानसी आराधना है, उपासना है। वास्तव में तंत्र का वास्तविक सूक्ष्म रूप और उसकी दिव्य साधना सहजयान में ही प्रस्फुटित हुई।[४३] इन विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विचार-पद्धति तथा साधना-पद्धति तत्कालीन जनप्रचलित पद्धतियों से भिन्न थी। इनकी कथन-पद्धति भी विलक्षण है। ये अंतरसाधना के समर्थक बौद्ध सिद्धों के विचार हैं, जनसामान्य के नहीं। पहले बताया जा चुका है कि तांत्रिक बौद्ध मत में भी तांत्रिक हिंदू मत की तरह ही अधिकारभेदवाद का महत्व था। उपर्युक्त विचार दिव्य सिद्धावस्था के हैं। तांत्रिक भावों और आचारों का ध्यान रखकर ही इन पर विचार करना चाहिए। इनकी सुस्पष्ट व्याख्या और विवेचन तो साधनासाध्य और अनुभवसापेक्ष है।

बौद्ध सिद्धों के उपरोक्त विचारों का विवेचन करते हुए आधुनिक विद्वानों ने उसे बौद्ध रहस्यवाद नाम से भी अभिहित किया है। जिन प्राचीन तांत्रिक बौद्ध ग्रंथों का विवेचन किया गया है, उनमें कहीं भी इस प्रकार के शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। इसीलिये परंपरा का विचार कर इन विचारों को 'दर्शन' और 'साधना' शीर्षक दिया गया है। वास्तव में गुह्यसमाजतंत्र द्वारा प्रवर्तित गुह्यसाधना ही, जो आगे चलकर सहजयान में अधिक से अधिक गुह्य

---

४३. बौद्ध सहजयान मत की विशेषताओं के विस्तृत विवेचन के लिये द्रष्टव्य—

१—भागवत संप्रदाय—पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० ४६८—४७९,

२—स्टडीज इन दि तंत्रज—डा० प्रबोधचंद्र बागची, पा० १, पृ० ७६—८४,

३—आ० रे० क०—दासगुप्त,

४—एन इं० तां० बु०—दासगुप्त आदि।

होती गई, आधुनिक शब्दावली में रहस्यवाद है। भारतीय अध्यात्मविद्या तांत्रिक प्रभाव से अत्यधिक गुह्य हो गई। पाश्चात्य विचारधारा के प्रकाश में विचार करने पर तांत्रिक बौद्ध विचारों में रहस्यवाद के प्रायः सभी लक्षण घटित होते दिखाई देते हैं। रहस्यवाद के अनुसार परम तत्व केवल अंतर्दृष्टिग्राह्य है। प्रातिभ चक्षु के द्वारा ही उसका दर्शन संभव है। यह जीव सीमित और बद्ध होता है किंतु साधक की रहस्यानुभावावस्था में वह असीम और मुक्त परम तत्व में सर्वथा लीन हो जाता है। इस रहस्यानुभव में लीनता, अचेतनता में प्रवेश के समान प्रतीत होती है।[४४]

जिन विद्वानों ने बौद्ध आचार्यों को रहस्यवादी कहा है, संभवतः, उनकी दृष्टि में ये लक्षण रहे होंगे। पहले ही बताया जा चुका है कि मांत्रिक साधना के आरंभ में ही अद्वैत भावना का उद्भव हो चुका था। डा० तूसी के कथनानुसार रहस्यवाद अद्वैतवादी के अतिरिक्त और कुछ हो भी नहीं सकता। उनकी दृष्टि में मैत्रेयनाथ तथा असंग का मत विशेषतः रहस्यात्मक है। इस मत में यद्यपि तर्कश्रुतज्ञान आवश्यक था तथापि उसके अतिरिक्त प्रत्यात्मार्यज्ञान भी आवश्यक था। उनकी रहस्यसाधना तथा दर्शन, तर्क के क्षेत्र के अंतर्गत नहीं आते, क्योंकि तर्क से हम केवल विशेष और अपूर्णज्ञान की ही प्राप्ति कर सकते हैं। उससे न हम धर्म की प्राप्ति या धर्मों या पदार्थों के स्वभावज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं, न विमुक्तिज्ञान की।[४५] मैत्रेयनाथ के मत से यह भी पता चलता है कि योग और योगाचार, दोनों ही, अद्वैतवादी प्रत्ययवाद के विभिन्न पहलुओं को उपस्थित करते हैं। किंतु दोनों ही यह स्वीकार करते हैं

---

४४. हैंडबुक आव दि हिस्ट्री ऐंड डेवलपमेंट आव फिलासफी, रेव० जे० ओ० बेवन, पृ० १०६।

४५. आन सम ऐस्पेक्ट्स आव दि डाक्ट्रिंस आव मैत्रेयनाथ ऐंड असंग— डा० तूसी, पृ० २७।

कि परम तत्व का अनुभव अंतःसाक्षात्कार पर ही अवलंबित है। उनकी ध्यान की रहस्यात्मक पद्धति अप्रतिम है। इसीलिये दोनों की शब्दावली में भी पर्याप्त समानता है।[४६]

पहले यह कहा गया है कि बौद्ध ध्यान योग लगभग ई० पू० तीसरी शताब्दी में औपनिषदिक ध्यानयोग से प्रभावित था किंतु उसके बाद लगभग ५वीं शताब्दी तक राजयोग ने अत्यधिक प्रभाव डाला था। तांत्रिक योग और पिंडकल्पना ने बौद्ध ध्यानयोग को अपेक्षाकृत अधिक गुह्य और रहस्यात्मक बना दिया। लंकावतारसूत्र, मैत्रेयनाथ तथा असंग के विचार तांत्रिक बौद्धयोग के पूर्व के बौद्धयोग की विशेषताओं की ओर संकेत करते हैं। बौद्धयोग की अंतिम विकासावस्था सहजयानी रचनाओं में दिखाई पड़ती है, जिसमें नाड़ीचक्रकल्पना आदि का सांकेतिक और प्रतीकात्मक वर्णन मिलता है। डा० प्रबोधचंद्र बागची ने अतींद्रिय-प्रत्यक्ष, अंतःसाक्षात्कार, नाड़ी-चक्र-कल्पना, प्रतीक पद्धति आदि पर विचार कर चर्यापदों को रहस्यवादी रचनाओं के रूप में ग्रहण किया है। इन चर्यापदों में बौद्ध रहस्यवाद के सिद्धांतों को प्रतीकों के सहारे व्यक्त करने का प्रयत्न मिलता है।[४७]



४६. वही, पृ० २६।

४७. स्टडीज़ इन दि तंत्रज, डा० प्रबोधचंद्र बागची, पा० १, "सम ऐस्पेक्ट्स आव बुद्धिष्ट मिस्टिसिज्म इन दि चर्यापदज" शीर्षक निबंध, पृ० ४७–८६।

१२. वज्रयान और सहजयान

पूर्व परिच्छेद के विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सहजयान ने वज्रयान के वज्र (कठोर, कठिन) के स्थान पर सहज (सरल, नैसर्गिक) की प्रतिष्ठा की। इस तत्व को प्रमुखता देने के कारण ही सहजयानी बौद्ध सिद्धों की लोकभाषा की रचनाओं में वज्र, वज्रसत्व, वज्रधर, वज्रगुरु आदि शब्दों का कम ही प्रयोग मिलता है। सिद्ध शबरपाद ने 'वज्रधारी' शब्द का प्रयोग किया है।[1] सहज तत्व की प्रतिष्ठा और वज्र शब्द का दार्शनिक अर्थ ये दोनों इस यान को वज्रयान नाम के विशेष यान से पृथक् करनेवाले हैं। वज्रयान की साधनापद्धति तांत्रिक महायान धर्म या तांत्रिक बौद्ध धर्म की साधना के विकास के प्रथम चरण मंत्रयान के अधिक निकट है। अद्वयवज्र बौद्ध सहजयानी सिद्धों की रचनाओं के मान्य टीकाकार हैं। उनके अद्वयवज्रसंग्रह में मंडल की गाथाएँ हैं, मंडल की पूजाविधियाँ हैं, पट–पुस्तक–पूजा, मंडलानुशंसा आदि का भी वर्णन है। सेकोद्देशटीका में मंत्रों का विपुल भंडार है। अद्वयवज्रसंग्रह और गुह्यसमाजतंत्र की अपेक्षा सेकोद्देशटीका में सेक या अभिषेक का अधिक विस्तार से विवेचन है। तात्पर्य यह कि महामुद्रा, प्रज्ञोपाय, कमलकुलिश आदि या इन ग्रंथों में विवेचित साधनपद्धतियाँ केवल अभिषिक्त या दीक्षित लोगों के लिये ही हैं। अद्वयवज्र संग्रह के विविध वर्णनों और बौद्ध सिद्धाचार्यों के चर्यापदों और दोहों के वर्ण्य विषयों की तुलना करने से यह स्पष्ट होता है कि अद्वयवज्र स्वयं वज्रयान की तांत्रिक मांत्रिक साधना के आचार्य थे, यद्यपि उन्होंने तंत्र, मंत्र,

---

१. बौ० गा० दो०, पृ० ४४, च० २८।

बाह्याचार और समाधिविरोधी सहजयानी सिद्धाचार्यों की लोकभाषा की रचनाओं की संस्कृत में टीका की।

डा० शशिभूषण दासगुप्त का कहना है कि वज्रयान शब्द सामान्यतया सभी प्रकार के तांत्रिक बौद्ध साधनमार्गों के लिये व्यवहृत किया जाता है किंतु इस तांत्रिक यान में, परवर्ती काल में, कुछ ऐसे योगियों का दल उठ खड़ा हुआ जिसने तांत्रिक साधना की बाह्याडंबरता या वज्रयान का विरोध किया।[२] गुह्यसमाजतंत्र, ज्ञानसिद्धि, प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, अद्वयवज्र-संग्रह, सेकोद्देशटीका, साधनमाला आदि ग्रंथ वास्तव में सैद्धांतिक दृष्टि से तांत्रिक बौद्ध विचारों और क्रियाओं का प्रतिपादन करनेवाले ग्रंथ हैं और संस्कृत में लिखे गए हैं, चाहे उनकी संस्कृत असंस्कृत ही रही हो। किंतु इन सिद्धों ने सबसे पहली बार अपनी-अपनी साधनापद्धति, जगत्, जीव और परमतत्व संबंधी विचारों और अनुभूतियों को लोकभाषा में लिखे गए चर्या-पदों और दोहों के माध्यम से व्यक्त किया। इस पर अनुमान किया जा सकता है कि बौद्ध सिद्धाचार्यों की दीक्षित मंडली में भी संस्कृत की पूरी जानकारी रखनेवाले लोग कम ही थे। वह अपभ्रंश का परवर्ती युग था। जो आचार्य थे वे भी शुद्ध संस्कृत नहीं लिख सकते थे। संभव है कि यह लिपिकारों के प्रमाद की सृष्टि हो। भाषा की यह अतंत्रता की परंपरा महायान सूत्रों से ही चली आ रही है। इन सभी पर विचार कर भाषावैज्ञानिकों ने इनकी एक स्वतंत्र संकर संस्कृत (हाइब्रिड संस्कृत) की कल्पना की है।[३] डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने साधनमाला की भाषा पर विचार करते हुए कहा है कि साधनमाला की संस्कृत उसी प्रकार की बौद्ध संस्कृत है, जैसी हमें

---

२. आ० रे० क०, पृ० ८८-८९।

३. इस संबंध में एड्गर्टन लिखित और संपादित ग्रंथ द्रष्टव्य है—हाइब्रिड संस्कृत ग्रामर, हाइब्रिड संस्कृत रीडर, और हाइब्रिड संस्कृत डिक्शनरी।

महावस्तु अवदान, ललितविस्तर, शिक्षासमुच्चय, कारंडव्यूह, सद्धर्मपुंडरीक और इसी प्रकार के अन्य महायान ग्रंथों में मिलती है। व्याकरणिक नियमों की दृष्टि से साधनमाला की भाषा अत्यधिक लचीली है। साधनमाला के दोनों भागों में इसी प्रकार की भाषा संबंधी विशेषताएँ दिखाई देती हैं।[४]

इन सिद्धों की रचनाओं की भाषा संबंधी विशेषताओं का विवेचन करते हुए राहुल जी ने कहा है कि 'सिद्ध लोगों ने उस समय (सिद्धयुग—८०० ई०—१२०० ई० तक या ११७५ ई० तक के युग में) लोकभाषा में कविता करनी शुरू की, जिस समय शताब्दियों से भारत के सभी धर्मवाले किसी न किसी मुर्दा भाषा द्वारा अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे और इसी कारण इनके धर्म के जाननेवाले बहुत थोड़े हुआ करते थे। सिद्धों के ऐसा करने के कारण थे—वह धर्म, आचार, दर्शन आदि सब विषयों में एक क्रांतिकारी विचार रखते थे। वह सभी अच्छी बुरी रूढ़ियों को उखाड़ फेंकना चाहते थे यद्यपि जहाँ तक मिथ्या विश्वास का संबंध है, उसमें कई गुनी वृद्धि करने वाले थे। अपने वज्रयान की जनता पर विजय पाने के लिये उन्होंने भाषा की कविता का सहारा लिया। आदिसिद्ध सरहपाद से ही हम देखते हैं कि सिद्ध बनने के लिये भाषा का कवि होना, मानों आवश्यक बात थी। सिद्धों ने भाषा में कविता करके यद्यपि अपने विचारों को जनता के समझने लायक बना दिया, तथापि डर था कि विरोधी उनके आचार-विरोधी कर्मकलाप का खुलेआम विरोध कर कहीं जनता में घृणा का भाव न पैदा कर दें; इसीलिये वह एक तो विशेष योग्यताप्राप्त व्यक्तियों को ही सुनने का अवसर देते थे, दूसरे भाषा भी ऐसी रखते थे, जिसका अर्थ वामाचार

---

४. साधनमाला, सं० डा० विनयतोष भट्टाचार्य, वा० १, इंट्रो० पृ० ८८; वा २, इंट्रो० पृ० ७।

और योगाचार दोनों में लग जाए।'[५] साथ ही यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि इन सिद्धों ने संस्कृत में भी रचनाएँ की हैं। इस प्रकार इन सिद्धों की भाषा संबंधी विशेषता यह है कि इन लोगों ने बौद्ध संस्कृत और लोकभाषा दोनों में रचनाएँ की हैं।[६] साधनमाला में चौरासी सिद्धों में से अनेक की संस्कृत रचनाएँ संगृहीत हैं। किंतु इस विचार का समर्थन करने में तनिक भी संकोच नहीं होना चाहिए कि इन सिद्धों ने बौद्ध धर्म में शताब्दियों बाद बुद्ध के भाषा संबंधी विचारों का पुनः जयघोष किया और उसका प्रमाण भाषा के व्यवहार से दिया।

राहुल जी ने यद्यपि वज्रयान और सहजयान के स्पष्ट भेदक तत्वों के ऊपर कुछ नहीं लिखा है किंतु उपरोक्त उद्धरण के आधार पर यह प्रमाणित किया जा सकता है कि सहजयान अपने पूर्ववर्ती वज्रयान के अनुयायियों को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न अपनी भाषा के सहारे कर रहा था। संभवतः राहुल जी ने सामान्य तांत्रिक बौद्ध साधना के लिये ही वज्रयान शब्द स्वीकार किया है। भाषा संबंधी भेद के अतिरिक्त सिद्धों की लोकभाषा की रचनाओं का अन्य तत्वों की दृष्टि से वज्रयान से क्या संबंध है, इसमें सबसे पहले उनकी दार्शनिक विरासत का विचार सबसे अधिक आवश्यक है। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जायगा कि बौद्ध सहजिया सिद्ध, भाषा के अतिरिक्त अन्य किन सिद्धांतों और साधनापद्धतियों में वज्रयान से समता तथा विषमता रखते हैं।

पहले ही कहा जा चुका है कि तांत्रिक महायान धर्म में सबसे पहले शक्ति तत्व को प्रतिष्ठित करनेवाला ग्रंथ ७वीं शताब्दी का गुह्यसमाजतंत्र है। उसे हम वज्रयान का प्रथम ग्रंथ कह सकते हैं। सहजयान के विषय में विद्वानों का विचार भिन्न है। म० डा० शास्त्री का यह मत है कि बौद्धों में

५-६. पुरातत्व निबंधावली, पृ० १६०; वही, सरहपाद का विवेचन, पृ० १६७-१७१।

लुईपाद ने ६ वीं शताब्दी में सहजिया मत का प्रचार किया।[७] शास्त्री महोदय का यह भी कहना है कि ६ वीं शताब्दी से १३ वीं शताब्दी तक इस सहजिया मत का अनवरत प्रवाह चलता रहा। ऐसा उन्होंने बंगला और तिब्बती पोथियों के आधार पर निश्चय किया है। डा० विंटरनित्स के कथनानुसार लक्ष्मींकरा ने 'अद्वयसिद्धि' से नवीन अद्वैतवादी मत सहजयान का प्रवर्तन किया जो अभी भी बाउलों में जीवित है। यह लक्ष्मींकरा इंद्रभूति की बहन थी। उन्होंने संन्यास, धार्मिक शिष्टाचारों, मूर्तिपूजा आदि का खंडन किया और केवल सभी देवताओं के आश्रय इस शरीर पर ध्यान लगाने को कहा। विंटरनित्स का यह भी कहना है कि सहजयान की रचनाएँ दोहों और गानों में अपभ्रंश में लिखी गई हैं।[८] डा० विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार लक्ष्मींकरा द्वारा प्रवर्तित सहजिया मत आज भी बंगाल के नाढा नाढियों और बाउलों में जीवित है। उसका मत यह घोषणा करता है कि सत्यानुभव कर लेने पर साधक निर्बंध हो जाता है। पेयापेय, खाद्य-अखाद्य का विचार उसे नहीं रखना पड़ता। वह किसी भी दैवी अथवा मनुष्यकृत नियम का उल्लंघन कर सकता है। लक्ष्मींकरा ने नारी के प्रति घृणा भाव की निंदा की है क्योंकि सभी नारियाँ प्रज्ञा का अवतार हैं। निर्वाणोपदेश के लिये गुरु तत्व पर विशेष जोर दिया गया है। उसी की कृपा से प्रज्ञाप्राप्ति संभव है।[९] इसका समय डा० भट्टाचार्य ने अष्टम शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना है।

---

७. बौ० गा० दो०, मुखबंध, पृ० १६।

८. बौ० गा० दो०, मुखबंध, पृ० ६; ए हि० इं० लि०, वा० २, पृ० ३९३, ६३५।

९. ऐन इं० बु० ए०, भट्टाचार्य, पृ० ७६—७७ पर उद्धृत अद्वयसिद्धि के वचन —

'न कष्टकल्पनां कुर्यात् नोपवासो न च क्रियाम्।
स्नानं शौचं न चैवात्र ग्रामधर्मविवर्जनम्॥

श्री मणींद्रमोहन बोस ने शास्त्री जी के उपरोक्त कथन पर अपना यह मत व्यक्त किया है कि बौद्ध गान ओ दोहा की रचनाओं के प्रकाशन से शास्त्री महोदय ने चैतन्यपरवर्ती सहजिया मत की भूमिका के लिये महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है।[१०] वज्रयान और सहजयान के भेदक तत्वों तथा सहजयान की विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए शास्त्री महोदय का कथन है कि यह सहजयान वज्र और पद्म के परस्पर संयोग से उदित होनवाले सहजानंद में विश्वास करता है। इस यान ने वेदप्रामाण्य, कर्मकांड, यज्ञयाग आदि का विरोध किया है। ईश्वर के अस्तित्व को भी बौद्ध सहजिया सिद्ध स्वीकार नहीं करते। तांत्रिक विशेषताओं, यथा डाकार्णवतंत्र में वर्णित नाड़ी, चक्र, योगिनी आदि, को भी स्वीकार कर लिया गया है। ये विशेषताएँ ऐसी हैं जो हिंदू बौद्ध और वैष्णव सभी तांत्रिक मतों में प्राप्त होती हैं। जैसा ऊपर कहा गया है, आध्यात्मिक यात्रा की सफलता के लिये गुरु तत्व को भी स्पष्टतया स्वीकार किया गया है। बौद्ध सहजिया अपने और पराये, आत्मगत और संसारगत में अंतर नहीं मानते। इसीलिये वे मानव स्वभाव के ज्ञान पर विशेष जोर देते हैं। चंडरोषण महातंत्र

न चापि वन्दयेद्देवान् काष्ठपाषाणमृण्मयान्।
पूजामस्यैव कायस्य कुर्यान्नित्यं समाहितः॥
गम्यागम्यविकल्पं तु भक्ष्याभक्ष्यं तथैव च।
पेयापेयं तथा मन्त्री कुर्यान्नैव समाहितः॥
सर्ववर्णसमुद्भूता जुगुप्सा नैव योषितः।
सैव भगवती प्रज्ञा सम्वृत्या रूपमाश्रिता॥
आचार्यात् परतरं नास्ति त्रैलोक्ये सचराचरे।
यस्य प्रसादात् प्राप्यन्ते सिद्धयोऽनेकधा बुधैः॥'

१०. पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट, मणींद्रमोहन बोस, पृ० १३५।

के आधार पर सहजयानियों की प्रधान साधना सहजानंद या वाम मार्ग या योगिनी की साधना है।[११]

उपरोक्त सहज साधना को भेदक तत्व मानने का प्रधान आधार है तांत्रिक बौद्ध साधना के ग्रंथों में सहज तत्व का विवेचन। सहजयान ने तांत्रिक बौद्ध साधना में सहज तत्व को परम तत्व और साधनात्मक जीवन के परम लक्ष्य या श्रेयस् के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। अद्वयवज्रसंग्रह में सहज तत्व को अकृत्रिम, सुखोत्पादक कहा गया है। वह असंगलक्षण है।[१२] ज्ञानसिद्धि, प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, तथागतगुह्यक ग्रंथों में सहज शब्द की व्याख्या नहीं मिलती। डॉ० शशिभूषण दासगुप्त ने 'सहज' शब्द के दो अर्थ किए हैं—एक तो दर्शनपरक है और दूसरा साधनपरक। उनका कहना है कि सहजयान का परम लक्ष्य आत्मगत और संसारगत पदार्थों के स्वाभाविक धर्म (सहज) का साक्षात्कार या अनुभव करना है और यह सहजयान इसीलिये कहा भी जाता है कि मानव प्रकृति और शरीर को अनुचित कष्ट देने की अपेक्षा यह यान अत्यधिक स्वाभाविक मार्ग से सत्यानुभव कराना चाहता है। अर्थात् यह यान उस मार्ग का पथिक है जिस पर मानव स्वभाव उसे ले चले। उन्होंने संपुटिका (एक हस्तलिखित ग्रंथ) से एक उद्धरण देकर यह स्पष्ट किया है कि यह योगक्रिया शाश्वत है। यह हमारे मन्मथ (यौन वृत्ति) से उत्पन्न होती है। हमारी यौनवृत्तियाँ ही हमारे स्वभाव की सब कुछ हैं। यह वृत्ति शुद्ध होती है, अनाचार रहित होती है। इसलिये यह आवश्यक है कि यह रागवृत्ति या यौनवृत्ति परम तत्व के साक्षात्कार के लिये नियोजित कर दी जाय। जो स्वाभाविक है, वही सरल भी है। इस प्रकार उन्होंने प्रथम

---

११. वही, बोस, पृ० १२५–१४०, बंगला साहित्य के परवर्ती सहजिया संप्रदाय की साधना को दृष्टिगत रखकर बंगाल के लेखकों ने सहजयान का पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया है।

१२. अद्वयवज्रसंग्रह, पृ० ५८।

दार्शनिक अर्थ से ही द्वितीय साधनात्मक 'सहज या स्वाभाविक वृत्ति की साधना' का अर्थ विकसित किया है।[13]

साधारणतया 'सहज' शब्द का अर्थ 'जाति या जन्म के साथ ही उत्पन्न होना' लिया जा सकता है। धर्मों या पदार्थों में जो स्वभावतः ही रहता है, उसे ही सहज कहना चाहिये। उनके अस्तित्व के साथ ही वह तत्व भी रहता है। अर्थात् वह तत्व सभी धर्मों का सार है। हेवज्रतंत्र में कहा गया है कि विश्व का स्वभाव सहज है क्योंकि सहज ही सभी का स्वरूप है। यह स्वरूप ही शुद्ध चित्त वालों का निर्वाण है। महासुख के रूप में सहज को मनोशारीरिक क्रिया से प्राप्त करते हुए भी यह शरीर से संबद्ध नहीं है, यद्यपि यह शरीर में ही रहता है। यह शारीरिक तत्व नहीं है।[14] गुह्यसिद्धि, हेवज्रतंत्र आदि ग्रंथों में महासुख का वर्णन उसी प्रकार लगभग उन्हीं शब्दों में मिलता है, जैसा चर्यापदों में सहज का।

वज्रयान के जिन संस्कृत ग्रंथों का विवेचन उपस्थित किया गया है, उनमें अनेक स्थानों पर अनेक देवताओं के प्रति भक्ति प्रदर्शित की गई है। अद्वयवज्रसंग्रह के आरंभ में बुद्ध को, तत्वरत्नावली के आरंभ में वज्रसत्त्व को, बार बार अनेक नामों से प्रणति समर्पित की गई है। 'कुदृष्टिनिर्घातनम्' में बोधिसत्त्व त्रिरत्नों (बुद्ध, धर्म और संघ) की शरण जाते हैं, रत्नत्रय का अनुस्मरण करते हैं। वहीं गुरु को बुद्ध के समान पद दिया गया है। बुद्ध की पूजा का भी विधान है। तत्वप्रकाश में बुद्ध को नमस्कार

---

१३. आ० रे० क०, दासगुप्त, पृ० ५९।

१४. आ० रे० क०, दासगुप्त, पृ० १० में उद्धृत—"तस्मात् सहजं जगत् सर्वं सहजं स्वरूपमुच्यते। स्वरूपमेव निर्वाणं विशुद्धाकार चेतसाः (?)॥ तथा "स्वभावं सहजं इत्युक्तं सर्वाकारिक सम्वरम्।" एवं—"देहस्थोऽपि न देहजः।"

कर उन्हें प्रज्ञोपायात्मक, त्रिकाय रूप कहा गया है और माना गया है कि उनके प्रभाव से भव और निर्वाण का उत्तम ज्ञान होता है। इन ग्रंथों में भी कृपा, अनुग्रह, करुणा, बुद्ध-सम-गुरु आदि शब्दों का व्यवहार मिलता है जिनके आधार पर उन ग्रंथों में भक्ति तत्व की सिद्धि भली भाँति की जा सकती है। बौद्ध सहजयान की लोकभाषा की रचनाओं में चाहे उपरोक्त भक्ति-परक शब्द न मिलें किंतु वहाँ भक्ति की धारा का पूर्णतया अभाव नहीं। जो तांत्रिक साधना और दर्शन, तांत्रिक शैव दर्शन या इसी प्रकार के अन्य तांत्रिक दर्शनों और साधना प्रणालियों से प्रभावित हों, उनमें भक्ति तत्व का एकांत अभाव कुछ आश्चर्यजनक बात मालूम होती है। अद्वयवज्र संग्रह में कहा गया है—"शिव शक्ति समायोगात् जायते चाद्भुतं सुखम्।" तथा "शिवशक्तिसमायोगात् सत्सुखं परमाद्वयम्।" अद्वयवज्र का समय विंटरनित्स ने ११ वीं शताब्दी या बारहवीं शताब्दी का आरंभ माना है।[१५] निश्चित रूप से इस समय तक शैव-शाक्त तांत्रिक साधना का प्रभाव परिपक्व हो चुका था।

पहले कहा जा चुका है कि वज्रयानी ग्रंथों में गुरु को बुद्ध के समान पद दिया गया था। प्राचीन बौद्ध साहित्य में भी बुद्ध को शास्ता कहा गया था जिसका अर्थ गुरु होता है। इस प्रकार गुरु तत्व बौद्धों का प्राचीन साधना-त्मक तत्व है। प्राचीन बौद्ध साधना में, जैसा पहले बताया जा चुका है स्रोतापन्न से अर्हत तक की अवस्थाएँ कल्पित की गई थीं। स्रोतापन्न की अवस्था में जिन लोगों ने प्रवेश नहीं किया है, वे पृथग्जन कहलाते थे। गुरु या बुद्ध आर्यसत्यों का साक्षात्कार कराकर पृथग्जन को स्रोतापन्न की अवस्था का अधिकारी बनाते थे। यह कार्य गुरुशक्ति से ही संभव है। बुद्ध इस कार्य में अपनी कृपा भावना से ही प्रवृत्त होते हैं। गुरु

---

१५. ए हि० इं० लि०, विंटरनित्स, वा० २, पृ० ३७५।

या बुद्ध का करुणाभाव से प्रेरित होकर इस प्रकार अपनी शक्ति से पृथग्जन को स्रोतापन्न अवस्था का अधिकारी बनाना भी एक प्रकार का अभिषेक ही है। तात्पर्य यह कि सांसारिक जन या आर्यमार्ग से पृथक् रहनेवाले जन केवल अपनी शक्ति से स्रोतापन्न नहीं हो सकते। इसके लिये एक अलौकिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। यही शक्ति गुरु या बुद्ध है। वज्रयान के उद्भवकाल तक गुरुतत्व की, साधनात्मक दृष्टि से, महत्ता की घोषणा मुक्तकंठ से की जाने लगी। परवर्ती वज्रयानी ग्रंथ अद्वयवज्रसंग्रह के प्रेमपंचक में गुरु की कृपा से ही 'सहज प्रेम' का उदय संभव बताया गया है। प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि के मत से गुरु की कृपा से ही शिष्य बुद्धकुल में संमिलित होता है। इसी प्रकार इन ग्रंथों में गुरुभक्ति की दृढ़ता पर जोर दिया गया है और कहा गया है कि बिना गुरु की कृपा के परम तत्व की प्राप्ति असंभव है। तात्पर्य यह कि वज्रयान के ग्रंथों में गुरु को सभी प्रकार की प्रमुखता प्राप्त होने लगी थी। अभिषेक होने के पूर्व शिष्य गुरु को उसी प्रकार पूजा करता था जिस प्रकार बुद्ध की। अनुमान है कि सहजयान तक आते आते बुद्ध की कृपा, गुरुकृपा पर निर्भर रहने लगी थी और यही कारण है कि उसमें बुद्धकृपा या बोधिसत्त्व-कृपा या अन्य किसी देवता की कृपा का विवेचन नहीं मिलता। जो प्रपत्ति, पुष्टि, शरणागति आदि शब्द मध्यकालीन साहित्य में बहुलता से प्रयुक्त होने लगे, उनको अचानक लगभग ४००-५०० वर्षों बाद अवतीर्ण मानना कुछ अस्वाभाविक जान पड़ता है, जब कि सहजसाधना, पूर्णतया भाव रूप में मध्य-कालीन साहित्य में रूपांतरित दिखाई देती है। चर्यापदों और दोहों में गुरु की महत्ता और कृपा की घोषणा मुक्तकंठ से की गई है। इससे भिन्न, डा० शशि-भूषण दासगुप्त का यह कथन है कि भक्ति की वह धारा या प्रेमशक्ति बौद्ध और जैन दोहों और गानों में अपने अभाव के कारण पूर्णतया स्पष्ट है, किंतु मध्यकालीन गानों और दोहों में यह तत्व सर्वप्रमुख है।[१६] संभवतः साधकके प्रयत्नपक्ष की प्रबलता के कारण ही इस प्रकार का अभाव प्रतीत होता है।

---

१६. आ० रे० क०, दासगुप्त, पृ० ८९।

इसी प्रकार इन सहजयानी सिद्धाचार्यों की लोकभाषा की रचनाओं के सर्वेक्षण से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सहजपंथियों के सर्वात्मना गुरुवाद को सिद्धांततः स्वीकार कर लेने के कारण उनकी साधना-पद्धति में ही निहित थे। शरीर के विभिन्न शक्तिकेंद्रों की कल्पना उन लोगों ने की थी। इन केंद्रों का प्रत्यक्ष इंद्रियजन्य दर्शन और अनुभव असंभव था। अतः अनुभव और अनुभूति को प्रमाण मानने के कारण गुरुतत्व को प्रमुखता देनी पड़ी।

सरहपाद के उद्धरणों से स्पष्ट है कि ये सिद्ध काया को ही सर्वोत्तम साधनातीर्थ मानते थे। इससे ही पिंडब्रह्मांडवाद के सिद्धांत को भी उन्हें स्वीकार करना पड़ा। सेकोद्देशटीका जैसे ग्रंथों में, जैसा पिछले विवेचन से स्पष्ट है, इन चक्रों और नाड़ियों का विस्तृत वर्णन मिलता है। इन सब सिद्धांतों के आधार पर इन सिद्धों ने या बौद्ध संतों ने सभी प्रकार के अलौकिक सत्यों को इस शरीर में ही साक्षात्कृत करने के लिये कहा। हिंदू तंत्र ग्रंथों में जिस प्रकार की नाड़ियों का विश्वास पाया जाता है, वैसे ही इनके यहाँ भी ललना और रसना, प्रज्ञा और उपाय आदि इड़ा पिंगला के समान ही हैं। कायासाधन की दृष्टि से इन सिद्धों ने योग को प्रधानता दी। योग को अनेक विद्वानों ने मनोशारीरिक साधना कहा है क्योंकि अष्टांगों में प्रथम पाँच का कायासाधना से तथा अंतिम तीन का मानसिक साधना से संबंध है। यह माना गया था कि उच्चतम साधना के लिये पूर्ण परिपुष्ट शरीर की आवश्यकता है। प्रमुखतः कायासाधना के लिये, पंचस्कंधों को दृढ़ बनाने के लिये राजयोग के प्रथम पाँच अंगों के साथ हठयोग को भी स्वीकार किया गया। साथ ही यह भी माना गया कि हठयोग और राजयोग महासुखावस्था तक नहीं पहुँचा सकते। ये तो उसकी पीठिका तैयार करते हैं।[१७]

---

१७. वही, पृ० १०८; गुह्यसमाजतंत्र, इंट्रो० पृ० १५–१७।

वज्रयानियों ने बोधिचित्त को प्रज्ञोपायात्मक माना था। सहजयानियों ने उसे सहजसुख के समान माना। जैसा पहले बताया जा चुका है, बौद्ध साधकों ने काय, वाक् और चित्त की दृढ़ता को साधना के लिये आवश्यक माना था। तांत्रिक साधना के अनुसार यह चित्त तत्व शुक्र या बिंदु है। सामान्यतया सांसारिक चित्त या शुक्र मलावलिप्त और चंचल रहता है। इसलिये चित्त की साधना में प्रारंभिक क्रिया उसके शोधन की होती है। निर्मल चित्त का स्थिरीकरण दूसरी क्रिया है। उष्णीषकमल में यह स्थिरीकरण पूर्ण होता है। अनंतर करुणा-कार्य या परोपकार के लिये इस स्थिर चित्त की पुनः अवतारणा की जाती है। इस प्रकार साधक चित्त का शोधन कर गुरुकृपा से जागी हुई निर्माणचक्र की अग्नि या कुंडलिनी के उत्तेज से उसका क्रमशः उठाते हुए उष्णीषकमल में स्थिर करता है। यहाँ तक परम ज्ञान या प्रज्ञा की प्राप्ति हो जाती है। किंतु यही बुद्धत्व नहीं है। परम ज्ञान प्राप्त चित्त को करुणाकार्य में प्रवृत्त करना अपेक्षाकृत महत्तर और कठिन कार्य है। इसके लिये चित्त की पुनः अवतारणा की जाती है। यह क्रिया महायान की साधना में वर्णित बोधिसत्त्व की उन प्रक्रियाओं के समान है जिसमें वह प्रथमतः अपने चित्त को संसार से निवृत्त करता है। प्रज्ञाप्राप्ति के बाद पुनः वह संसार की ओर निवृत्त चित्त से प्रवृत्त होता है। 'परावृत्ति' शब्द इस प्रक्रिया की ओर संकेत करता है। प्रज्ञा और करुणा का यह समन्वय परवर्ती अद्वय-साधना का मूल है। इस क्रिया से चित्त निर्माणचक्र (मणिपूर चक्र) से ऊपर की ओर चढ़ाया जाता है और वही धर्मचक्र और संभोगचक्र से होते हुए उष्णीषकमल में प्रवेश करता है। इस बोधिचित्त के भी दो पक्ष स्वीकार किए गए हैं—एक तो संवृत और दूसरा विवृत। सांसारिक आनंद या सुख को प्राप्त करते समय वह संवृत (बंद, बँधा हुआ) रहता है। जब यही चित्त महासुख की प्राप्ति करता है, विवृत (खुला हुआ, स्वच्छंद) हो जाता है. सामान्यतया संवृत चित्त लौकिकानंद की ओर उन्मुख रहता है और विवृत अलौकिक आनंद या सहजानंद की ओर। संवृत चित्त

चंचल और विवृत चित्त अचंचल रहता है। चित्त के इन दोनों रूपों को परंपरा की दृष्टि से माध्यमिकों और योगाचारियों के सांवृतिक सत्य और पारमार्थिक सत्य से जोड़ा जा सकता है। पारमार्थिक सत्य ही निर्वाण है, तथता है, महायान का परम सत्य है। सहजयानियों ने इन दोनों पक्षों को ध्यान में रखते हुए कहा है कि यह चित्त ही अविस्फुरितावस्था में सहज सुख या परम सत्य का अनुभव करता है और फिर वही विस्फुरितावस्था में बंधन को प्राप्त करता है। प्राचीन साहित्य में स्पष्टतः यह घोषित किया गया है कि यह चित्त ही जगत् का प्रवर्तन करता है, चित्त ही विमुक्त होता है, चित्त ही उत्पन्न होता है, चित्त ही निरुद्ध होता है।[१८]

योगाचारियों ने चित्त या आलय विज्ञान की जो महत्ता स्वीकार की है, उससे मिलाकर सहजयानियों के इस विचार का विवेचन किया जा सकता है। योगाचार नामकरण और 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' को प्रतिष्ठित करने-वाले पतंजलि के बाद का बौद्ध योग-इन सब को एक साथ ध्यान में रखकर सहजिया लोगों के चित्तयोग की मीमांसा अपेक्षित है। चित्तयोग की इस महत्ता को स्वीकार करते हुए सहजिया सिद्धों ने बाह्य तंत्र-मंत्र-मंडल आदि को साधना के चरम साधन के अनुपयुक्त समझा। बाहर की सामग्री से बोधिचित्तोत्पाद असंभव माना गया और शरीर के अंदर ही अनेक साधनों और सामग्रियों की कल्पना की गई, जिससे इनकी साधना भौतिक सामग्रियों की दृष्टि से सरल और स्वाभाविक हो गई महायान में बोधिसत्त्व, जैसे साधना की प्रक्रिया में दशभूमियों को पार करता हुआ अंतिम धर्ममेघा में पहुँच कर बुद्धत्व की प्राप्ति करता था उसी प्रकार सहजयानियों ने बोधिचित्त के लिये विकास की अवस्थायें स्वीकृत की जिन्हें वे चक्रों, क्षणों, आनंदों

१८. "चित्तं प्रवर्तते चित्तं चित्तमेव विमुच्यते। चित्तं हि जायते नान्यचित्तमेव निरुध्यते।" लंकावतार सूत्र, गाथा १४५।

आदि में विभाजित करते थे। पहले के विवेचन से स्पष्ट है कि ये अवस्थाएँ चार ही होती थीं। धर्ममेघा को उष्णीषकमल या वज्रकाय या सहजकाय माना गया, जहाँ पहुँचने पर सभी प्रकार के द्वैत भाव अद्वैत में लीन हो जाते हैं।

इस अद्वैतभाव की उपलब्धि मध्यम मार्ग की साधना से होती है। बुद्ध का मध्यमाप्रतिपदा (मध्यम मार्ग), और नागार्जुन का चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्यता का माध्यम मार्ग, सहजयानियों के अवधूतिका मार्ग या ललना रसना के मध्यम मार्ग से भिन्न नहीं है। अंतर यह है कि बुद्ध का मध्यम मार्ग आचारप्रधान (अष्टांगिक मार्ग) था, नागार्जुन का मध्यम मार्ग दर्शनप्रधान था तथा सहजयानियों का मध्यम मार्ग साधनाप्रधान तथा यौन-यौगिक प्रक्रिया से संबद्ध था। सामान्यतया इस मार्ग का अर्थ था—अतियों का परित्याग। चर्यापदों और दोहों के पिछले विवेचन से सहजयानियों के 'उजूबाट' और मध्यम मार्ग को साधना का परिचय मिल जाता है। कालचक्रयानियों की यौगिक प्राण-अपान की साधना भी इससे भिन्न नहीं प्रतीत होती।

दोहों और चर्यापदों में चार प्रकार की मुद्राओं और चित्त की अवस्थाओं का विवेचन नहीं मिलता और संभवतः उसका कारण यह है कि ये रचनाएँ अनुभूतिप्रधान साधना की रचनाएँ हैं। इन सिद्धों ने परमावस्था प्राप्त होने पर जो अनुभव किया उसी का वर्णन सहज भाषा में कर दिया। इसलिये यत्र तत्र डोंबी, नैरात्मा, बंगाली, विलक्षणावस्था और महासुखचक्र आदि शब्दों का प्रयोग मिल जाता है। श्रीकालचक्रतंत्र, हेवज्रतंत्र आदि ग्रंथों में मुद्राओं, चक्रों आदि का वर्णन प्रायः उसी प्रकार का मिलता है, जैसा पहले वर्णन किया गया है।

हिंदू तंत्रों में शरीरस्थित शक्ति की कल्पना की गई है। कहा गया है कि जीवात्मा का तादात्म्य मूलाधारचक्रस्थित कुंडलिनी शक्ति से हो जाता है

और वह शक्ति फिर यौगिक अभ्यास से जागृत कर सहस्रारस्थित परमशिव से मिलने के लिये उत्थित की जाती है। जैसे जैसे कुंडलिनी चक्रों को पार करती हुई ऊपर चलती है, चक्रस्थित पंचमहाभूत उसमें विलीन होते जाते हैं। परमशिव से मिलन प्राप्त होने तक ये सभी तत्व उसमें लीन रहते हैं। यही कुंडलिनी की उन्मीलित अवस्था है। उस समय जीवात्मा की प्रकृति विश्वातीत होती है।[१९] परम शिव से संपरिष्वक्त कुंडलिनी ही शुद्ध कुंडलिनी है। यही साधक को विश्वातीत बनाती है, पंचमहाभूतों से परे, भिन्न अवस्था में अवस्थित करती है। लगभग इसी प्रकार की कल्पना सहजिया सिद्धों की लोकभाषा की रचनाओं में मिलती है। कायहपाद जिस डोंबी से विवाह करते हैं, वह चतुष्षष्टिदलकमल पर चढ़ कर नृत्य करती है।[२०] हेवज्रतंत्र में स्पष्टतया कहा गया है कि यह चंडाली पंचतथागतों (पंच महाभूतों के प्रतीकों) को जला देती है। इनकी डोंबी चंडाली, शबरी, योगिनी, नैरात्मा, नैरामणि, अवधूतिका, कुंडलिनी शक्ति से भिन्न नहीं है। इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लगभग अद्वयवज्र तक आते आते शैव शाक्त भावनाधारा और तांत्रिक योग, तांत्रिक बौद्ध साधना पर पूर्ण प्रभाव डाल चुके थे। यही तथ्य सहजिया सिद्धों की लोकभाषा की रचनाओं से भी उद्घाटित होता है।

पहले ही बताया जा चुका है कि प्रज्ञा या शून्यता को तांत्रिक प्रभाव से नारी शक्ति के रूप में कल्पित कर लिया गया था। धीरे धीरे यह समझा जाने लगा कि प्रत्येक साधक सुप्त बुद्ध है और प्रत्येक साधिका या मुद्रा, प्रज्ञा या शून्यता का अवतार है। वज्रयान में युगनद्ध और मैथुन की साधना के

---

१९. हिंदू तंत्रों में इस प्रकार का विस्तृत वर्णन उपस्थित करनेवाले ग्रंथ हैं—शारदातिलक और षटचक्र निरूपण।

२०. बौ० गा० दो०, चर्यापद १०, १९; पृ० १९, ३३-३४।

लिये यही तत्व उत्तरदायी है और संभवतः इसका कारण था विश्व के पदार्थों और जीवों में इस कल्पना का आरोप। सहजयानियों ने बाह्याडंबर का विरोध कर प्रज्ञा और उपाय, तीर्थ, चक्र, नाड़ी और मंडल आदि को शरीर में ही प्राप्त करने की घोषणा की। इसलिये चित्त को शुक्र या प्राणी की मूल-शक्ति से अभिन्न मानकर प्राण-अपान की साधना आरंभ कर दी गई। ये सिद्ध ऊर्ध्वरेतस् होने के लिये योग की पद्धतियों का प्रयोग करते थे। स्पष्ट है, मंत्र, मुद्रा, मंडल, मैथुन आदि के स्थान पर इन योगाचार्यों ने योग की क्रियाओं को प्रधानता दी, जो निश्चित रूप से साधना की आंतरिकता को सिद्ध करती हैं। इसी शक्ति को बौद्ध तांत्रिकों और सहजयानी सिद्ध कवियों ने सहजसुंदरी नाम दिया है जो त्रिपुरसुंदरी से मिलती जुलती कल्पना मालूम पड़ती है। साधनमाला में कहा गया है कि वह त्रिधातुओं (रूप धातु, अरूपधातु और कामधातु) में व्याप्त है, त्रिधातुमयी है।[२१] दीक्षित लोग इस सहजसुंदरी के सौंदर्य से भली भाँति परिचित रहते हैं, उसके बिना क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकते, सदैव कंठ से लगाए रहते हैं। किंतु अदीक्षित लोग इसकी निंदा करते हैं, इसे विरूप कहते हैं। काण्हपाद कहते हैं—

तिअड्डा चापि जोइनि दे अँकवाली।
कमल कुलिश घाँटि करहु विआली॥
जोइनि तँइ विणु खनहि न जीवमि।
तो मुह चुम्बि कमल रस पीवमि॥[२२]

तथा—केहो केहो तोहोरे विरुआ बोलइ।
विदुजण लोअ तोरें कण्ठ न मेलइ॥[२३]

---

२१. साधनमाला, भाग, २, पृ० ४४८। 'व्याप्य तिष्ठति त्रैधातुं'।
२२. बौ० गा० दो०, च० ४, पृ० |–) (बंगला टीका)।
२३. वही, च० १८, पृ० ३२।

इस प्रकार की साधना पूर्ण कर लेने पर साधक सिद्ध हो जाता है, सहजकाय या महासुखकाय हो जाता है। पंचभूत उसे किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाते। कारहपाद ने इसी अवस्था को प्राप्त करनेवाले सिद्ध को मत्तगजेंद्रवत् विचरण करनेवाला बतलाया है—

कान्हु विलसअ आसवमाता।
सहज नलिनीवन पइसि निवाता ॥[२४]

इन सब विवेचनों का सार यह है कि वज्रयान और सहजयान की साधना का अंतर बाह्य और अंतस्साधना का अंतर है। वस्तुतः सहजयान दिव्यभाव की साधना का मार्ग है, जहाँ गम्यागम्य, भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय का कोई विचार नहीं रहता, पराया अपना नहीं रहता। वहाँ सम दृष्टि ही सब कुछ है। शैवों, सांख्यों की समरसावस्था और सामरस्य भावना की उपलब्धि उसी प्रकार के थान में संभव है, जहाँ चित्त ही सब कुछ माना जाता हो, जहाँ का सिद्धांत वाक्य हो—

'यत्र यत्र मनो गच्छेत् तत्र तत्र शिवं पदं।'

———

२४. वही, च० ९, पृ० १७-१८।

१३—सिद्धियाँ और चौरासी सिद्ध

सिद्ध शब्द का संबंध सिद्धि से है और सिद्धि का साधन या साधना से। साधना शब्द, कुछ लोगों का विचार है, बंगला का है। इसका शुद्ध रूप 'साधन' है। इसी शुद्ध रूप का प्रयोग 'साधनमाला' और 'साधनसमुच्चय' जैसे ग्रंथों में मिलता है। 'साधन' से सिद्धि मिलने पर साधक सिद्ध की उपाधि या अवस्था को प्राप्त करता है। सिद्धियाँ भी कई प्रकार की मानी जाती हैं जैसे वाक्‌सिद्धि और मंत्रसिद्धि। कुछ सिद्धियाँ केवल चामत्कारिक ही होती हैं। उत्तम कोटि की सिद्धि आध्यात्मिक सिद्धि होती है। विभिन्न भारतीय ग्रंथों में अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राकाम्य, गरिमा, ईशित्व, वशित्व आदि सिद्धियों का भी नाम आया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के उंतालीसवें अध्याय में अट्ठारह प्रकार की सिद्धियों का वर्णन है। किंतु ये सभी सिद्धियाँ निम्नकोटि की हैं। उत्तम कोटि की सिद्धि महानिर्वाण या आध्यात्मिक सिद्धि है।[1] सिद्धियाँ अतीन्द्रिय तत्वों में विश्वासोत्पादन और साधारण जीवों के उपकार के लिये हैं। इसीलिये वस्तुतः ये सभी कल्याण के लिये प्रवृत्त होती है। इनके विषय में बौद्धों का भी आदि से अंत तक यही दृष्टिकोण है। यश, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति के लिये इनके दुरुप्रयोग से अनर्थ होता है। इसीलिये इनकी सर्वत्र निंदा भी है। उस उत्तम सिद्धि या आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के मार्ग में असंख्य इतर सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। कुछ साधक जो इन सिद्धियों के आकर्षण में ही रह जाते हैं आध्यात्मिक सिद्धि नहीं प्राप्त कर पाते इसीलिये गुह्यसमाज

---

१. इंट्रोडक्शन टु तंत्रशास्त्र, सर जान उडरफ, पृ० १५२।

जैसे ग्रंथ साधक को इतर सिद्धियों के प्रयोग, उद्देश्य आदि के संबंध में सचेत रखते हैं। वास्तव में सिद्धियों की कोटियाँ विभिन्न संप्रदायों के अनुसार भिन्न भिन्न हैं। पंचभूतों में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के विजय में भी एक क्रम हैं। ये क्रमशः एक दूसरे से सूक्ष्म होते गए हैं। आकाश-विजयसिद्धि पंचभूतजय में सर्वोत्तम सिद्धि है। सत्य बात तो यह है कि ये सिद्धियाँ साधक की साधना के विकास के चिह्नस्वरूप हैं। अतः ये सिद्धियाँ भी साधाना यात्रा में सहायक होती हैं यदि साधक की वृत्ति उत्तम सिद्धि की प्राप्ति में लीन रहे।

उपरोक्त प्रकार की सिद्धियों का वर्णन प्राचीन साहित्य में मिलता है। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि ये सभी सिद्ध आधुनिक दृष्टि से अतिमानवीय हैं। 'चंदनपात्र' की कथा में ऐश्वर्य, धन प्राप्ति के लिये सिद्धिप्रदर्शन की वृत्ति का विरोध भी इसी तथ्य को प्रकट करता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कपिल मुनि को सिद्धों में श्रेष्ठतम कहा गया है।[२] तांत्रिक साधना के प्रसार के साथ साथ ये सिद्धियाँ भी प्रसार पाने लगीं। अथर्ववेद का सौभाग्यखंड, अटानाटीय सूत्र, महायान सूत्र और परवर्ती तांत्रिक बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन कर इसका विस्तृत इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है। मिलिंद पञ्हो यद्यपि हीनयान का ग्रंथ है, फिर भी उसमें अनेक सिद्धियों का सांकेतिक विवरण मिल जाता है। इसे विद्वानों ने प्रथम ईस्वी शताब्दी का ग्रंथ माना है। जैसा विद्वानों ने स्वीकार किया है, बौद्ध साधना के विकास के अनुसार ५ वीं-६ वीं शताब्दी से लेकर लगभग १२-१३ वीं शताब्दी तक के साहित्य में सिद्धियों के प्राप्त करने की वृत्ति प्रधान दिखाई देती है। सिद्धियों का इतिहास निरूपित करने के लिये तांत्रिक साधना की प्राचीनता और उसका इतिहास भी उपस्थित करना आवश्यक हो सकता है किंतु उसके

---

२. श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस संस्करण, १०. २६। 'सिद्धानां कपिलो मुनिः।'

लिये यहाँ पर्याप्त अवसर और स्थान नहीं है। परिचय रूप में ये सिद्ध क्या थे तथा भारतीय साहित्य में इन सिद्धों का विवेचन किस रूप में मिलता है, इसका विवरण संक्षेप में यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

इस प्रकार के सिद्धों का विवेचन आरंभ करते समय सर्वप्रचलित कथन 'चौरासी सिद्ध नवनाथ' पर भी ध्यान जाता है। सिद्धों की संख्या केवल ८४ ही क्यों रखी गई? नवनाथों को ८४ से अलग क्यों माना गया? नवनाथों की भी संख्या ९ ही क्यों रखी गई? इत्यादि प्रश्न स्वभावतः उठते हैं। जहाँ तक इन संख्याओं का प्रश्न है, इन प्रश्नों के समाधान के लिये अनेक विद्वानों ने अनुमान का आश्रय लिया है। कुछ के मतानुसार ८४ सिद्धों का संबंध ८४ लाख योनियों से है। कामशास्त्र के ८४ आसनों से भी उनका संबंध जोड़ा जाता है। किंतु अधिकतर मान्य मत यह है कि यह संख्या १०८ की तरह ही रहस्य संख्या (मिस्टिक नंबर) है। नवनाथों के संबंध में भी इसी प्रकार के अनुमान किए जाते हैं।

इन सिद्धों की संख्या काल देश के प्रभाव से सीमित और भिन्न देखी जाती है। इनकी अनेक सूचियाँ मिलती हैं। इन सूचियों में मान्यताप्राप्त सिद्धों का नाम रखा गया है। इनकी सर्वाधिक प्रचलित संख्या ८४ है। सभी सूचियों में सभी सिद्धों के नाम समान रूप से नहीं मिलते। कुछ में तो कहने के लिये उनकी संख्या ८४ कह दी गई है किंतु सिद्धों के नाम कम ही दिए गए हैं। उनके नाम के अंत में 'पा' या 'पाद' या 'नाथ' उपाधि भी जोड़ दी गई है और कुछ सिद्धों का नाम उपाधिहीन ही रहने दिया गया है। जनसाधारण में मान्यताप्राप्त सिद्धों की इन सूचियों को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें किस सिद्ध की साधना किस स्तर की तथा किस संप्रदाय की थी।

भारतीय साहित्य में, सांप्रदायिक दृष्टि से ये सिद्ध कई प्रकार के थे। नाथ सिद्ध, बौद्ध सिद्ध, रस सिद्ध, शैव सिद्ध, महेश्वर सिद्ध आदि वास्तव में

अनेक संप्रदायों की दृष्टि से विभाजित हैं। इसलिये जो सूचियाँ मिलती हैं उनमें इन अनेक प्रकार के सिद्धों के नाम मिलते हैं। किसी भी सूची को केवल बौद्ध सिद्धों या नाथ सिद्धों की सूची कहना बहुत कठिन है। इन सूचियों में अनेक संप्रदायों के सिद्धों के परस्पर मिश्रित होने के कई कारण हैं। कभी एक सिद्ध एक प्रकार की सिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद जब दूसरी सिद्धि प्राप्त करने के लिये दूसरे गुरु से दीक्षा लेता है तो उसके साथ ही उसका पूर्व नाम भी परिवर्तित कर दिया जाता है। कभी दूसरे संप्रदाय में दीक्षित होने पर भी नामपरिवर्तन होता है। एक गुरु से दीक्षित होने पर बाद में लोग दीक्षित व्यक्ति को भी उसके गुरु के नाम से पुकारने लगते हैं। चरम सिद्धि प्राप्त हो जाने पर उपास्यदेव की उपाधि या उसका नाम ही उस सिद्ध को दे दिया जाता है। इन सिद्धों में भी अवतारवाद का प्रचार था। एक सिद्ध के सिद्धांत और साधना प्रणाली का प्रचार करने वाला दूसरा सिद्ध भी उसी के नाम से पुकारा जाने लगता है। इन सब कारणों से सूचियों में एक ही सिद्ध के कई नाम मिलते हैं। सिद्धिप्राप्ति के कारण तथा अतिमानवीय विशेषताओं के कारण ३००–४०० वर्ष तक की आयु एक सिद्ध की स्वीकार कर ली जाती है। इससे इन सिद्धों के कालनिर्णय में भी कठिनाई पड़ती है। तात्पर्य यह है कि सिद्धों की सूचियाँ शुद्ध ऐतिहासिक तथ्यों की दृष्टि से विश्वास योग्य और प्रमाणयोग्य नहीं हैं।

भारतीय साहित्य में, ऐतिहासिक दृष्टि से सिद्ध शब्द का प्रयोग बहुत अधिक प्राचीन है। धार्मिक विश्वासों की अतिरंजना के कारण इनमें जो सिद्ध ऐतिहासिक हैं, यद्यपि सब नहीं, उनको भी निर्जंधरी कथाओं और किंवदंतियों ने रहस्यमय बनाकर ऐतिहासिक तथ्यों को उलझा दिया है। तांत्रिक ग्रंथों में इन सिद्धों के वर्गों और उनकी विशेषताओं का विवेचन मिलता है।

अमरकोष, तथाकथित वाल्मीकि रचित गंगाष्टक, कालिदास रचित

मेघदूत आदि में सिद्धों को दिव्यजातीय कहा गया है। उन ग्रंथों में सिद्धांगनाओं और सिद्धवधुओं का भी वर्णन मिलता है।[3] कुछ रसायन सिद्ध, विद्वानों का कथन है, भारत में अंतर्वेद के निवासी थे। ये रसायन द्वारा सिद्धिप्राप्ति के आकांक्षी थे। इन रसेश्वर सिद्धों का मूल दर्शन रसेश्वर दर्शन प्रतीत होता है। 'सर्वदर्शनसंग्रह' के अध्ययन से स्पष्ट है कि रसेश्वरवादी जीवन्मुक्ति और अजरामरत्व के साधक हैं। पारद (शिव) और अभ्रक (शक्ति) के मिश्रण से मृत्यु और दारिद्र्य के नाश, जीवन्मुक्ति और अजरामरत्व की साधना कर सिद्ध बनने वाले को रसेश्वर सिद्ध कहा गया है। इस प्रकार के सिद्धों में महेश, बालखिल्यादि, नृप सोमेश्वरादि, गोविंद भगवत्पादाचार्य, गोविंदनायक, चर्वटि (चर्पटि ?), कपिल, व्यालि, कापालि, कंदलायन आदि सिद्धों की गणना की गई है।[4]

---

३. अमरकोष—१.११—

विद्याधराप्सरो यक्षरक्षो गंधर्वकिंनराः।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥ पृ० ४।

गङ्गाष्टक—

गन्धर्वामर सिद्ध किंनर वधू तुङ्गस्तनास्फालितम्।
स्नानाय प्रति वासरं भवतु मे गाङ्गं जलं निर्मलम्॥

ओरियंटल कांफ्रेंस, १९५० में पठित पं० परशुराम चतुर्वेदी का लेख, पृ० १।

मेघदूत (पूर्व), १४—

अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभिः।
दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्ध सिद्धाङ्गनाभिः॥

४. सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ८१,—

अभ्रकस्तव बीजं तु मम बीजं तु पारदः।
अनयोर्मेलनं देवि मृत्युदारिद्र्यनाशनम्॥

सिद्धों की संभवतः पृथक् पृथक् परंपराएँ थीं जिनमें नवकोटि सिद्धों का पाया जाना बतलाया जाता है। परंतु कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि ये नवकोटि सिद्ध वस्तुतः उस प्रसिद्ध चीनी ताओ धर्मी भोग द्वारा प्रभावित थे जो अपने देश से ईसा के पूर्व की किसी शताब्दी में यहाँ यात्री होकर आया था। उस भोग ने दक्षिण भारत के शैवागम एवं शाक्तागम वालों को 'शुद्ध मार्ग की शिक्षा दी जिस कारण वहाँ के आगमी सिद्धों पर कुछ न कुछ ताओ धर्म का भी प्रभाव पड़ गया। इस शुद्ध मार्ग के अनुयायी सिद्धों में सर्वप्रसिद्ध 'अष्टादश सिद्ध' समझे जाते हैं और उनमें शैवभक्त मणिवाचक, वागीश, ज्ञानसंबंध एवं सुंदर की भी गणना की जाती है। ये शुद्धमार्गी लोग ज्ञानसिद्धों के नाम से भी अभिहित किए जाते हैं और कहा जाता है कि ये अमर हैं।' 'शुद्धमार्गी सिद्धों के अनुसार पूर्ण सिद्ध वही कहला सकता है जो अपने शरीर को कायासाधनों द्वारा पूर्णतः वश में किये रहता है और जो इस प्रकार अदृश्य रूप में सदा बना रहता है।[५]

तथा—देवाः केचिन्महेशाद्या दैत्याः काव्यपुरःसराः।
मुनयो बालखिल्याद्या नृपाः सोमेश्वरादयः॥
गोविन्दभगवत्पादाचार्यो गोविन्दनायकः।
चर्वटिः कपिलो व्यालिः कापालिः कन्दलायनः॥
एतेऽन्ये बहवः सिद्धा जीवन्मुक्ताश्चरन्ति हि।
तनुं रसमयीमाप्य तदात्मककथाचणाः॥

५. दि कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया, वा० २, दि डाक्ट्रिनल कल्चर ऐंड ट्रेडिशन आफ दि सिद्धज—ज्योतिभूषण वी० वी० रमण शास्त्री, पृ० ३१२–३१७।

तथा आल इंडिया ओरियंटल कांफ्रेंस, १९५० में पठित परशुराम चतुर्वेदी का 'चौरासी सिद्ध कौन थे' लेख, पृथक्तः मुद्रित, पृ० ३–४।

भारतीय साहित्य में योगसिद्धों का भी वर्णन आता है। बुद्ध ने यश-धन प्राप्ति के लिये सिद्धियों का कितना विरोध किया था, इसकी ओर कई बार संकेत किया जा चुका है, किंतु फिर भी यह वृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी और संभवतः उसका कारण यह था कि बौद्ध धर्म धीरे धीरे लोकधर्म होता जा रहा था। तांत्रिक प्रभावापन्न होने के पूर्व भी बौद्ध धर्म के ऊपर ऐसी सिद्धियों का प्रभाव पड़ा था। बताया गया है कि लगभग चौथी और पाँचवीं शताब्दी के पूर्व बौद्ध साधना को पातंजल योग दर्शन और साधना ने प्रभावित किया था। स्वयं पतंजलि ने धर्ममेघ समाधि का वर्णन किया है।[६] जिस योगी को विवेकज्ञान की महिमा में भी वैराग्य हो जाता है, उसको विवेकज्ञान के सर्वथा प्रकाशमान रहने के कारण धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति हो जाती है। योग साधना की अंतिम अवस्था में या समाधि का अंतिम अनुभव प्राप्त करते समय कैवल्य या स्वरूपप्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है। योग के अष्टांगों में अंतिम तीन धारणा, ध्यान और समाधि में सिद्धियों या विभूतियों की प्राप्ति होती है। धर्म, लक्षण और अवस्था नामक परिणामत्रयों (धारणा, ध्यान और समाधि) का संयम करने से अतीत और अनागत का ज्ञान होता है।[७] इसी प्रकार प्राणियों की वाणी का ज्ञान, पूर्वजन्मज्ञान, परचित्तज्ञान, अंतर्धान, मृत्युंजय, बलप्राप्ति ज्योतिष्मती प्रवृत्ति, भुवनज्ञान, तारा व्यूहज्ञान, काव्यव्यूहज्ञान, क्षुत्पिपासानिवृत्ति, चित्तशरीर के संकोच एवं विस्तार, सिद्धदर्शन, प्रातिभज्ञान प्राप्ति का भी वर्णन किया गया है।[८] कहा गया है कि प्रातिभसिद्धि से भूत, भविष्य, वर्तमान

---

६. पातंजल योग दर्शन, गीताप्रेस संस्करण, ४. २९, पृ० १७२—'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेधर्ममेघः समाधिः।'

७. वही, ३. १६, पृ० ११८, 'परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्।'

८. वही, ३. १७, १८, १९, २१–३२।

एवं सूक्ष्म, ढकी और दूर देश में स्थित वस्तुएँ भी प्रत्यक्ष हो जाती हैं। दिव्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध की सिद्धियों की भी प्राप्ति होती है। किंतु इन छः सिद्धियों से वैराग्य करने के लिये कहा गया है। ये सिद्धियाँ समाधि में उपसर्ग (बाधा) सदृश हैं।[९]

पतंजलि ने परकायप्रवेश की सिद्धि का स्पष्ट वर्णन किया है।[१०] किंतु ये सभी सिद्धियाँ योग के चरम प्राप्तव्य के पूर्व प्राप्त हो जाती हैं। योग का चरम प्राप्तव्य है—पुरुष का गुणों के साथ आत्यंतिक वियोग। इसी को कैवल्य भी कहा जाता है। वास्तव में पातंजल योग का संपूर्ण तृतीय पाद, जिसे विभूतिपाद कहते हैं, सिद्धियों का ही विवेचन करता है। चतुर्थपाद के प्रारंभ में ही इन सिद्धियों का विभाजन जन्म, औषधि, मंत्र, तप और समाधि के वर्गों में किया गया है। पतंजलि की दृष्टि में इनसे सिद्धियों की प्राप्ति होती है।[११] इसी आधार पर यदि सिद्धों का विभाजन किया जाय तो क्रमशः सिद्धों को जन्मसिद्ध (जन्मांतर के संस्कारों से विभूतियों को प्राप्त करनेवाले सिद्ध), औषधि सिद्ध (रसायन सिद्ध ?), मंत्रसिद्ध, तपःसिद्ध और समाधिसिद्ध के वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

ऊपर संकेत किया गया है कि पतंजलि के योग का महायानियों के ऊपर पर्याप्त प्रभाव था। बौद्धों के योग और पातंजल-योग के साम्य-वैषम्य पर कुछ संकेत पहले ही किए जा चुके हैं। धर्ममेघ समाधि का विवेचन करते समय पतंजलि ने यह बताया है कि उसमें क्लेशकर्मनिवृत्ति होती है, सभी प्रकार के आवरणों का तिरोधान हो जाता है; ज्ञेय वस्तुएँ अल्प हो जाती हैं। तात्पर्य यह कि पूर्ण सिद्धि की अवस्था कैवल्यावस्था है। चामत्कारिक या अलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति इस कैवल्यावस्था के पूर्व ही हो जाती है। पतंजलि की

---

९. वही, ३. ३६–३७।

१०. वही, ३. ३८।

११. वही, ४. १–'जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः।'

दृष्टि में समाधि सिद्धि सर्वोत्तम सिद्धि है और समाधि सिद्ध सर्वोत्तम सिद्ध है जो कैवल्यावस्था की प्राप्ति कर लेता है। यही स्वरूपावस्थान है अथवा केवल पुरुष की अवस्था है जिसकी तुलना अद्वयावस्था से की जा सकती है।

सिद्धांतपरक और क्रियाव्याख्याप्रधान होने के कारण पातंजल सूत्रों में या तत्संबंधी ग्रंथों में सिद्धों अथवा नाथों के नाम नहीं मिलते। रसेश्वर सिद्धों में भी अनेक अनैतिहासिक हैं। नवनाथों की भी जो सूचियाँ मिलती हैं, वे प्रायः भिन्न और काल्पनिक हैं। तांत्रिकों में गौड़, काश्मीर और केरल के प्रदेशभेद से कादि, हादि और सादि नाम के तीन मत प्रचलित हैं। इनकी उपास्य देवियाँ क्रमशः काली, तारा और सुंदरी हैं। श्री सुमेरुमठ की 'कुल कल्याणि पद्धति' (हस्तलिखित पोथी, पृ० ८) में जो नवनाथों की सूची मिलती हैं उनमें सभी नवनाथों के नामांत में 'आनंदनाथ' उपाधि जुटी है। तीनों मतों के भिन्न भिन्न नवनाथ हैं। कादि मतानुसार प्रह्लाद, कुमार, क्रोध, ध्यान, सनक, वशिष्ठ सुख, बोध आदि नवनाथ हैं। हादि मतानुसार ऊर्द्धकेश, नीलकंठ, वशिष्ठ, मीन, हरिहर, व्योमकेश, वृषध्वज, कूर्म और महेश तथा सादिमतानुसार प्रकाश, आनंद, सत्य, स्वभाव, सुभग, विमर्श, ज्ञान, पूर्ण, महेश्वर को नवनाथों में गिना गया है। परशुराम कल्पसूत्र (पृ० ३७४) में दिव्यौघ, सिद्धौघ मानवौघ सिद्धों के नाम मिलते हैं। दिव्यौघ तो सर्वथा दैवी हैं। सिद्धौघ में सनक, सनंद, सनातन, सनत्कुमार, सनत्सुजात, ऋतु, दत्तात्रेय, रैवतक, वामदेव, व्यास, शुक की गणना की गई है। मानवौघ सिद्धों में नृसिंह, महेश, भास्कर, महेंद्र, माधव, विष्णु गिने गए हैं। स्पष्ट है, अभी तक जितनी सामग्री सिद्धों और नाथों के विषय में प्राप्त है उसके आधार पर, प्रायः ये सभी नवनाथ अनैतिहासिक हैं। राजगुरु योगिवंशकार ने एक सूची उद्धृत की है, जिसमें मत्स्येंद्र, गोरक्ष, जालंधर, कानपा, भर्तृहरि, रेवण, नागनाथ, चर्पट, गहिनी हैं। यह सूची अधिक प्रामाणिक मालूम होती है।

ऊपर जिन सिद्धों का नामांकन किया गया है उनमें अनेक पौराणिक, अर्द्ध ऐतिहासिक और ऐतिहासिक हैं। विद्वानों ने चौरासी सिद्धों की जो सूचियाँ प्रकाशित की हैं, उन सबके स्रोत भिन्न भिन्न हैं। इन सूचियों में ऐसे सिद्धों की संख्या बहुत कम है, जो सभी में समान रूप से आते हों। विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सिद्धों की सूची का विवरण यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

(१)—हठयोगप्रदीपिका—१–आदिनाथ, २–मत्स्येंद्रनाथ, ३–शावरानंद, ४–भैरव, ५–चौरंगी, ६–मीन, ७–गोरक्ष, ८–विरूपाक्ष, ९–विलेशय, १०–मंथान भैरव, ११–सिद्धिबुद्ध, १२–कंथडि, १३–कोरंटक, १४–सुरानंद, १५–सिद्धिपाद, १६–चर्पटि, १७–कानेरी, १८–पूज्यपाद, १९–नित्यनाथ, २०–निरंजन, २१–कपाली, २२–विंदुनाथ, २३–काकचंडीश्वर, २४–आलाम, २५–प्रभुदेव, २६–घोडाचोली, २७–टिंटिणि, २८–भानुकी, २९–नारदेव, ३०–खंड कापालिक।[१२]

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हठयोगप्रदीपिका से ही कुछ भिन्न और अतिरिक्त नाम भी दिए हैं—सारदानंद, सिद्धबोध, कन्हड़ीनाथ, मयनाथ,

---

१२. हठयोगप्रदीपिका, प्रथमोपदेश, श्लोक ५–९, पृ० ९–१०—

श्री आदिनाथमत्स्येन्द्रशाबरानंदभैरवाः।
चौरंगीमीनगोरक्षविरूपाक्षविलेशयाः॥ ५॥

मंथानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कंथडिः।
कोरंटकः सुरानंदः सिद्धिपादश्च चर्पटिः॥ ६॥

कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरंजनः।
कपाली विंदुनाथश्च काकचंडीश्वराह्वयः॥ ७॥

अक्षयनाथ, भल्लरीनाथ, नागबोध।[13] हठयोगप्रदीपिका बहुत परवर्ती ग्रंथ है और इसका समय भी पूर्णतया निश्चित नहीं है। इन सिद्धों को हठयोग-प्रदीपिका ने महासिद्ध कहा है। इन सिद्धों में मीननाथ को उस मीननाथ से अभिन्न कहा जा सकता है जिनकी रचना चर्यापद संख्या २१ की टीका में उद्धृत की गई है। शाबरानंद शबरिपाद हो सकते हैं जो बौ० गा० दो० में चर्यापद संख्या २८ और ५० के रचयिता हैं। कानेरी काराहपाद से अभिन्न हो सकते हैं जिन्हें द्विवेदी जी ने कन्हडीनाथ कहा है। बौ० गा० दो० में इनके भी १२ चर्यापद मिलते हैं। टिंटिणि बौ० गा० दो० के टेंटणपाद हो सकते हैं जिन्होंने ३३ वें चर्यापद की रचना की है।

(२)—वर्णरत्नाकर—१–मीलनाथ (मीननाथ?), २–गोरक्षणाथ, ३–चौरंगीनाथ, ४–चामारीणाथ, ५–तंतिपा, ६–हलिपा, ७–केदारिपा, ८–धोंगपा, ९–दारिपा, १०–विरूपा, ११–कपाली, १२–कमारी, १३–कान्हकन, १४–खल, १५–मेखल, १६–उन्मन, १७–कांतलि, १८–धोबी, १९–जालंधर, २०–डोंगी, २१–मन्वह (सरह?), २२–नागार्जुन, २३–दौली, २४–भिषथि, २५–अचिति, २६–चंपक, २७–मेदिनि, २८–चेंटस, २९–भूसुरी, ३०–वाकलि, ३१–कूजी, ३२–चर्प्पटि, ३३–भादे, ३४–चांदन, ३५–कामरि, ३६–करवत, ३७–धर्मपापतंग, ३८–भद्र, ३९–पातलिभद्र, ४०–पालिहिह, ४१–भांड, ४२–मीनो, ४३–निर्द्दय, ४४–सबर, ४५–सांति, ४६–भर्तृहरि, ४७–भीसन, ४८–भटी, ४९–गगणपा, ५०–गमार, ५१–मेंडरा, ५२–कुमारी, ५३–जीवन, ५४–अघोसाधर, ५५–गिरिवर, ५६–सीयारी, ५७–

अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडा चोली च टिंटिणिः।
भानुकी नारदेवश्च खंडः कापालिकस्तथा॥ ८॥
इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः।
खंडयित्वा कालदंडं ब्रह्माण्डे विचरंति ते॥ ९॥

१३. नाथसंप्रदाय, पृ० २४।

नागवालि, ५८–बिभरह, ५९–सारंग, ६०–विविकिधज, ६१–मंगरधज, ६२–अचित, ६३–विचित, ६४–नेचक, ६५–चाटल, ६६–नायन, ६७–भीलो, ६८–पाहिल, ६९–पासल, ७०–कमल, ७१–कंगारी, ७२–चिपिल, ७३–गोविंद, ७४–भीम, ७५–भैरव, ७६–भद्रभमरी, ७७–भूरुकुटि चउरासी सिद्ध।[१४]

वर्णरत्नाकर की इस सूची को डा० द्विवेदी ने नाथसिद्धों की सूची माना है। कुछ लोगों ने महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के प्रमाण पर इसे नाथसिद्धों की सूची माना है। बौ० गा० दो० के द्वितीय मुद्रण के 'पदकर्ता-देर परिचय' में दिए गए जिस कथन के आधार पर ऐसा मान लिया गया है कि वर्णरत्नाकर में उद्धृत सूची नाथसिद्धों की सूची है, उसका सीधा सादा अर्थ है—"नाथों को सिद्ध भी कहते हैं, वर्णरत्नाकर में उनकी एक तालिका दी गई है।"[१५] तालिका के आरंभ के चार सिद्धों को 'नाथ'

---

१४. वर्णरत्नाकर, सं० सुनीतिकुमार चटर्जी, सप्तम कल्लोल, पृ० ५७–५८, चौरासी सिद्ध वर्णना।

१५. बौ० गा० दो०, पदकर्तादेर परिचय, पृ० ३५। 'नाथ दिगके सिद्धओ बलित, वर्णरत्नाकरे ताहाँदेर एकटि तालिका देवा आछे।'

डा० चटर्जी ने भी शास्त्री महोदय के कथन का जो अर्थ लगाया है, वह उन्हीं के शब्दों में "इन हिज इंट्रोडक्शन टु दि कलेक्शंस आफ बुद्धिस्टिक वर्स इन ओल्ड बेंगाली ऐंड वेस्टर्न अपभ्रंश, दि 'हजार बछेरर पुराण बांगलाय बौद्ध गान ओ दोहा', पब्लिश्ड बाइ दि बंगीय साहित्य परिषद, पंडित शास्त्री रेफर्ड टु दि लिस्ट आफ दि सिद्धज आर महा-यान सेंट्स आफ लेटर बुद्धिस्टिक टाइम्स ऐज गिवेन इन दि व० र०।" इससे स्पष्ट है कि वर्णरत्नाकर की सूची पूर्णतया नाथसिद्धों की सूची तो नहीं ही है, चाहे अन्य कुछ हो। वर्णरत्नाकर, चटर्जी, इंट्रो०, पृ० ११।

उपाधि दी गई है और उसके बाद के ६ सिद्धों के नामांत में 'पा' या 'पाद' उपाधि जुड़ी है। इस सूची में कुछ 'भद्र' लोग भी हैं। अधिकांश सिद्धों के नाम के अंत में कुछ भी नहीं है। अतः आदरार्थक या सांप्रदायिक औपाधिक शब्दों के आधार पर भी कोई निर्णय नहीं किया जा सकता। तात्पर्य यह है कि इस सूची को केवल नाथसिद्धों की सूची कहने के लिये कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। वर्णरत्नाकर के मुद्रित संस्करण में भी सिद्धों की तालिका के आरंभ में तथा अंत में 'चौरासी सिद्ध वर्णना' तथा 'चौरासी सिद्धा' ही दिया हुआ है न कि 'चौरासी नाथ सिद्ध वर्णना' तथा 'चौरासी नाथसिद्धा।' शास्त्री महोदय ने जो तालिका दी है उसमें भी आरंभ में 'चौरासी सिद्ध वर्णना' दिया हुआ है। हठयोगप्रदीपिका की तुलना में यह सूची अधिक प्रामाणिक है। म० हरप्रसाद शास्त्री ने इस ग्रंथ के लेखक को हरिसिंह देव (१३००-१३२१ ई०) का समकालीन माना है।

प्रथम तालिका की दृष्टि से वर्णरत्नाकर की इस सूची में मत्स्येंद्रनाथ का नाम नहीं है और उसके स्थान पर मीननाथ (?) तथा मीना नाम के दो सिद्धों का नाम अलग अलग (सं० १, ४२) दिया हुआ है। उसमें आदिनाथ का भी नाम नहीं है। हठयोगप्रदीपिका के गोरक्ष, कपाली, कानेरी, टिंटिणि, चर्पटि, मीन और शाबरानंद वर्णरत्नाकर के क्रमशः गोरक्षणाथ, कपाली, कान्हकन, टेंटस, चर्पटि, मीनो और सबर से तुलित किए जा सकते हैं। बौ० गा० दो० के चर्यागीतिकारों में कंबलांबर, कान्हुपाद, चाटिलपाद, टेंटणपाद, दारिकपाद, भुसुकुपाद, विरुआपाद, शबरपाद, शांतिपाद और सरहपाद वर्णरत्नाकर के क्रमशः कामरि, कान्हकन, चटिल, टेंटस, दारिपा, भूसुरि, विरुपा, सबर, सांति और मवह (सरह ?) से अभिन्न मालूम पड़ते हैं।

(२) सस्क्य विहार की सूची—राहुल जी ने इस सूची को तिब्बत के सस्क्य विहार के पाँच गुरुओं (१०९१–१२७९ ई०) की ग्रंथावली "सस्क बर्क

बुम्' के सहारे तैयार किया है। तांत्रिक बौद्ध स्रोत से प्राप्त होने के कारण कुछ लोग इसे बौद्ध सिद्धों की सूची कहेंगे। सूची की विशेषता यह है कि इसमें प्रायः प्रत्येक सिद्ध के नाम के साथ उसकी जाति, देश तथा समकालीन राजा या सिद्ध का भी विवरण मिलता है।

१-लुइपा, २-लीलापा, ३-विरुपा, ४-डोंबिपा, ५-शबरपा, ६-सरहपा, ७-कंकालिपा (या कोंकलिपा, ककलिपा, कंकरिपा), ८-मीनपा, ९-गोरक्षपा, १०-चोरंगिपा, ११-वीणापा, १२-शांतिपा, (या रत्नाकर शांति), १३-तंतिपा, १४-चमरिपा, १५-खड्गपा, १६-नागार्जुन, १७-कराहपा (या चर्यपा), १८-कर्णरिपा (आर्यदेव), १९-थगनपा, २०-नारोपा, २०-शालिपा (शीलपा या शृगालीपाद), २२-तिलोपा, २३-छत्रपा, २४-भद्रपा, २५-दोखंधिपा (या द्विखंडिपा), २६-अजोगिनपा, २७-कालपा, २८-धोंभिपा, २९-कंकणपा, ३०-कमरिपा, (कंबलपा), ३१-डेंगिपा, ३२-भदेपा, ३३-तंधेपा (या तंतेपा), ३४-कुकुरिपा, ३५-कुचिपा (या कुसूलिपा), ३६-धर्मपा, ३७-महिपा (या महिलपा), ३८-अचिंतिपा, ३९-भलहपा (या भवपा), ४०-नलिनपा, ४१-भुसुकुपा, ४२-इंद्रभूति, ४३-मेकोपा, ४४-कुठालिपा, ४५-कर्मरिपा (कंपरिपा), ४६-जालंधरपा, ४७-राहुलपा, ४८-धर्वरिपा (या धर्मरिपा), ४९-धोकरिपा, ५०-मेदनीपा (या हालीपा ?), ५१-पंकजपा, ५२-(वज्र) घंटापा, ५३-जोगीपा, (या अजोगिपा), ५४-चेलुकपा, ५५-गुंडरिपा (गोरुर) पा, ५६-लुचिकपा, ५७-निर्गुणपा, ५८-जयानंत, ५९-चर्पटीपा, (या पचरिपा), ६०-चंपकपा, ६१-भिखनपा, ६२-भलिपा, ६३-कुमरिपा, ६४-चवरिपा (या जवरि=अजपालीपा), ६५-मणिभद्रा (योगिनी), ६६-मेखलपा (योगिनी), ६७-कनखलापा (योगिनी), ६८-कलकलपा, ६९-कंतालीपा (या कंथालिपा), ७०-घहुलिपा (या घहुरिपा), ७१-उधलिपा (या उधरिपा), ७२-कपालपा (या कमलपा), ७३-किलपा, ७४-सागरपा, ७५-सर्वभक्षपा, ७६-नागबोधिपा, ७७-दारिकपा, ७८-पुतुलिपा, ७९-पनहपा (या उपानहपा), ८०-

कोकालिपा, ८१–अनंगपा, ८२–लक्ष्मीकरा (योगिनी), ८३–समुद्पा, ८४–भलिपा (या व्यालिपा)।[१६]

यह तीसरी सूची है। उपरोक्त दोनों सूचियों में लुईपा का नाम नहीं आया है। किंतु उन दोनों सूचियों में मत्स्येंद्रनाथ और मीनपा का नाम अवश्य है। इस सूची में लुई और मीनपा, दोनों का नाम आता है। वर्ण-रत्नाकर के मवह (सरह ?) का नाम भी इस सूची में मिलता है। इस सूची में नाथ उपाधिधारी कोई भी सिद्ध नहीं है। द्वितीय सूची के मीननाथ, गोरक्षनाथ, चौरंगीनाथ, तंत्रिपा, टोंगपा, दारिपा, विरुपा, कपाली, कान्ह, कनखल, मेखल, कांतलि, धोबी, जालंधर, डेंगी, सरह, नागार्जुन, दौली, अचिति, चंपक, मेदिनि, कूजी, चर्पटि, भादे, कामरि, धर्मपा, मीना, सबर, सांति, गमार, कुमारी, सियारी, नागबेलि, भीलो, कमल और भद्रनाथ के ३७ सिद्धों का समधिक परिवर्तित नाम तीसरी सूची में मिलता है। इसी प्रकार बौ० गा० दो० के २२ सिद्धों में से आर्यदेवपाद, कंबलांबरपाद, कान्हुपाद, कुक्कुरीपाद, कौंकणपाद, गुंडरीपाद, जयनंदीपाद, डोंबीपाद, दारिकपाद, भादेपाद, भुसुकुपाद, महीधरपाद, लुइपाद, विरुवापाद, वीणापाद, शबरपाद, शांतिपाद और सरहपाद नाम के १८ सिद्ध इस सूची में मिलते हैं। जहाँ तक पदकर्ताओं का प्रश्न है, यह सबसे अधिक प्रामाणिक सूची स्वीकार की जा सकती है। पदकर्ताओं की दृष्टि से, उनकी जाति स्थान और समसामयिक राजा या सिद्ध का विवरण देने के कारण इस सूची का और अधिक महत्व है। हठयोगप्रदीपिका में हठयोगी सिद्धों की जो सूची दी गई है, उसमें से केवल शाबरानंद, मीन, गोरक्ष, विरूपाक्ष, कंथलि चौरंगी, चर्पटी, कानेरी और कपाली नाम के ६ सिद्धों का नाम समधिक रूपांतर के साथ मिलता है।

---

१६. पुरातत्व निबंधावली, पृ० १४६, १४८–१५४।

प्रथम और द्वितीय सूचियाँ भारतीय स्रोतों से प्राप्त हुई हैं और तीसरी सूची तिब्बती स्रोत से। द्वितीय और तृतीय सूचियों में अधिक समानता है। ६ हठयोगी सिद्धों का नाम भी आ जाने से यह स्पष्ट होता है कि तिब्बती बौद्धों ने हठयोगियों की भी गणना अपने सिद्धों में की थी। यह भी द्रष्टव्य है कि सरह और लुई जैसे प्रसिद्ध बौद्धसिद्धों को हठयोगप्रदीपिका में स्थान नहीं दिया गया है। अनुमान किया जा सकता है कि हठयोगप्रदीपिका में सर्वप्रसिद्ध नाथ संप्रदाय के हठयोगी सिद्धों की सूची दी गई है। गोरक्ष-नाथ आदि हठयोग के प्रतिष्ठाता थे, इसमें कोई संदेह नहीं। अतः 'प्रदीपिका' की सूची को नाथ संप्रदाय के हठयोगी सिद्धों की सूची के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। बौ० गा० दो० में जिन सिद्धों की रचनाएँ संगृहीत हैं उन्हें बौद्ध सिद्ध मानना चाहिए और उसका कारण है कि इसमें जितने चर्यापद संगृहीत हैं, सभी बौद्ध परंपरा की शब्दावली, साधना और दर्शन के अंतर्गत ही हैं। महामहोपाध्याय शास्त्री महोदय मत्स्येन्द्र को बौद्धसिद्धों के अंतर्गत नहीं मानते! उन्होंने इन रचनाओं को भी बौद्ध सहजिया संप्रदाय की रचना कहा है। इसलिये अनुमान यह किया जा सकता है कि तीसरी सूची जो श्री राहुल सांकृत्यायान ने तिब्बती बौद्ध मठ से प्राप्त की है, बौद्ध सूची है और उसका कारण यह है कि इसमें २२ चर्यापदकर्ताओं में से १९ का विवरण मिल जाता है। संभवतः जिन ३ चर्यापदकर्ताओं का नाम नहीं मिलता वे सूची के निर्मित होने के बाद के होंगे, जिनका नाम है—चाटिल्लपाद, टेंटणपाद, और ताड़कपाद। राहुलजी की ही सूची एकमात्र ऐसी सूची है जिसमें सिद्धों के ८४ नाम दिए गए हैं। किंतु इसमें भी कई नामों की आवृत्ति दिखाई पड़ती है, यथा—भलि (६२, ८४) तंते (१३,२३,) कमरि (३०, ४५, ६३), भदेपा (२४, ३२)। यद्यपि इस सूची में अधिकांश सिद्धों के भिन्न भिन्न गुरु, स्थान और समय का विवरण मिल जाता है फिर भी अनेक सिद्धों की जाति, देश, काल का पता नहीं लगता। इन सब के होते हुए भी इस सूची की उपादेयता स्वतःसिद्ध है।

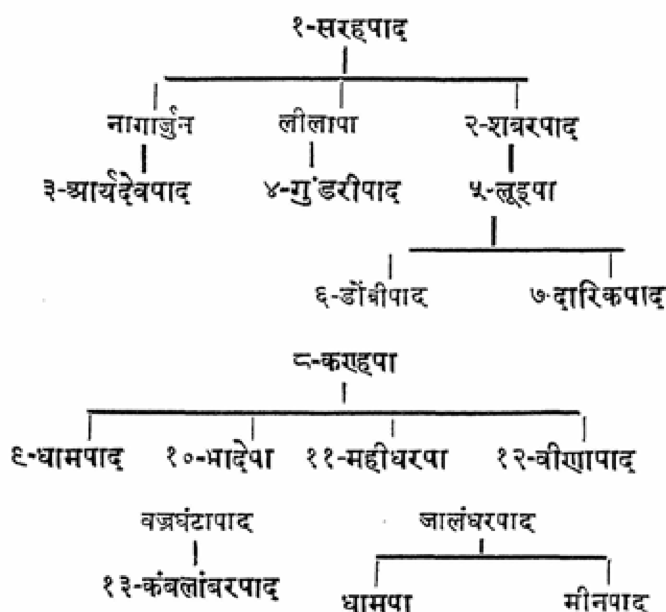
इसी सूची के आधार पर चर्यापदकर्ता सिद्धों का विवरण उद्धृत किया जा रहा है।

नाम	जाति	देश या स्थान	समकालीन राजा या सिद्ध
१–आर्यदेवपाद (सूची में इनका नाम कर्णरिपा है।)	×	नालंदा	सरह (राजा धर्मपाल-७६६-८०६ ई०) के शिष्य नागार्जुन के शिष्य।
२–कंबलांबरपाद (सूची में–कमरिपा या कंबलपा)	×	उड़ीसा	वज्रघंटापा (देवपाल-८०६-८४६ ई०) का शिष्य।
३–कान्हुपाद (सूची में–कण्हपा या चर्यपा)	कायस्थ	सोमपुरी	देवपाल (८०६-८४६ ई०)
४–कुक्कुरीपाद	ब्राह्मण	कपिलवस्तु	जालंधर के शिष्य तथा गोरक्ष के गुरु मत्स्येंद्र के पिता मीनपा के गुरु; मीनपा का समय–देवपाल ८०६-८४६ ई०।
५–कौंकणपाद (सूची में—कोकलिपा, कंकलिपा या कंकरिपा)	शूद्र	मगध (पूर्व में राशी नगर)	×
६–गुंडरीपाद (सूची में–गुंडरिपा या गोरुरपा)	चिड़ीमार	डिसुनगर	सरह (लगभग ७६६-८०६) के शिष्य लीलापा के शिष्य

७–जयनंदीपाद (सूची में–जयानंत)	ब्राह्मण	भगलपुर	×
८–डोंबीपाद (सूची में–डोंबिपा)	क्षत्रिय	(मगध)	लूइपा (लगभग ७६९-८०९ ई०) का शिष्य
९–दारिकपाद (सूची में–दारिकपा)	राजा	उड़ीसा (सालिपुत्र)	लूइपा का शिष्य
१०–धामपा (सूची में–धर्मपा)	ब्राह्मण	विक्रम (शिला) देश	कण्हपा और जालंधर के शिष्य
११–भादेपा (सूची में–भदेपा)	×	श्रावस्ती	कण्हपा (लगभग ८०९-८४९ ई०) का शिष्य
१२–भुसुकुपाद	राज-कुमार	नालंदा	राजा देवपाल (८०९-८४९ ई०)
१३–महीधरपा (सूची में–महीपा)	शूद्र	मगध	कण्हपा का शिष्य
१४–लुईपाद	कायस्थ	(मगध)	राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०)
१५–विरुवापाद	×	मगध (देवपाल का देश)	राजा देवपाल (८०९-८४९ ई०)
१६–वीणापाद	राजकुमार	गौड़ (विहार)	कण्हपा के शिष्य भद्रपा का शिष्य
१७–शबरपाद	क्षत्रिय	विक्रम-शिला	सरह का शिष्य, लूइपा का गुरु

१८–शांतिपाद (सूची में रत्नाकर शांति)	ब्राह्मण	मगध (विक्रमशिला)	महीपाल (९७४-१०२६ ई०)
१९–सरह (सूची में–सरहपा)	ब्राह्मण	(नालंदा)	राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०)

इसी आधार पर यदि चर्यापदकर्ताओं की शिष्यपरम्परा निश्चित की जाय तो वह निम्न प्रकार की होगी। १९ में से केवल १३ पदकर्ताओं की गुरुशिष्यपरंपरा मिलती है—



इस 'परंपरा' की रूपरेखा से यह स्पष्ट होता है कि सरहपाद, कण्हपा, वज्रघंटापाद और जालंधरपाद नाम के ४ सिद्ध ऐसे थे जिन्होंने किसी से दीक्षा

नहीं ली थी; यदि ली भी होगी तो, उसका विवरण इस समय उपलब्ध नहीं है।

इन सूचियों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि मीननाथ, गोरखनाथ कपाली, कान्ह, चर्पटि, और सबर नाम के सिद्ध तीनों सूचियों में प्राप्त होते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हठयोग के जो सिद्ध परवर्ती काल में बहुत अधिक मान्यता को प्राप्त कर चुके थे, उन्हें १३वीं-१४वीं शताब्दी तक बौद्ध मान्यता के साथ ही जन सामान्य की भी मान्यता मिल गई। जहाँ तक इन सूचियों के सिद्धों की ऐतिहासिकता का प्रश्न है, यह तो निश्चित है कि उपरोक्त सात ऐतिहासिक थे। दूसरी बात यह है कि दूसरी और तीसरी सूचियों में सिद्धों के जितने नाम दिए गए हैं, उनमें ८४ संख्या पूरी करने की वृत्ति भी दिखाई देती है। प्रायः सभी विद्वानों ने एक स्वर से यह स्वीकार किया है कि इनमें सभी सिद्ध ऐतिहासिक नहीं हैं। इनमें कई सिद्धों के नामों की आवृत्ति भी दिखाई देती है। विद्वानों के सत्प्रयत्न से दूसरी और तीसरी का समय निश्चित हो चुका है। अतः इन दोनों सूचियों में समान रूप से आए हुए सिद्धों को ऐतिहासिक और सांप्रदायिक दृष्टि से सर्वाधिक मान्य समझना चाहिए। अभिन्न सिद्ध निम्नलिखित हैं (प्रथम संख्या वर्णरत्नाकर की तथा दूसरी संख्या तिब्बती सूची की है)—

मीननाथ (१, ८), गोरक्षनाथ (२, ६), चौरंगीनाथ (३, १०), चामरीनाथ (४, १४), तंतिपा (५, १३), हालिपा (६, ५० ?), केदारिपा (७, ४४) टोंगपा (८, २८), दारिपा (९, ७७), विरूपा (१०, ३), कपाली (११, ७२), कमारी (१२, ४५), कान्ह (१३, १७), कनखल (१४, ६७), मेषल (१५, ६६), कांतलि (१७, ६९), घोबी (१८, २८), जालंधर (१९, ४६), डोंगीपा (२०, ३१), मवह (सरह ?) (२१, ६), नागार्जुन (२२, १६), अचिति (२५, ३८), चंपकपा (२६, ६०), मेदिनि (२७, ५०), कुची (३१, ३५), धर्मपा (३७, ३६), भद्रपा (३८, २४), सबर (४४, ५), सांति (४५, १२),

भीसन (४७, ६१), गगणपा (४६, १६), कुमारी (५२, ६३), सीयारी (५६, २१), नागवालि (५७, ७६), भीलो (६७, ६२), कमल (७०, ७२), भद्रभमरी (७६, २४), कामरि (३५, ३०)।

इनमें से वर्णरत्नाकर के कमारी, डोंगी, सियारी, नागबोलि, भीलो और कमल को तिब्बती सूची के क्रमशः कर्मरिपा, डेंगिपा, शालिपा, नागबोधिपा, भलिपा और कपाल(कमल)-पा से अभिन्न स्वीकार करने में अनुमान का अधिक आश्रय लेना पड़ा है। चामरि को चवरि(जवरि=अजपलि)-पा से और भद्र को मणिभद्रा से अभिन्न मानने की अपेक्षा इन दोनों को तिब्बती सूची के क्रमशः चमरिपा और भद्रपा से अभिन्न मानने में अधिक सुविधा है। ध्यान देने योग्य है कि वर्णरत्नाकर की जो सूची पं० हरप्रसाद शास्त्री के प्रमाण पर विद्वानों ने उद्धृत की है उसमें मेदिनीपा का नाम नहीं है। प्रकाशित 'वर्णरत्नाकर' में मेदिनी का नाम है। इसीलिये राहुल जी के प्रमाण पर उन विद्वानों ने हालिपा या हालीपा को मेदिनीपा का पर्याय माना है। ऐसी स्थिति में वर्णरत्नाकर की सूची में मेदिनीपा की आवृत्ति माननी पड़ेगी। वर्णरत्नाकर के मेदिनिपा को तिब्बती सूची के मेदिनीपा से अभिन्न मानने में अधिक सरलता है। राहुल जी ने मेदिनीपा के 'हालिपा' होने में 'संभावना' प्रकट की है। यों तिब्बती सूची में 'हालिपा' नाम के कोई सिद्ध नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि कई विद्वानों ने शास्त्रीजी के द्वारा उपस्थित की गई सूची को ही उद्धृत कर दिया है। प्रकाशित वर्णरत्नाकर में कुल सिद्ध संख्या ७७ है और उसका कारण यह है कि 'मेदिनीपा' नाम के एक और सिद्ध बढ़ गए हैं। तीसरी बात यह है कि शास्त्री महोदय की सूचो में 'कमलकंगारि' को एक सिद्ध और भद्रभमरी को दो सिद्ध माना गया है। मैंने प्रकाशित प्रति के आधार पर कमलकंगारि को दो सिद्ध और भद्रभमरी को एक सिद्ध माना है। इन सूचियों की तुलना करने पर मेरा निष्कर्ष यह है कि सर्वाधिक प्रामाणिक उपरोक्त सिद्धों की संख्या ३८ होने की संभावना अधिक है।

पं० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने इन सभी सूचियों के सिद्धों को जाँच कर उनकी अधिकतम संख्या १३७ मानी है। (द्रष्टव्य "नाथ संप्रदाय।")

उपर्युक्त ३८ सिद्धों में हठयोगप्रदीपिका के उपर्युक्त ६ सिद्धों में से चर्पटि को छोड़ कर सभी आ जाते हैं जिनमें मीननाथ और गोरक्षनाथ महत्वपूर्ण हैं। इन दो हठयोगी सिद्धों के नाम आने का कारण यह है कि इन दोनों का संबंध बौद्ध सिद्धों से अधिक था। हठयोगी सिद्धों का कम नाम आने का कारण यह है कि शरीर को कष्ट देकर साधना करना इन बौद्ध सिद्धों को अभीष्ट नहीं था। जहाँ तक बौ० गा० दो० के चर्यापदकर्ताओं का संबंध है, आर्यदेव, कुक्कुरीपाद, कौंकण, गुंडरी, चाटिल्ल, जयनंदी, डोंबीपा, ताड़क, भुसुकु और लुई को छोड़कर १२ अन्य सिद्धों का नाम इन ३८ सिद्धों में आ गया है। चर्यापदकर्ता सिद्धों की दृष्टि से तिब्बती सूची सर्वाधिक प्रामाणिक सूची मानी जा सकती है।

पहले ही कहा जा चुका है कि इन सिद्धों में कितने और कौन-कौन से सिद्ध नाथसिद्ध कहे जा सकते हैं और कौन-कौन से बौद्ध सिद्ध, इसका निर्णय करना अत्यधिक कठिन है। नाथसिद्धों की भी जो सूचियाँ प्राप्त होती हैं, वे भी भिन्न भिन्न हैं। ऊपर अनुमान किया गया है कि हठयोग नाथ संप्रदायानुयायियों की सर्वोत्तम और आवश्यक निधि है और मत्स्येंद्र तथा गोरक्ष सर्वप्रथम हठयोगी हैं। इसके अनुसार कम से कम नाथसिद्धों में मीननाथ, गोरक्षनाथ, कपाली, कान्ह चर्पटि और सबर को अवश्य मानना चाहिए। इन ६ हठयोगी सिद्धों में से भी सर्वदर्शनसंग्रहकार ने चर्पटि और कपाली को रसेश्वर सिद्धों में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। अनुमान है कि इन ८४ सिद्धों में चर्पटि, कापाली आदि रसेश्वर सिद्ध हैं। उपरोक्त ६ सिद्ध हठयोगी सिद्ध हैं। अन्य के विषय में अनुमान किया जा सकता है कि उनमें से अधिकांश बौद्ध सिद्ध होंगे। कुछ अन्य संप्रदायों के भी सिद्ध भी इस सूची में हो सकते हैं।

इन सिद्धों के संप्रदायों का विचार करते समय कई प्रश्न उठते हैं। मत्स्येंद्र और गोरक्ष बौद्ध तांत्रिक थे अथवा शैव तांत्रिक? यदि मत्स्येंद्र बौद्ध तांत्रिक थे तो उन्हें तिब्बती या बौद्ध सूची में मत्स्येंद्र नाम से न संबोधित कर लुई या लोहित आदि नाम से क्यों संबोधित किया गया है? मीननाथ, मत्स्येंद्रनाथ और लुईपाद भिन्न भिन्न व्यक्ति थे अथवा अभिन्न? इन सिद्धों में से किन्हें ऐतिहासिक दृष्टि से नाथसिद्ध कहा जा सकता है? इन नाथसिद्धों और बौद्ध सिद्धों में क्या संबंध था? इत्यादि प्रश्न अभी तक विद्वानों को विवाद के लिये बाध्य करते रहे हैं। कुछ विद्वानों ने कई कृष्णपादों की भी कल्पना की है। इन प्रश्नों पर इतना अधिक विचार विद्वानों ने किया है कि उसे विस्तृत रूप में उपस्थित कर विवेचन करना अवसर और स्थान के उपयुक्त न होगा।

इनमें से कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों को महामहोपाध्याय शास्त्री महोदय ने बौ० गा० दो० के 'मुखबंध' में उठाया था। उन्होंने लुई को बौद्ध सिद्ध और मत्स्येंद्रनाथ को नाथसिद्ध माना था। मत्स्येंद्रनाथ मछुआ थे। उनका दूसरा नाम मच्छघ्ननाथ था। नाथ सिद्ध होते हुए भी मत्स्येंद्र नेपाली बौद्धों के उपास्य देवता थे। किंतु गोरक्षनाथ प्रारंभ में रमणवज्र नाम के बौद्ध थे। बाद में वे ही गोरक्षनाथ नाम के सिद्ध बने। उन्होंने मीननाथ (जिनकी रचना चर्यापद २१ की टीका में टीकाकार ने उद्धृत की है) और मत्स्येंद्रनाथ के संबंध पर स्पष्टतया विचार नहीं किया है। संभवतः उनके विवेचन से ये दोनों दो भिन्न व्यक्ति मालूम पड़ते हैं। इस प्रकार शास्त्री महोदय की दृष्टि में मीन, मत्स्येंद्र और लुई भिन्न भिन्न व्यक्ति थे। लुई आदि बौद्ध सिद्ध थे तथा मत्स्येंद्र नाथसिद्ध थे।[१७]

डा० प्रबोधचंद्र बागची ने स्थानसाम्य, नामसाम्य, दर्शनसाम्य,

---

१७. बौ० गा० दो०, मुखबंध, पृ० १६।

साधनासाम्य और जातिसाम्य के आधार पर मीन, मत्स्येंद्र और लुई को एक ही व्यक्ति माना है। इन तीनों की अभिन्नता के प्रश्न पर शास्त्री महोदय से मतभेद होने पर भी डा० बागची, शास्त्री जी के समान ही लुईपाद को आदि सिद्ध मानते हैं। उन्होंने ऐसा संभवतः भारतीय और तिब्बती दोनों परंपराओं का जोड़ बैठाने के लिये किया है।[१८] श्री राहुल सांकृत्यायन ने ८४ सिद्धों की जो सूची उपस्थित की है, उसके अनुसार मत्स्येंद्र और कन्हपा गुरु भाई थे। उनके गुरु का नाम था जालंधरपा। उन्होंने मीनपा का गुरु कुकुरिपा को माना है। मीनपा मत्स्येंद्र के पिता थे। मीनपा को मछुआ जाति का बताया गया है। राहुलजी की सूची में मत्स्येंद्र स्वतंत्र सिद्ध के रूप में नहीं आए हैं। लुईपा कायस्थ थे और शिष्यपरंपरा की दृष्टि से सरह की तीसरी पीढ़ी में हुए थे। उनके इस विवरण से स्पष्ट है कि लुईपा, मत्स्येंद्र और मीनपा भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। अचिंतिपा को भी (जिन्हें बागची महोदय ने मत्स्येंद्र का ध्वन्यंतर मात्र समझ कर दोनों को इंट्रो० के पृ० २३ पर अभिन्न माना है) राहुलजीने भिन्न व्यक्ति माना है। उन्होंने लुई के स्थान पर सरह को आदि सिद्ध माना है। उनके अनुसार लुई और मत्स्येंद्र की गुरु-शिष्य परंपरा निम्नलिखित है—

१—सरह > शबरपा > लुइपा
२—जालंधरपाद > मत्स्येंद्रनाथ, धर्मपाद, तंतिपा, कण्हपा
३—मत्स्येंद्रनाथ > गोरक्षनाथ आदि
४—लुईपाद > दारिकपा, डेंगिपा, डोंबिपा

इस प्रकार की गुरु-शिष्य-परंपरा उपस्थित कर उन्होंने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि नाथ संप्रदाय बौद्ध सिद्धों से ही प्रवर्तित हुआ है। 'रत्नाकर जोपम कथा' से उद्धरण देकर उन्होंने मीनपा और मत्स्येंद्र की

---

१८. कौलज्ञाननिर्णय, सं० प्रबोधचंद्र बागची, इंट्रो० पृ० २२-२४, ५५-५६।

भिन्नता भी प्रकट कर दी है।[१९] शास्त्री महोदय का वह मत यहाँ ध्यान रखने योग्य है जिसमें उन्होंने मत्स्येंद्र, मीन और लुई को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हुए भी मत्स्येंद्र को बौद्ध नहीं माना है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत शास्त्रीजी के मत से थोड़ा भिन्न है। उनका कथन है कि शास्त्रीजी की यह उक्ति सर्वथा ग्राह्य नहीं है कि कैवर्त आदि जैसी सदैव जीवहिंसा में रत रहने वाली जातियाँ कभी भी बौद्ध धर्म में दीक्षित नहीं हो सकतीं। उसका कारण उन्होंने यह दिया है कि बौद्ध सिद्धों में कम से कम मीनपा ऐसे अवश्य हैं जिनकी जाति मछुआ है। फिर भी उन्होंने मत्स्येंद्रनाथ का बौद्ध न होना ही ठीक माना है। उन्होंने कौल-ज्ञाननिर्णय और तंत्रालोक की जयद्रथ लिखित टीका में उद्धृत दो श्लोकों के आधार पर मीननाथ और मत्स्येंद्र को अभिन्न व्यक्ति माना है। इस प्रकार द्विवेदीजी के मत से मीन और मत्स्येंद्र अभिन्न हैं किंतु लुई इन दोनों से भिन्न हैं।[२०]

८४ सिद्धों और नवनाथों के विषय में जितना विवरण मिलता है, उससे स्पष्ट होता है कि जिन लोगों ने नाथ साहित्य एवं संप्रदाय का विवेचन करना अपना लक्ष्य समझा है, उन लोगों ने नाथ संप्रदाय के प्रवर्तकों और प्रचारकों को बौद्ध मत से सर्वथा पृथक् माना है। इस तथ्य को प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है कि उस समय के जितने भी तांत्रिक प्रभावापन्न आस्तिक-नास्तिक संप्रदाय थे, उन सभी में साधनात्मक और वैयक्तिक आदान प्रदान होता था। ८४ सिद्धों और नवनाथों की विभिन्न सूचियों में तथा उनकी साधनाप्रणालियों में जो अनेक समताएँ विषमताएँ दिखाई देती हैं, उनके मूल में इसी वृत्ति को समझना चाहिए। धार्मिक और दार्शनिक संप्रदायों और मतवादों के प्रसार विस्तार के लिये इस प्रकार आदान प्रदान

१९. पुरातत्व निबंधावली, रा. सांकृत्यायन, पृ० १६४।

२०. नाथ संप्रदाय, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४१-४२, ४०-४१।

सभी करते थे। इसी प्रकार के विचारों को ध्यान में रखकर कुछ विद्वानों ने उपरोक्त विवादग्रस्त विषयों पर विचार किया है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि अधिकतर विद्वान् मीन और मत्स्येंद्र को अभिन्न स्वीकार करते हैं। किंतु बंगीय परंपरा के अनुसार मीननाथ पुत्र थे और मत्स्येंद्र उनके पिता थे। तिब्बती मत के अनुसार मीननाथ मत्स्येंद्र के पिता थे। कौलज्ञाननिर्णय के मध्यवर्ती अध्याय की पुष्पिका में मीननाथ का और पोथी के अंत की पुष्पिकाओं में मत्स्येंद्र का नाम दिया गया है। इस लिये मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ दोनों एक दूसरे के पिता या पुत्र नहीं हो सकते। अकुलवीरतंत्र की पुष्पिकाओं में मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ, दोनों का नाम आया है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उपरोक्त दोनों पोथियों के रचनाकाल तक मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ भिन्न भिन्न व्यक्ति नहीं थे। दूसरी कथाओं के अनुसार कुछ भिन्न निष्कर्ष निकलता है। नेपाल में मत्स्येंद्रनाथ बुगान के लोहित अवलोकितेश्वर के रूप में पूजित हैं। मीननाथ, जो उनके छोटे भाई थे, सानु मत्स्येंद्रनाथ के रूप में पूजित हैं। दोनों की वहाँ समान रूप से पूजा होती है। उसके अनुसार मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ दो भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। श्रीमती कल्याणी मल्लिक ने तंत्रालोक भाष्य (१, २४)—के

"भैरव्या भैरवात् प्राप्तं योगं व्याप्य ततः प्रिये।
तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीन नाथेन वरानने॥
कामरूपे महीपीठे मच्छेन्द्रेण महात्मना।"

के आधार पर उन दोनों को एक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। तंत्रालोक में कौल लोगों की बात कही गई है। मीन या मच्छंदविभु ने कामरूप महापीठ में कौलमार्ग की प्रतिष्ठा की थी। कौलज्ञाननिर्णय में कौलों का वर्णन है। पुष्पिका में 'योगिनीकौलम्महच्छ्रीमच्छघ्नपादावतारिते' इत्यादि कहा गया

है। इसलिये मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ को अभिन्न मानना चाहिए।[२१] सांप्रदायिक विचारधारा के लोग भी मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ को एक ही व्यक्ति स्वीकार करते हैं। 'राजगुरु योगिवंश'–कार ने डा० शहीदुल्ला के कथन के आधार पर स्वीकार किया है कि मीननाथ बंगाली थे तथा उनके नामांतर थे— मीनपद, मत्स्येंद्रनाथ, मच्छिद्रनाथ, मत्स्येंद्रपाद, मच्छेंद्रपाद।[२२]

डा० प्रबोधचंद्र बागची ने नामसाम्य, देशसाम्य, जातिसाम्य के आधार पर बड़ी दृढ़ता से मीन, मत्येंद्र और लुई को अभिन्न सिद्ध किया है। उन्होंने दर्शन और साधना प्रणाली की भी एकता और समानता को आधार मानकर उन्हें एक स्वीकार किया है। उन्होंने बताया है कि तांत्रिक बौद्ध सिद्धांतों में तथा मत्स्येंद्रनाथ विरचित कौलज्ञाननिर्णय, अकुलवीरतंत्र और कुलानंद-तंत्रम् के सिद्धांतों में पर्याप्त समानता है। सहज विवेचन, वाह्याचारविरोध, वाह्यसाधना-विरोध, कुल-विचार (यथा नटी, रजकी, डोंबी, चंडाली और ब्रह्मानी) रहस्यात्मक शब्दावली आदि की दृष्टि से मत्स्येंद्रनाथ का योगिनी कौलमत और तांत्रिक बौद्ध मत सर्वथा समान हैं।[२३] किंतु श्रीमती कल्याणी मल्लिक के अनुसार मत्स्येंद्र और लुई के धर्ममत और साधना प्रणाली पर विचार करने पर दोनों अभिन्न सिद्ध नहीं होते। उन दोनों के मत में कोई सामंजस्य नहीं है। मत्स्येंद्र और गोरक्ष का हठयोग, लुईपाद के चर्यापदों में वर्णित सहज-साधना के पूर्णतया विरुद्ध है। इस आधार पर लुई और मत्स्येंद्र को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानना चाहिये। इसी विचार को तनिक

२१. नाथसंप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधना–प्रणाली—श्रीमती कल्याणी मल्लिक, पृ० ५९-६०। तथा सिद्धसिद्धांतपद्धति एँड अदर वर्क्स आफ नाथ योगीज, सं० श्रीमती क० मल्लिक, इंट्रो० पृ० १५।

२२. शनिवारेर चिठि, आश्विन, १३५१ बंगाब्द, पृ० ३७९; राजगुरु योगिवंश, श्री सुरेशचंद्रनाथ मजुमदार, पृ० १६४।

२३. कौ० नि०, प्रबोधचंद्र बागची, इंट्रो० पृ० ५५-५९।

नम्र रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि नाथ गुरु पूर्णतया शैव थे। तांत्रिक विशेषताएँ दोनों में मिलती हैं। इसका कारण यह है कि उस समय तांत्रिक साधना-प्रणाली सामान्य साधना-प्रणाली थी। वह किसी विशेष संप्रदाय की संपत्ति नहीं थी। इस प्रकार की तांत्रिक समानता के कारण ही इन लोगों की साधना-प्रणाली और व्यक्तियों में अभिन्नता का भ्रम होता है। नाम, देश और कथा की दृष्टि से अभिन्नता तथा केवल साधना-पद्धति की दृष्टि से भिन्नता सिद्ध होने पर ही श्रीराजमोहननाथ ने दो मत्स्येंद्रनाथों की कल्पना की है। एक मत्स्येंद्रनाथ लुईपाद के नाम से विख्यात थे। उन्होंने कौलज्ञाननिर्णय और चर्यापदों की रचना कर सहज धर्म का प्रचार किया था। दूसरे मत्स्येंद्र मीननाथ थे, जो नाथ मत के गुरु थे और नाथयोगी साधना के अनुयायी थे। किंतु डा० बागची ने कौलज्ञान निर्णय आदि ग्रंथों में आये नामों के आधार पर मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ को अभिन्न सिद्ध किया है तथा उन ग्रंथों में विवेचित सहज तत्व की ओर भी संकेत किया है। संभवतः श्री राजमोहननाथ की दृष्टि में वह 'सहज तत्व' विवेचन नहीं था।[२४]

कथाओं, किंवदंतियों, नाम, देश के आधार पर लुईपाद और मत्स्येंद्र को भिन्न व्यक्ति सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। 'राजगुरु योगिवंश'-कार ने मत्स्येंद्र का प्राचीनतम समय ५२२ई० तथा अर्वाचीनतम १०वीं शताब्दी स्वीकार किया है। प्रमाण यह है कि नेपाल का दुर्भिक्ष, हडसन के अनुसार लगभग ५वीं ईस्वी शताब्दी में पड़ा था। चीनी पर्यटक हुएन्त्सांग ने भाव-विवेक और मत्स्येंद्र को समकालीन माना है। भावविवेक का समय ५५० ई० है। लेवी का कहना है कि मत्स्येंद्र ६५७ ई० में नेपाल के राजा नरेंद्रदेव के निमंत्रण पर वहाँ गये थे। अतिरिक्त विभिन्न प्रमाणों के आधार पर यह

---

२४. नाथसंप्रदायेर इति०, क० मल्लिक, पृ० ६०-६२, ६२-६८; सिद्धसिद्धांत-पद्धति, क० मल्लिक, इंट्रो० पृ० १७-१८, २६।

कहा गया है कि गोरक्ष के शिष्य पद्मसंभव थे। जिनका समय ७२१–७२२ ई० था। ज्ञानेश्वर की परंपरा के आधार पर अंतिम और अधिकतम समय १०वीं-११वीं शताब्दी तक माना जा सकता है।[२५]

इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि मत्स्येंद्रनाथ बौद्ध नहीं थे। यद्यपि मीननाथ, मत्स्येंद्रनाथ और लुईपाद अभिन्न थे। उपरोक्त विवेचनों के आधार पर मत्स्येंद्रनाथ के व्यक्तित्व के दो पक्ष हमारे सामने आते हैं—एक तो नाथयोगी का, जो शुद्ध हठयोगी और जो नैतिक आचार परायण ब्रह्मचर्यपूर्ण जीवन के उपदेशक का रूप था और दूसरा जो सहजसाधना का प्रचार करने वाला तथा कौलमतवादी का रूप था। ये दोनों रूप क्रमशः गोरक्षनाथ और लुईपाद में दिखाई पड़ते हैं। यदि मत्स्येंद्रनाथ और लुई को अभिन्न मान लिया जाय तो सबसे बड़ी बाधा उनके विचारों का परस्पर विरोध है। यह विरोध गोरक्ष और लुईपाद का तांत्रिक ब्रह्मचर्यपरायण शैव-साधना का और तांत्रिक बौद्ध साधना का विरोध है। मत्स्येंद्रनाथ के विषय में जितनी भी कथाएँ प्रचलित हैं, उन सबसे यह संकेत मिलता है कि मत्स्येंद्रनाथ ने गोरक्षनाथ को कामरूप देश या कदली राज्य की यात्रा के पूर्व ही अपना शिष्य बनाया था। मत्स्येंद्र की जो रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, वे प्रामाणिक रूप से (मेरा तात्पर्य कौलज्ञाननिर्णय और संबद्ध ग्रंथों से है) कामरूप देश की यात्रा के बाद की ही हैं। स्पष्ट कहा गया है कि मत्स्येंद्र ने वहाँ कौल योगिनी मत या 'सिद्ध कौल मत' का प्रचार किया था। नाम से प्रकट है कि इस मत में शाक्त तत्व अधिक होंगे। इस कौल मत का प्रचार करने के पूर्व मत्स्येंद्र के साधना संबंधी विचार और सिद्धांत क्या थे, इसका कोई प्रमाण नहीं है। परंतु मत्स्येंद्रोद्धार की कथा से कम से कम इतना तो स्पष्ट होता ही है कि गोरक्ष को जिस साधना-प्रणाली की शिक्षा दी गई थी, कौल मत्स्येंद्र की साधना प्रणाली से वह पूर्णतया भिन्न और विरुद्ध थी।

---

२५. राजगुरु योगिवंश—सुरेशचंद्रनाथ मजुमदार, पृ० १७१-१७२।

अतः यह अनुमान करने के लिये एक अवसर निकल आता है कि गोरक्षनाथ, मत्स्येंद्रनाथ के कौल होने के पूर्व की साधना-प्रणाली के प्रचारक थे।

पहले ही बताया जा चुका है कि ११वीं शताब्दी तक तांत्रिक शैव तथा बौद्ध साधना में पर्याप्त आदानप्रदान होने लगा था तथा अद्वयवज्र के संग्रह से स्पष्ट होता है कि बौद्धों ने शैवों या हिंदू तांत्रिकों की साधना प्रणाली और शब्दावली को ग्रहण कर लिया था। इसी प्रकार कौलज्ञान-निर्णय के विवेचन से भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि तांत्रिक शैवों ने भी तांत्रिक बौद्धों की शब्दावली और साधना प्रणाली को ग्रहण कर लिया था। गोरक्षनाथ की अपेक्षा मत्स्येंद्रनाथ की कौल साधनाप्रणाली बौद्धों के लिये अधिक सरल और ग्राह्य थी। उनकी कौलसाधना तांत्रिक बौद्ध साधना से बहुत अधिक मिलती जुलती थी। दूसरे, कुछ के मतानुसार मुसलमानों के आक्रमण तथा शांकर अद्वैतवादियों के उच्छेदकार्य से रक्षा पाने के लिये, साथ ही शैवों के उग्र विरोध को नम्र बनाने के लिये मत्स्येंद्र को बौद्ध के रूप में ग्रहण करने में उन्हें तनिक भी कठिनाई नहीं हुई। यही कारण है कि मत्स्येंद्र, बौद्धों और शैवों में समानरूप से मान्य हैं। इस अनुमान से, नाथमत तांत्रिक बौद्धमत का ही एक उपमत है, इसका भी एक समाधान निकल आता है।

इन विवेचनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बौद्ध गान ओ दोहा में लुईपाद की तथा मीनपाद की जो रचनाएँ उद्धृत हैं, वे कौल मत्स्येंद्रनाथ की रचनाएँ हैं। इस स्थिति में लुईपाद नाम को मीनपा, मत्स्येंद्रपा, मच्छध्नपा आदि का तिब्बती पर्याय समझना चाहिए। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ८४ सिद्धों की किसी भी अन्य सूची में लुईपाद का नाम नहीं आता। उस तिब्बती सूची में ८४ सिद्धों में मत्स्येंद्र नाम के कोई सिद्ध नहीं है। मत्स्येंद्र के नामों के रूपांतर, उसका तिब्बत तक प्रसार, अवलोकितेश्वर के अवतार के रूप में नेपाल में पूजित होना,

बौद्ध सिद्ध या आदि बौद्ध सिद्ध के रूप में मान्य होना, उनकी महानता और उनके प्रभाव विस्तार के लिये पर्याप्त प्रमाण है।

चर्यापदकर्ता सिद्धों में कुछ सिद्धों का समय ऐतिहासिक दृष्टि से निश्चित-प्राय है। मच्छंदविभु या मत्स्येंद्रनाथ का नाम 'तंत्रालोक' में आया है। [२६] इसके रचयिता अभिनव गुप्त का समय १० वीं शताब्दी का अंतिम भाग और ११ वीं शताब्दी का प्रारंभिक भाग माना गया है। इसके अनुसार मत्स्येंद्र-नाथ का भी समय १० वीं शताब्दी या उसके पूर्व मानना चाहिए। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने चर्यापदों और दोहों की भाषा के समय का विचार करते समय लुई या लुईपाद का समय निश्चित किया है। उनका कथन है कि लुईपाद दीपंकर श्रीज्ञान या अतिश के ज्येष्ठ समकालीन थे। इन दोनों व्यक्तियों ने 'अभिसमय विभंग' नामक ग्रंथ की रचना की थी। अतिश १०३८ ई० में ५८ वर्ष की अवस्था में तिब्बत गए थे। इस आधार पर तथा महामहोपाध्याय शास्त्री के प्रमाण पर उन्होंने लुई का समय १०वीं शताब्दी का द्वितीयार्द्ध माना है। डा० चटर्जी ने मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ को एक माना है और यह भी बतलाया है कि बंगाल के सहजिया संप्रदाय का संबंध उत्तरी भारत के पुनरुज्जीवित हिंदू धर्म के शैव नाथमत या योगी मत से अवश्य था। चटर्जी महोदय ने लुई और मत्स्येंद्र की अभिन्नता पर विचार नहीं किया है। उपर्युक्त आधारों पर तथा उपर्युक्त निष्कर्ष के अनुसार यदि मत्स्येंद्र और लुई को एक माना जाय तो मत्स्येंद्र का समय दसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जायगा।[२७]

---

२६. तंत्रालोक, अभिनवगुप्त, प्रथम भाग, पृ० २५–

रागारुणं ग्रंथिबिलावकीर्णं यो जालमातानवितानवृत्ति।
कलोम्भितं ब्राह्मपथे चकार स्तान्मे स मच्छन्दविभुः प्रसन्नः॥

२७. ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट आव बेंगाली लैंग्वेज, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, वा० १, पृ० ११९–१२०।

सिद्ध काण्ह या कृष्णपाद की ऐतिहासिकता तथा उनका काल निर्णय भी विवादास्पद है। लुईपाद चाहे आदि सिद्ध रहे हों या नहीं, किंतु यह निश्चित है कि उन्हें ८४ सिद्धों में बहुत अधिक संमानित स्थान प्राप्त था। दारिकपाद ने उन्हें अपने चर्यापद में बहुत आदर के साथ स्मरण किया है।[२८] कृष्णाचार्यपाद ने भी उन्हें स्मरण किया है।[२९] काण्ह ने जालंधरिपाद का उल्लेख किया है।[३०] संभवतः लुईपाद प्राचीनतम सिद्ध थे। काण्हपाद ने १२ चर्यापदों की रचना की है। डा० चटर्जी के अनुसार यह पर्याप्त संभव है कि एक नहीं, अनेक काण्ह हुए हों। १२ चर्यापदों में से अनेक में भिन्न भिन्न नामों का प्रयोग किया गया है, यथा—कान्हुपाद, कृष्णाचार्यपाद, कृष्णपाद, कृष्ण(-चार्य ?), कृष्णवज्रपाद। तिब्बती तेंजुर में अनेक कृष्णों का नाम तांत्रिक ग्रंथों के लेखकों के रूप में आया है। कैंब्रिज विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में एक 'हेवज्रपंजिका-योग-रत्नमाला' नाम की हस्तलिखित पोथी है जिसके लेखक

---

२८. बौ० गा० दो०, चर्यापद ३४, पृ० ५३—

"राआ राआ राआ रे अवर राअ मोहेरे बाधा।
लुइपाउपसाएँ दारिक द्वादश भुअणें लधा॥"

२९. बौ० गा० दो, चर्यापद ३६, पृ० ५५—

"सुण बाह तथता पहारी।
मोहभंडार लुइ सअला अहारी॥"

किंतु बौ० गा० दो० के द्वितीय मुद्रण में चर्यापदों का जो पाठ-संस्कार श्री ताराप्रसन्न भट्टाचार्य ने दिया है, उसके चर्यापद ३६ में 'लुइ' का लइ हो गया है। उद्धृत पंक्तियों की सं० टीका में भी 'लुइ' का नाम नहीं आया है।

३०. वही, पृ० ५५,—"शाखि करिब जालंधरि पाए पाखि न राहअ मोरि पांडिआचाए॥", च० ३६।

है 'पंडिताचार्य श्रीकह्ण(=कान्ह)-पाद'। यह पोथी मगध में राजा गोविंदपाल के ३६ वें वर्ष में लिखी गई थी। मगध के इस अंतिम राजा का समय लगभग ११९९ ई० है। यदि कारह अनेक थे तो उन कारहों में से इस तंत्रग्रंथ के रचयिता कारह को भी उनमें से एक होना चाहिये। इस कारह का समय १२वीं शताब्दी का अंतिम दशक माना जा सकता है।[३१] अनेक किंवदंतियाँ इस संबंध में एकमत हैं कि जालंधरि और मयनामती गोरखनाथ के शिष्य थे। कृष्णपाद ने चर्यापद ३६ में अपने को 'पडिआचाए' (पंडिताचार्य) कह कर जालंधरिपाद की साक्षी उपस्थित की है। उसी चर्यापद में उन्होंने अपने को 'कान्हिल लाँगा' (नग्न काण्ह) भी कहा है। इस चर्यापद की टीका में इन्हें 'कृष्णाचार्य' कहा गया है। इन्हीं आधारों पर डा० चटर्जी ने अनुमान किया है कि चर्यापद ३६ के कृष्णाचार्यपाद, कथा के अनुसार, नाथयोगी जालंधरिपाद के शिष्य थे। 'हेवज्रपंजिका-योग-रत्नमाला' नामक तांत्रिक ग्रंथ के लेखक को 'पंडिताचार्य' कहा गया है। अतः ये पंडिताचार्य कृष्णाचार्यपाद नाथयोगी जालंधरि की साक्षी देनेवाले चर्यापद ३६ के रचयिता कृष्णाचार्यपाद से अभिन्न हैं जिनका समय लगभग ११९९ ई० मानना चाहिए।

कृष्णपाद के समय पर सभी विद्वान् एकमत नहीं हैं। डा० विनयतोष भट्टाचार्य इनका समय ७१७ ई० और राहुल जी इन्हें देवपाल (८०९-४९ ई०) का समकालीन मानते हैं। राहुल जी ने तिब्बती सूची के आधार पर मत्स्येंद्र और कराहपा, दोनों का गुरु जालंधरिपा को माना है। कृष्णपाद के समय के समान ही अन्य सिद्धों के समय पर विवाद है। उन सभी विवादों और मतभेदों को सप्रमाण उपस्थित करने के लिये पर्याप्त अवसर और स्थान चाहिये। अनेक कथाएँ, किंवदंतियाँ, विभिन्न सूचियाँ, शिष्य-परंपराएँ परस्पर इतनी विरुद्ध हैं कि उनके आधार पर किसी भी सिद्ध का सर्वथा शुद्ध,

---

३१. ओ० डे० बें० लैं०, वा० १, पृ० ११९–१२० ।

प्रामाणिक और विरोधशून्य काल निर्णीत करना कठिन और जटिल है। डा० भट्टाचार्य ने दो शिष्यपरंपराओं के आधार पर कालनिर्णय करने का प्रयत्न किया है जिसके विपक्ष में अनेक प्रमाण उपस्थित किए जा सकते हैं। इन सूचियों के आधार पर अधिक से अधिक इन सिद्धों के काल-विस्तार का ही निर्णय किया जा सकता है। इनमें से अनेक सिद्ध तो समकालीन हैं।

जितने सिद्धों का विवेचन यहाँ उपस्थित किया गया है उनके विषय में सबसे अधिक प्रामाणिक तथ्य यह है कि गोरक्षनाथ मत्स्येंद्रनाथ के शिष्य थे। सभी सूचियाँ, स्रोत, किंवदंतियाँ, कथायें इस संबंध में पूर्णतया स्पष्ट, निस्संदिग्ध एवं एकमत हैं। यदि मत्स्येंद्र का समय जैसा ऊपर निश्चित किया गया है, दसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध मान लिया जाय तो गोरक्षनाथ, का समय भी दसवीं शताब्दी के अंत तथा ११वीं शताब्दी के प्रारंभ में मानना पड़ेगा। कहा जा सकता है कि इन लोगों की शिष्यपरंपरा दो-तीन शताब्दियों तक चलती रही। डा० भट्टाचार्य ने प्रथम सिद्ध सरह को मानकर उनका समय ६३३ ई० निश्चित किया है। अंतिम सिद्ध उन्हों ने संभवतः नारोपा को माना है। उनके अनुसार दीपंकर का समय ९८०–१०५३ ई० है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में सिद्धों का विस्तार-काल ६३३–१०५३ ई० है। इस संपूर्णकाल को उन्होंने दो भागों में बाँट दिया है। प्रथम विकास-काल में सरह (६३३ ई०), नागार्जुन (६४५ ई०), शबरिपा या शबरपा (६५७ ई०), लुइपा (६६९ ई०), पद्मवज्र (६९३ ई०), जालंधरिपा (७०५ ई०), अनंगवज्र (७०५ ई०), इंद्रभूति (७१७ ई०), कृष्णाचार्य (७१७ ई०), लक्ष्मींकरा (७२९ ई०), लीलावज्र (७४१ ई०), दारिकपा (७५३ ई०), सहजयोगिनी चिंता (७६५ ई०) और डोंबी हेरुक (७७७ ई०) की गणना की गई है। द्वितीय काल में दीपंकर (९८०-१०५३ ई०), अद्वयवज्र या अवधूतीपा, ललितवज्र, तैलोपा (चिटगाँव के), रत्नाकरमति, प्रज्ञाकरमति और नारोपा को स्थान दिया गया है। भट्टाचार्य महोदय के

कथनानुसार द्वितीय विकास-काल के सिद्ध अधिकतर पालवंश के महीपाल प्रथम (९७८-१०३० ई०) के समकालीन थे।[32] डा० भट्टाचार्य के इस विवरण के आधार पर दारिकपाद लुईपाद के शिष्य नहीं हो सकते। चर्यापद ३४ में इनका जो संदर्भ है, उससे इसका पूर्ण विरोध दिखाई देता है।

राहुलजी ने सिद्धयुग को ८०० ई० से ११७५ ई० या १२०० ई० तक माना है। उनके अनुसार सरह आदि सिद्ध हैं। सरह राजा धर्मपाल के समकालीन थे जिनका समय ७६९-८०९ ई० है। नारोपा का मृत्युकाल उन्होंने १०३९ ई० माना है।[33] जितने सिद्धों का परिचय उन्होंने दिया है, उनमें सर्वाधिक परवर्ती नारोपा ही हैं। फिर भी उन्होंने इन सिद्धों का युग १२०० ई० तक माना है और यह भी कहा है कि १२०० ई० के बाद भी सिद्ध होते रहे हैं, इसलिये सिद्धकाल उसके बाद भी रहा है।[34] उन्होंने मैत्रीपा या अवधूतीपा को दीपंकर श्रीज्ञान का विद्यागुरु माना है। अवधूतीपा या अद्वयवज्र या मैत्रीपा ११वीं शताब्दी के आरंभ में वर्तमान थे। इस प्रकार अंतिम सिद्ध ११वीं शताब्दी के अंत के पूर्व होगा।[35]

डा० भट्टाचार्य और राहुलजी ने जो कालनिर्णय किया है, उसके पक्ष-विपक्ष में बहुत से प्रमाण उपस्थित किए जा सकते हैं जिनके लिये यहाँ पर्याप्त अवसर नहीं। किंतु यह तो निश्चित है कि सिद्धों की ८४ संख्या १२वीं शताब्दी तक अवश्य पूरी हो गई थी। अतः प्रामाणिक सामग्री के अभाव में इन ८४ सिद्धों का अधिक से अधिक विस्तारकाल लगभग ६३३ ई०–१२०० ई० माना जा सकता है।

———

३२. एन ई० बु० ए०, भट्टाचार्य, पृ० ६६-८२।

३३. पुरातत्व निबंधावली, रा० सांकृत्यायन, पृ० १४८, १९५।

३४. वही, पृ० १६१।

३५. वही, पृ० १५६।

उपसंहार

तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य नामकरण से स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध साधना और साहित्य में तांत्रिक तत्व हैं। दूसरा भाव यह भासित होता है कि वे तांत्रिक तत्व बौद्ध हैं अथवा उनका ग्रहण बौद्ध विचारणा की मौलिक विशेषता के अनुकूल ही हुआ है। बुद्ध के समय से लेकर लगभग १३ वीं शताब्दी तक के बौद्ध धर्म के विकास में कितने ही परिवर्तन हुए, कितने ही बाहरी तत्वों ने प्रवेश पाया, परिस्थितियाँ बदलीं, देश-परिवर्तन हुआ, फिर भी बौद्ध मत की अपनी विशेषताएँ मुखर रहीं।

भारतीय साधना और विश्वास की परंपरा में बौद्ध मत का आविर्भाव हुआ है। भारतीय दर्शन के विचारकों ने बौद्ध मत को एक स्वर से नास्तिक माना है। आस्तिक और नास्तिक की परिभाषाएँ भी भिन्न भिन्न हैं। बुद्ध-काल में ईश्वर में अविश्वास करनेवाला तथा वेद का निंदक नास्तिक नहीं कहलाता था। व्याकरणकार पाणिनि ने परलोक में विश्वास न करने वाले को नास्तिक कहा है। इस परिभाषा के अनुसार भारतीय दर्शनों में घोषित जैन तथा बौद्ध जैसे नास्तिक दर्शन नास्तिक सिद्ध नहीं होते। बुद्ध ने स्वयं नास्तिक वादों की निंदा की है। बुद्ध ने आचार को साधनात्मक जीवन के लिये अत्यधिक आवश्यक माना था। मानव की सामाजिक व्यवस्था के लिये शुभ, अशुभ तथा व्यामिश्र कर्मों की व्यवस्था आवश्यक है। इसीलिये बुद्ध ने यह स्वीकार किया कि शुभ, अशुभ तथा व्यामिश्र कर्मों का फल तदनुसार ही होता है। इस प्रकार की व्यवस्था सदाचार तथा नैतिकता की भित्ति है। तात्पर्य यह कि बुद्ध वैदिक कर्मवाद को मानते थे। बुद्ध की शिक्षा वैदिक परिवार में हुई थी। यद्यपि बुद्ध ने ब्रह्म या ईश्वर और आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं किया था तब भी पुनर्जन्म, परलोक आदि के वे

अविश्वासी नहीं थे। किंबहुना उन्होंने ब्राह्मणों के लोकवाद, वेदवाद को भी स्वीकार कर लिया था। वे देव, यक्ष, किन्नर, प्रेत, स्वर्ग, नरक आदि की भी सत्ता में विश्वास करते थे। उनके इन विश्वासों तथा इनसे संपृक्त उपदेशों का परिणाम यह हुआ कि उस समय की चारों ओर व्याप्त नास्तिकता तथा इसका प्रचार करनेवाले तापसों के आवेश में कमी आ गई। बुद्ध ने जिस प्रकार के संघ का निर्माण किया था वह तत्कालीन तापसों के संघ के समान ही था किंतु इसके आदर्शों और विचारों में अंतर था।[1] गौतम बुद्ध ने जिस धर्मसाधना का सूत्रपात किया था वह मौलिक और सर्वथा नवीन थी अथवा उसमें कुछ विदेशी तत्व भी थे, इसका उत्तर देना सरल नहीं है। तत्कालीन समाज को ध्यान में रखकर उसके समुद्धार के लिये ज्ञान और आचार का समन्वय ही उनकी विशेषता थी। आडंबर का विरोध तथा अनावश्यक दार्शनिक तर्कजाल का तिरस्कार उनके उपदेशों में महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। उन्होंने सरल, शांतिपूर्ण और अकलुष जीवन व्यतीत करने के लिये, भवचक्र से मुक्ति पाने के लिये, चार आर्यसत्यों का उद्घाटन किया। उन्होंने जिस ज्ञानयोग तथा ध्यानयोग का विकास किया उस पर औपनिषदिक प्रभाव भी था।

बौद्ध योग का विचार करते हुए पुसिन जैसे विद्वानों का कथन है कि बौद्ध धर्म, योग की ही एक शाखा है। व्याख्या में कहा गया है कि योग में ब्रह्मचर्य, यम-नियम, ध्यान-धारणा-समाधि, नासाग्र भ्रूमध्यादि का दर्शन, का-यस्थैर्य, मंत्रजप, प्राणायाम, तालु में जिह्वा का धारण, महाभूतों का ध्यान, भूतजय, अणिमादि अष्ट ऐश्वर्यों की प्राप्ति, लोकोत्तर ज्ञान आदि की गणना की जाती है। योग की इस प्रक्रिया का धार्मिक जीवन और शील से कोई सीधा संबंध नहीं है किंतु साधना के क्षेत्र में इनका उनसे योग हो सकता है। बुद्धकाल में तथा कुछ उनके बाद भी भारत में श्रमणों के अनेक संघ

---

१. बौद्ध धर्म-दर्शन, आचार्य नरेंद्रदेव, पृ० २-३, ४-७।

थे। बुद्ध का भी भिक्षु संघ था जिसके अन्य संघों के समान ही शील, समाधि के नियम थे। मौलिकता यह थी कि बुद्ध के उपदेशों के प्रभाव से योगचर्या तथा अन्य सिद्धांतों ने एक विशिष्ट रूप धारण कर लिया।[२] अन्य भारतीय दर्शनों के समान ही 'बौद्ध धर्म में भी तत्त्वज्ञान के लिये योग को उपकारक माना गया है। प्राचीन बौद्धों का योग उपर्युक्त अर्थ में आस्तिक होने के कारण तत्कालीन प्रचलित अन्य दर्शनों के योग से भिन्न था। बौद्ध ईश्वर और आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। अतः उनके योग का उद्देश्य दुःख से आत्यंतिक निवृत्ति और निर्वाणलाभ था। बुद्ध ने प्राचीनकाल से प्रचलित योगसाधना को ग्रहण किया था। सेनार्ट ने, पुसिन के समान ही यह स्वीकार किया है कि यम–नियम, ध्यान–धारणा, समाधि और ऋद्धि सिद्धि से समन्वित प्राचीन भारतीय योग बौद्ध धर्म का उद्गम स्थान था। किंतु यह भी निश्चित है कि बुद्ध के समय तक इस योग का रूप निश्चित नहीं हुआ था। पुसिन के अनुसार योग के तीन या चार मुख्य तत्व हैं—पुनर्जन्म, स्वर्ग नरक की कल्पना, पुण्य, अपुण्य, मोक्ष, परम और आत्यंतिक क्षेम तथा मार्ग। "दूसरों के समान बौद्धों ने भी इन विचारों को योग से लिया और इनके मूल अर्थ को सुरक्षित रखते हुए उनको एक नवीन आकार प्रदान किया।" उदाहरण के लिये निर्वाण की कल्पना ली जा सकती है। कुछ विद्वानों ने योग को बौद्ध धर्म की कोई विशेषता नहीं माना है। इसे उस समय के प्रायः सभी दर्शनों ने स्वीकार कर लिया था। बुद्ध ने योग के उन अभ्यासों का, जो निर्वाणप्रवण नहीं थे तथा इंद्रजालों का प्रतिषेध किया है। पहले बौद्ध योग के विषय में जो कुछ लिखा गया है, उसमें उपर्युक्त में से कुछ की ओर उदाहरणतः संकेत किया गया है। आचार्य नरेंद्रदेव ने पातंजल योग और प्राचीन बौद्ध योग की तुलना विस्तार से की है।[३]

---

२. वही, पृ० २८२।

३. वही, पृ० २१२, २७१, २८४, २८६, २११; ४१, ४२, ५४, ८१, १४१।

इस प्रकार औपनिषदिक योग, स्वतंत्र योगधारा, परवर्ती पातंजल योग, ने बौद्ध योग को प्रभावित किया। बुद्धकालीन प्रचलित योगधारा ही प्रज्ञा, शून्यता आदि सिद्धांतों से समन्वित होकर बाद में विकसित हुई। पातंजल योग और उसके बाद तांत्रिक योग से प्रभावित होकर बुद्ध का समाधियोग या ध्यानयोग सर्वथा अपनी परंपरा के अनुकूल ही रूप धारण करता हुआ तांत्रिक हो गया। महायान के अभ्युदय के साथ ही बौद्ध धर्म पर हिंदू मत का प्रभाव प्रकट हो गया। उसमें अनेक देवताओं तथा बाद में उनकी शक्तियों की कल्पना की गई और उसके भी अनंतर उन शक्तियों की उपासना की लंबी प्रक्रियाओं का विधान महायान सूत्रों तथा बाद में तांत्रिक बौद्ध ग्रंथों में किया गया। शक्ति उपासना के ग्रंथ यद्यपि महायान के बाद के हैं तथापि उनकी उपासना के संकेत सूत्रग्रंथों में मिलते हैं। परवर्ती ग्रंथों में सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाओं का विवेचन मिलता है। प्राचीन बौद्ध धर्म में सांसारिक वस्तुओं के प्रति शांतिमय विराग को आवश्यक माना गया था। बाद में दार्शनिक विचारणा के विकास के फलस्वरूप संसार के प्रति राग को आवश्यक माना गया। महायान सूत्रों तथा तांत्रिक ग्रंथों में कम से कम समय में सिद्धियों, सुखों, लोकों एवं निर्वाण की प्राप्ति के लिये अनेक उपायों का विधान किया गया। तांत्रिक साधना और दर्शन के कारण आध्यात्मिक विचारणा की पद्धति और दृष्टि में अंतर आ गया। परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण मठों और विहारों में शक्ति-संपत्ति का संचय होने लगा। राजनीति में हस्तक्षेप और राज्याश्रय प्राप्त करने के लिये प्रयत्न होने लगे। हिंदू समाज के संपर्क में आने के कारण उसके विश्वासों, साहित्य और जीवन-पद्धतियों का प्रभाव पड़ा। बौद्धेतर साहित्य, साधना और दर्शन के प्रभाव से पुराण साहित्य, स्तोत्र साहित्य, तांत्रिक साहित्य की कोटियों में अलग अलग रचनाएँ हुईं। ये सारी विशेषताएँ मूल रूप में महायान सूत्रों में मिलती हैं।

हीनयान, जो अपने को बुद्ध के मूल उपदेशों का अनुयायी मानता है, भी समाधि-साधना को स्वीकार करता है। यह साधना समयसाध्य थी। अतः

महायान ने भक्ति को प्रमुखता दी। महावस्तु में भक्ति को महत्ता दी गई है। भक्ति के साथ पूजा-उपासना ने भी स्थान पाया। उसी से निर्वाण-प्राप्ति को संभव माना गया। ललितविस्तर में अवतारवाद, लीला, ऋद्धि-सिद्धि, भविष्य-कथन की शैली आदि की पौराणिक विशेषताएँ स्पष्ट हैं। अश्वघोष के साहित्य में बुद्धभक्ति, श्रद्धा आदि की धारा मुखर है। सद्धर्मपुंडरीक नामक महायान सूत्र में बुद्धोपासना के साथ बोधिसत्त्वोपासना का भी प्राबल्य दिखाई देता है। कारंडव्यूह में तंत्र-मंत्र का भी दर्शन होता है। "ॐ मणिपद्मे हूँ" मंत्र का, जो तिब्बत में आज भी प्रतिष्ठित है, सर्वप्रथम दर्शन इसी ग्रंथ में होता है। इसमें आदिबुद्ध, स्रष्टा बुद्ध, मंत्र, तंत्र आदि से समन्वित बौद्ध धर्म तथा भक्तिमार्ग का विवेचन मिलता है। इसमें अवलोकितेश्वर की अर्धांगिनी मणिपद्मा का भी परिचय मिलता है। जैसे महायान सूत्रों में ललितविस्तर, सद्धर्मपुंडरीक आदि ग्रंथ बुद्ध, बोधिसत्त्व और बुद्धयान या करुणापक्ष की महत्ता बतलाते हैं, उसी प्रकार पारमिता ग्रंथ शून्यता या प्रज्ञा सिद्धांत की व्याख्या करते हैं। बाद के बोधिचर्यावतार जैसे ग्रंथों में इनका समन्वय मिलता है। लंकावतारसूत्र भी परवर्ती तांत्रिक साधना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, कारण कि यह योगाचार-विज्ञानवाद का महनीय ग्रंथ है। "इसके अष्टम परिवर्त में मांसाशन का निषेध है। हीनयान के विनय पिटक में त्रिकोटि-परिशुद्ध मांस का विधान है किंतु महायान में मांसाशन वर्जित है। उसका प्रथम दर्शन हमें लंकावतार सूत्र में मिलता है। नवम परिवर्त में अनेक धारणियों का वर्णन है।"[४] कुछ ग्रंथ ऐसे भी हैं जो औषधि के रूप में मांस को निषिद्ध नहीं मानते।

महायान साहित्य में और पुराणों में बड़ा सादृश्य है। महायान साहित्य में पौराणिक साहित्य की तरह ही अनेक स्तोत्र मिलते हैं। इसमें धारणियों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। "धारणी रक्षा का काम करती है। जो कार्य

४. वही, पृ० १३०, १३१-१३६, १३९, १४९, १५०, १५६-१५७, १६२।

वैदिक मंत्र करते थे, विशेषकर अथर्ववेद के; वही कार्य बौद्ध धर्म में धारणी करती है। महायान धर्मानुयायी सूत्रों को मंत्रपदों में परिवर्तित कर देते थे। अल्पाक्षरा प्रज्ञापारमितासूत्र धारणी का काम करती है। धारणियों में प्रायः बुद्ध, बोधिसत्त्व और ताराओं की प्रार्थना होती हैं। धारणी के अंत में कुछ ऐसे अक्षर होते हैं, जिनका कोई अर्थ नहीं होता। धारणी के साथ कुछ अनुष्ठान भी होते हैं। अनावृष्टि, रोग आदि के समय धारणी का प्रयोग होता है।'' इसी प्रकार के कुछ महायान सूत्र ऐसे हैं जिनमें पृथक् रूप से तंत्र-भाग पाया जाता है। प्रारंभिक तंत्र महायान सूत्रों से बहुत मिलते जुलते हैं। मंजुश्रीमूलकल्प वैपुल्य सूत्र है। इसमें मंत्र, मंडल, मुद्रादि का उपदेश है। इनसे अणिमा, लघिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति के अतिरिक्त सर्वज्ञता तथा निर्वाण की सिद्धि के उपाय भी बताए गए हैं। स्त्रियों को बुद्धकाल में ही 'उपसंपदा' दी जाने लगी थी। प्रारंभिक काल में ही भिक्षु बनने के लिये 'उपसंपदा' की क्रिया आवश्यक समझी जाती थी। संभवतः दीक्षा का यही पूर्व रूप था। साधना और उपासना के क्षेत्र में महायान में बोधिचर्यावतार बहुत महत्व रखता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि इसके ऊपर तान्त्रिक प्रभाव अत्यधिक स्पष्ट है। शांतिदेव को लोगों ने माध्यमिक माना है।[५]

उपासना के क्षेत्र में ब्राह्मण मंदिरों के स्थान पर स्तूपों का निर्माण बहुत पहले से ही होने लगा था। चैत्यपूजा, स्तूपपूजा, बुद्धपूजा, नामस्मरण, बुद्धभक्ति, बोधिसत्त्वभक्ति आदि का प्राधान्य महायान में ही हो गया था। आगे के विकास में गुह्य समाजों और साधनात्मक मंडलों का आगमन यह सूचित करता है कि बौद्ध साधना एकांत रहस्यपरक हो गई थी। मठों और विहारों में धन-संचय होने लगा था तथा उसके सांप्रदायिक तथा धार्मिक उपयोग के लिये अनेक विधि-विधानों का निर्माण किया गया। वज्रयान तक आते आते बाह्य क्रियाओं की प्रधानता अत्यधिक मुखर हो गई। बहुकल्पित

५. वही, पृ० १७६-१७८; ५, ६; १७४।

बौद्ध देवताओं में प्रायः नाम के अतिरिक्त रूप, क्रिया, धर्म और प्रकृति आदि की दृष्टि से, हिंदू देवताओं से कोई अंतर नहीं रह गया। इन सबको महायान ने अपनी बौद्ध प्रकृति के अनुकूल ही ग्रहण किया। बहुदेवतावादी, अंशतः तांत्रिक, धारणी-मंत्र समन्वित महायान का परवर्ती चरण मंत्रयान के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

बताया गया है कि अद्वयवज्रसंग्रह के अनुसार महायान का विकास दो साधनापद्धतियों में हुआ—पारमितानय और मंत्रनय। ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों नय महायान में ही किसी न किसी रूप में प्रचलित थे। विद्वानों ने माना है कि मंत्रनय से ही आगे के वज्रयान, कालचक्रयान, सहजयान आदि विकसित हुए। ऐसा माना जाता है कि बुद्ध ने ही इन दोनों यानों का भी प्रवर्तन किया था। बताया जा चुका है कि मंत्रनय को अद्वयवज्र ने अपेक्षाकृत अधिक गंभीर माना था। पारमितानय के प्रवर्तन के विषय में कहा जाता है कि बुद्धदेव ने गृध्रकूट पर्वत के निकट इसका प्रवर्तन किया था। पारमिताओं में प्रज्ञापारमिता सर्वश्रेष्ठ है। "यह प्रज्ञापारमिता वस्तुतः जगन्माता महाशक्तिरूपा महामाया है। महायान धर्म के विकास में शाक्तागम का पूर्ण प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। यह महाशक्तिरूपा प्रज्ञा बोधिसत्त्वों की जननी तो है ही, बुद्धों की भी जननी है।" तांत्रिक बौद्ध ग्रंथों में बुद्ध और प्रज्ञापारमिता का वही अभेद संबंध स्वीकार किया गया है जो हिंदू तांत्रिक मत में शिव तथा शक्ति का।[१]

लक्ष्य की दृष्टि से दोनों नयों को बुद्धत्व लाभ ही मान्य है। दोनों नय साधन के रूप में योगाचार अर्थात् योगचर्या को स्वीकार करते हैं। किंतु भेद अवश्य है। दोनों ही बोधिसत्त्वयान हैं। पारमितानय में करुणा, मैत्री आदि की चर्या प्रधान है। माध्यमिक तथा योगाचार दोनों में ही इस नय का समादर था। दोनों के ही अनुयायी इसका अनुसरण करते थे। इसका

---

१. वही, भूमिका, पृ० २६-२७।
भूमिका लेखक म० म० डा० गोपीनाथ कविराज।

समस्त साहित्य संस्कृत में है। इसका साधन नीति तथा चर्या की शुद्धि पर प्रतिष्ठित हुआ था। अधिकारभेदवाद की कठोरता पारमितानय में नहीं थी। प्रज्ञापारमिता ही बौद्धों की महाशक्ति है। यदि शक्ति की उपासना को ही तांत्रिक साधना का मूल तत्व माना जाय तो पारमितानय को भी तांत्रिक साधनमार्ग, मंत्रमार्ग के समान ही कहना चाहिए।[७] इस प्रकार विचार करने से तांत्रिक बौद्ध मत का अभ्युदय, ऐतिहासिक दृष्टि से ६ ठीं–७ वीं शताब्दी से बहुत पहले मानना पड़ेगा। पारमितानय की दार्शनिक भित्ति सौत्रांतिक है।

मंत्रनय या मंत्रयान में अधिकारभेदवाद का प्राधान्य है। साधना के क्षेत्र में केवल उच्चाधिकारप्राप्त व्यक्ति ही इसमें प्रवेश करने के अधिकारी थे। इसकी साधना आध्यात्मिक योग्यता पर निर्भर थी। अद्वयवज्र ने इस यान को तीक्ष्णेंद्रिय–अधिकार–साध्य माना है। "उसकी तीव्र शक्तिमत्ता के कारण दुरुपयोग की आशंका से आचार्यगण मंत्रमूलक साधना को जनसाधारण के समक्ष प्रकाशित नहीं करते थे। गुप्तभाव से ही इसका अनुष्ठान होता था।" इस नय के विषय में प्रसिद्ध है कि ज्योतिर्लिंग मल्लिकार्जुन के क्षेत्र के अंतर्गत स्थित धान्यकटक में भगवान् बुद्ध ने तृतीय धर्मचक्र प्रवर्तन कर मंत्रमार्ग का प्रकाशन किया। इसका साहित्य संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में है। कहा गया है कि मंत्रयान का विकास वज्रयान में हुआ। वज्रयान में भी मंत्र तत्व का प्राधान्य है। इसीलिये कभी कभी वज्रयान को भी मंत्रयान कहते हैं। मंत्रयान के परवर्ती विकास सहजयान में मंत्र पर जोर नहीं दिया गया है। मंत्रनय के दार्शनिक पक्ष का उद्घाटन माध्यमिक तथा योगाचार दृष्टि से ही संभव है।[८]

मंत्रयान योग को अत्यधिक महत्त्व देता है। योगसिद्धि की प्रक्रिया

---

७. वही, भूमिका, पृ० २८–२९।

८. वही, भूमिका, पृ० २६–२९।

थोड़ी जटिल है। इसके लिये क्रमशः ध्यानाभ्यास तथा विमोक्षलाभ करना पड़ता है। अंतिम अवस्था योगसिद्धि की है। शून्यता, अनिमित्त, अप्रणिहित, अनभिसंस्कार नाम के चार विमोक्षों के समान ही चार प्रकार के योग होते हैं—विशुद्धियोग, धर्मयोग, मंत्रयोग तथा संस्थानयोग। प्रत्येक योगसिद्धि के पूर्व उसके लिये निश्चित विमोक्ष की प्राप्ति आवश्यक है। चारो स्तरों में पूर्णता लाभ करने पर योग पूर्ण होता है। प्रत्येक योग में विमोक्ष के प्रभाव से एक एक शक्ति का विकास होता है। अर्थात् एक एक वज्रयोग से एक एक शक्ति पूर्ण होती है। शक्ति का पूर्ण विकास हो जाने पर क्रमशः ही काय, वाक्, चित्त और ज्ञान के वज्रभाव का उदय होता है। इन चारो में चित्त को क्रमशः करुणा, मैत्री, मुदिता और उपेक्षा भावों का अनुभव होता है। इसकी तुलना बौद्धों के प्राचीन योग के उन चारो भावों से की जा सकती है जिनका वर्णन "शील, समाधि और योग" परिच्छेद में किया गया है। इन चारो योगों से क्रमशः तुरीय, सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं का क्षय होता है। इस योग का मुख्य फल पूर्ण निर्मलत्व या स्वच्छत्व आयत्त करना है। तुरीय प्रभृति चार अवस्थाओं में किसी न किसी प्रकार का मल है। जब तक इन मलों का संशोधन न हो तब तक पूर्णत्व–लाभ नहीं हो सकता। "इन अवस्थाओं में क्रमशः राग विशिष्ट इंद्रियद्वय, तम, श्वास–प्रश्वास और संज्ञा अर्थात् देह–बोध के मल होते हैं। इन्हीं चारो योगों में क्रमशः चार आनंदों की प्राप्ति होती है—आनंद, परमानंद, विरमानंद और सहजानंद।" जिस समय काम के द्वारा मन में क्षोभ होता है, वही समय आनंद के उद्गम का है। वस्तुतः यह भाव का ही विकास है। शक्ति की अभिव्यक्ति से इसका आविर्भाव होता है। इसके बाद जब अभिव्यक्त शक्ति के साथ मिलन का पूर्णत्व सिद्ध होता है, तब बोधिचित्त भी पूर्ण हो जाता है। इस शक्ति का स्थान ललाट है। इस आनंद का नाम परमानंद है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि बौद्ध तांत्रिक परिभाषा में शरीर का सारांश बिंदु ही बोधिचित्त नाम से अभिहित होता है। उत्तमांग

से बोधिविंदु का क्षरण होता है। यही अमृतक्षरण है। उस अवस्था को ज्वाला अवस्था कहते हैं। यह विरमानंद है। इसके बाद वाक् तथा चित्त-विंदु के अवसान में चतुर्विंदु का निर्गम होता है। उस काल में सहजानंद का आविर्भाव होता है।" तिथियों का विभाजन भी इन आनंदों के अनुसार किया गया है। प्रतिपत् से पंचमी तक की तिथियों में आनंद; षष्ठी से दशमी तक की तिथियों में परमानंद; एकादशी से पूर्णिमा तक की तिथियों में विरमानंद पूर्ण होता है। इन सब की साम्यावस्था पूर्णिमा में या षोडशी कला में होती है। इस समय में सहजानंद का पूर्णानुभव होता है। प्रत्येक आनंद में जाग्रतादि के भेद से तथा कायवाक्चित्तभेद के योग से चार प्रकार के योग उदित होते हैं। इस प्रकार चार वज्रयोग षोडश योग में परिणत होते हैं। प्रथम योग का नाम काम तथा अंतिम का नाद है।[९]

इस प्रकार का योग मंत्रयान ने विकसित किया। विना गुरुशिष्यवाद, अधिकारभेदवाद आदि विशिष्ट तांत्रिक धाराओं को स्वीकार किए इस प्रकार की साधना नहीं चल सकती। तांत्रिक उपासना और साधना में इस योग का अधिक महत्त्व है। तांत्रिक उपासना का दूसरा तत्व शक्ति तत्व है। बौद्धों के अनुसार प्रज्ञा ही शक्ति का स्वरूप है। इस शक्ति का प्रतीक त्रिकोण है। यंत्रों में त्रिकोण मूल तत्व है। त्रिकोण की व्याख्या बहुत विस्तृत है। त्रिकोण को ही भग भी कहते हैं। प्रज्ञा को भी हेवज्रतंत्र में भग कहा गया है। इसको वज्रधर-धातु-महामंडल भी कहा जाता है। यह महासुख का आवास है। वज्रालय या वज्रासन इसी का नामांतर है। इसको सिंहासन बनाकर जो आसीन होते हैं, उन्हें भगवान् कहा जाता है।[१०]

उपर्युक्त चार योगों के अनुसार मुद्रा की भी कल्पना की गई है। मुद्रा शक्ति का अभिव्यक्त बाह्य रूप है। मुद्राएँ हैं—कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा

---

९. वही, भूमिका, पृ० २९–३४।

१०. वही, भूमिका, पृ० ३४।

तथा समयमुद्रा। गुरुकरण के बाद शिष्य प्रज्ञा ग्रहण करता है। इसके बाद सप्ताभिषेकों की क्रिया आरंभ होती है और शिष्य तथा मुद्रा दोनों मंडल में प्रवेश करते हैं। अभिषेक हैं—उदकाभिषेक, मुकुटाभिषेक, पट्टाभिषेक, वज्रघंटाभिषेक, वज्रव्रताभिषेक, नामाभिषेक और अनुज्ञाभिषेक। इसमें प्रथम द्वितीय से देहशुद्धि, तृतीय तथा चतुर्थ से वाक् शुद्धि, पंचम तथा षष्ठ से चित्तशुद्धि होती है तथा सप्तम अभिषेक से बुद्धत्व निष्पादन होता है।[११]

इस तांत्रिक बौद्ध साधना तथा उपासना का विवरण जिन ग्रंथों में मिलता है, उनका संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है। तांत्रिक तत्वों में मंत्र, यंत्र, पंचमकार, शक्तिकल्पना, नाड़ी, चक्र, कमल, अधिष्ठात्री देवियों आदि की गणना की जाती है। शैव-शाक्त दर्शन, साधना और विश्वासों के साथ सांख्य, योग, वेदांत आदि ने भी बौद्ध मत को प्रभावित किया था। इनमें से शैव-शाक्त प्रभाव को परवर्ती बौद्ध तांत्रिकों ने सर्वाधिक स्वीकार किया। ब्राह्मण देवताओं में शिव, शक्ति, इंद्र या वज्रधर या वज्रपाणि, सरस्वती, तारा आदि को स्वीकार किया गया। इनके नाम भी तांत्रिक ग्रंथों में मिलते हैं। किंतु विष्णु, ब्रह्मा आदि का नाम सरलता से उपलब्ध नहीं। इन देवताओं का नाम जहाँ आया भी है अथवा तांत्रिक मूर्तियों में जहाँ भी इन्हें अभिव्यक्ति मिली है, वहाँ बौद्ध देवताओं से हीन रूप में ही। तांत्रिक साहित्य और साधना में गुरुशिष्यवाद, पिंडब्रह्मांडवाद, चक्रकल्पना, नाड़ीकल्पना, शिवशक्तिवाद आदि तत्व अधिक स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त हुए हैं।

प्राचीन महायान में बौद्धों का विभाजन केवल गृहस्थ और भिक्षुओं में ही किया गया था। किंतु तांत्रिक बौद्ध धर्म में, विशेषकर मंत्रयान तथा उसके परवर्ती विकसित रूपों में आचारों की दृष्टि से उनका विभाजन किया गया है। गृहस्थ बौद्धों के ऊपर तो शंकर, कुमारिल और अन्य आचार्यों ने प्रभाव डालकर उन्हें हिंदू धर्म और दर्शन की ओर आकर्षित किया।

११. वही, भूमिका, पृ० ३५–३७।

८वीं–६वीं शताब्दी तक तांत्रिक बौद्ध धर्म के साथ साथ अन्य नवोदित धर्म-संप्रदाय भी राज्याश्रय पाने लगे थे। उनकी प्रतिष्ठा भी बढ़ने लगी थी। बौद्ध साधना और उपासना धीरे धीरे काल-परिस्थिति-परिवर्तन से गुह्य और एकांत होने लगी। तात्पर्य यह कि बौद्ध धर्म उत्तर भारतीय गार्हस्थ जीवन से प्रायः उच्छिन्न हो गया। बौद्ध विचारों और विश्वासों के अवशिष्ट के साथ अन्य मतों और संप्रदायों का मिश्रण होने लगा और फिर तांत्रिक बौद्ध साधना भी अपने शुद्ध रूप में न रह सकी। बंगाल, आसाम, उड़ीसा, नेपाल आदि प्रदेशों में इसका सर्वाधिक मिश्रण हुआ। यवन और भारतीय उच्छेदकों के आतंक से बौद्ध धर्म को भारत में अनेक रूप धारण करने पड़े होंगे, ऐसा अनुमान है। उनके अनुयायियों को भी "अंतः शाक्ताः बहिः शैवाः" वाली उक्ति के अनुसार अपना बाह्य रूप बदल कर युग की परिस्थिति के अनुसार सद्धर्म को सुरक्षित रखना पड़ा होगा। मिश्रण की दृष्टि से कहीं उनका मिश्रित अंश प्रबल था और कहीं अधिक क्षीण। भारतीय धर्म और साधना के इतिहास में इस प्रकार के मिश्रण का अनुसंधान बड़ा ही रोचक है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट–१

बौद्ध गान ओ दोहा

अपभ्रंश साहित्य में सिद्धाचार्यों के साहित्य का उद्धार आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के साहित्यपक्ष और भाषापक्ष, दोनों ही दृष्टियों से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। सर्वप्रथम महामहोपाध्याय डा० हरप्रसाद शास्त्री ने ८४ सिद्धों में से कुछ की रचनाओं का उद्धार नेपाल से किया और उसके साथ अन्य तांत्रिक बौद्ध रचनाओं को संमिलित कर 'बौद्ध गान ओ दोहा' के नाम से संपादित किया। सबसे पहला ग्रंथ एक संग्रह-ग्रंथ है जिसका नाम है 'चर्याचर्यविनिश्चय'। इसको शास्त्री महोदय ने बौद्ध सहजिया मत की अत्यंत प्राचीन बंगला रचना (बौद्ध सहजिया मतेर अति पुराण बांगाला गान) माना है। प्रत्येक चर्यापद के साथ उसकी संस्कृत टीका भी दी गई है। ग्रंथारंभ में 'श्रीवज्रयोगिनी' को नमस्कार किया गया है। इस ग्रंथ में कुल ४७ चर्यापद संगृहीत हैं। पदकर्त्ताओं के नाम निम्नलिखित हैं—

लुइपाद, कुक्कुरीपाद, विरुवापाद, गुंडरीपाद, चाटिल्लपाद, भुसुकुपाद, कान्हुपाद, कंबलांबरपाद, डोंबीपाद, शांतिपाद, महीधरपाद, वीणापाद, सरहपाद, शबरपाद, आर्यदेवपाद, ढेंटणपाद, दारिकपाद, भादेपाद, ताड़कपाद, कौंकणपाद, जयनंदीपाद, धामपा।

प्रत्येक पदकर्ता के पदों, रागों तथा 'बौद्ध गान ओ दोहा'-गत उनकी क्रमसंख्या का विवरण इस प्रकार है। पदकर्ताओं का क्रम अकारादि-क्रम से है—

पदकर्ता का नाम	पदों की क्रमसंख्या तथा उनके राग	बौ.गा.दो. में पृष्ठनिर्देश	विवरण
१—आर्यदेवपाद	३१ राग पटमंजरी	पृ० ४८	
२—कंबलांबरपाद	८ राग देवक्री	पृ० १६	इन्हें कंबल और कामरि भी कहते हैं।
३—कान्हुपाद	७ राग पटमंजरी	पृ०१२-१३	
	९ ,, ,,	पृ०१७-१८	इन चर्यापदों में
	१० राग देशारव	पृ० १९	कान्हुपाद के इन अनेक
	११ राग पटमंजरी	पृ० २१	नामांतरों का क्रमशः
	१२ (राग) भैरवी	पृ० २२	प्रयोग हुआ है—
	१३ राग कामोद	पृ० २४	कान्हुपाद, वही, वही,
	१८ राग गउड़ा	पृ० ३२	कृष्णाचार्यपाद, कृष्ण-
	१९ राग भैरवी	पृ० ३३	पाद, कृष्णा(चार्य)-
	३६ राग पटमंजरी	पृ० ५५	पाद, कृष्णवज्रपाद,
	४० ,, मालती गवुड़ा	पृ०६१-६२	कान्हपाद कान्हुपाद,
	४२ राग कामोद	पृ० ६५	वही।
	४५ राग मल्लारी	पृ० ६८	
४—कुक्कुरीपाद	२ राग गवड़ा	पृ० ५	
	२० राग पटमंजरी	पृ० ३५	
५—कौंकणपाद	४४ राग मल्लारी	पृ० ६७	शास्त्री महोदय ने बौ० गा० दो० के

			'पदकर्त्तादेर परिचय' में पृ० २७ पर इनका परिचय 'कंकण' नाम से दिया है।
६–गुंडरीपाद	४ राग अरु	पृ० ९	इनका दूसरा नाम धर्मपाद या धामपाद है। चर्यापद ४ के कर्ता गुंडरीपाद तथा ४७ के कर्ता गुंजरी-पाद माने गए हैं।
	४७ × ×	पृ० ७१	
७–चाटिल्लपाद	५ राग गुंजरी	पृ० ११	
८–जयनंदीपाद	४६ राग शबरी	पृ० ७०	
९–टेंटणपाद	३३ राग पटमंजरी	पृ० ५१	इनका दूसरा नाम धेतन या धेतनपाद है।
१०–डोंबीपाद	१४ धनसी राग	पृ०२५-२६	
११–ताड़कपाद	३७ राग कामोद	पृ०५६-५७	
१२–दारिकपाद	३४ राग बराड़ी	पृ० ५२	
१३–धामपाद	४७ × ×	पृ० ७१	
१४–भादेपाद	३५ राग मल्लारी	पृ० ५४	
१५–भुसुकुपाद	६ राग पटमंजरी	पृ० १२	
	२१ राग बराड़ी	पृ० ३६	
	२३ राग बड़ारी	पृ० ४०	
	२७ राग कामोद	पृ० ४२	इन्हें राउतु भुसुकु भी कहा जाता है।
	३० राग मल्लारी	पृ० ४७	
	४१ राग कन्हु गुंजरी	पृ० ६३	

	४३ राग बंगाला	पृ० ६६	
	४९ राग मल्लारी	पृ० ७३	
१६–महीधरपाद	१६ राग भैरवी	पृ० २९	इन्हें महीपाद भी कहते हैं।
१७–लुइपाद	१ राग पटमंजरी	पृ० १	
	२९ ,, ,,	पृ० ४५	
१८–विरूवापाद	३ राग गवड़ा	पृ० ७	इन्हें विरूप भी कहते हैं।
१९–वीणापाद	१७ राग पटमंजरी	पृ० ३०	
२०–शबरपाद	२८ राग वलाड्डि	पृ० ४३	इन्हें शबरीश्वर भी
	५० राग रामक्री	पृ० ७४	कहते हैं।
२१–शांतिपाद	१५ ,, ,,	पृ० २७	
	२६ राग शीवरी	पृ० ४१	
२२–सरहपाद	२२ राग गुंजरी	पृ० ३८	इन्हें सरोरुहवज्र,
	३२ राग देशाख	पृ० ४९	सरोजवज्र, पद्म, पद्म-
	३८ राग भैरवी	पृ०५८-५९	वज्र,राहुलभद्र इत्यादि
	३९ राग मालशी	पृ० ६०	नामों से संबोधित किया जाता है।

महामहोपाध्याय पं० शास्त्री ने अपने 'पदकर्त्तादेर परिचय' में कुछ ऐसे व्यक्तियों का भी परिचय उपस्थित किया है जिनके पदों का संग्रह इस 'चर्याचर्यविनिश्चय' में नहीं है। उनके नाम ये हैं—किलपाद, दीपंकरश्रीज्ञान, अद्वयवज्र, लीलापाद, स्थगन, मैत्रीपाद, गुरुभट्टारक धृष्टिज्ञान, मातृचेट, वैरोचन, नाड़ पंडित, महासुखताज्ञ, नागार्ज्जुन। यद्यपि शास्त्री महोदय ने

चर्यापदों की संख्या ५० दी है किंतु तथ्यतः उनकी उद्धृत पद-संख्या ४७ ही है। क्रमसंख्या २४, २५ तथा ४८ के चर्यापद हस्तलिखित पोथी के अंशतः नष्ट होने के कारण उद्धृत नहीं किये गए। तथ्य यह है कि २१ पदकर्त्ताओं के केवल ४७ चर्यापद संपादित किए गए हैं।

चर्यापदों के इस संग्रह का नाम डा० हरप्रसाद शास्त्री ने 'चर्य्याचर्य्यविनिश्चय' रखा है। डा० प्रबोधचंद्र बागची के अनुसार तिब्बती अनुवाद और मूल के आधार पर इस नाम के भिन्नरूप की ओर संकेत किया जा सकता है। मूल चर्यापदों में कहीं भी इस प्रकार का नाम नहीं मिलता, किंतु फिर भी शास्त्री महोदय का 'चर्याचर्य्यविनिश्चय' नामकरण उनका अपना आविष्कार नहीं है। इस नाम का कुछ भिन्न रूप में प्रयोग इसके लुइपाद रचित प्रथम चर्यापद की मुनिदत्त[1] रचित टीका के आरम्भश्लोक में मिलता है—

श्रीलूयीचरणादिसिद्धरचितेऽप्याश्चर्य्यचर्य्याचये
सद्धर्मा'वगमाय निर्म्मलगिरां टीका विधास्ये स्फुटम् ॥
(बौ० गा० दो०, पृ० १)

इस प्रकार इस संग्रह का नाम 'आश्चर्यचर्याचय' है, जिसके तिब्बती अनुवाद का अर्थ है—'अति आश्चर्यजनक चर्यागीति।' अतः यह स्पष्ट होता है कि म० म० शास्त्री ने 'चर्य्याचर्यविनिश्चय' नाम का चयन 'चर्याश्चर्यविनिश्चय' के भ्रमपूर्ण पाठ के आधार पर किया है, जिसे संस्कृत टीका में उद्धृत नहीं, संकेतित किया गया है। तिब्बती में सुरक्षित 'चर्यागीतिकोष-वृत्ति' नाम भी इसी टीका की ओर संकेत करता है। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है

१—चर्याचर्यविनिश्चय के संग्रहकर्ता कानुभट्ट थे। ये सहजिया मतानुयायी थे। इनका समय दशम शताब्दी है।

द्रष्टव्य—प्राचीन बांगाला साहित्येर इतिहास, ले० डा० तमोनाश चंद्र दासगुप्त, पृ० ३९, ४६।

कि यह संग्रह ग्रंथ• 'चर्यागीति कोष' नाम से भी पहले जाना जाता था। (स्टडीज इन दि तंत्रज, पार्ट १, डा० प्रबोधचंद्र बागची, पृष्ठ ७५।)

इन चर्यापदों या चर्यागीतियों का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिये शास्त्री महोदय के 'बौद्ध गान ओ दोहा' का मुखबंध विशेष रूप से अध्येय है क्योंकि भाषा, साहित्य, और साधना संबंधी परवर्ती विद्वानों के विवाद में उनके मत पूर्वपक्ष के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं। उनके विचारों को संक्षेप में क्रमशः यहाँ उपस्थित किया जा रहा है—

१—धर्म मंगल के धर्मठाकुर बौद्ध धर्म के अवशेष हैं। बौद्ध धर्म का अवशिष्ट रूप धर्मठाकुर की पूजा में दिखाई देता है। (पृ० २, ४)

२—सन् १६०७ में नेपाल जाकर शास्त्री महोदय ने अनेक पोथियों को देखा। एक का नाम था 'चर्याचर्यविनिश्चय'। उसमें कई कीर्तन के गान थे और उनकी संस्कृत में टीका थी। गान वैष्णव लोगों के कीर्तन के समान थे। गान का नाम था 'चर्यापद'। उन्होंने एक पुस्तक और पाई, वह दोहा-कोष था। ग्रंथकार का नाम था सरोरुहवज्र। टीका संस्कृत में थी। टीकाकार का नाम था अद्वयवज्र। और एक पुस्तक प्राप्त हुई, वह भी दोहाकोष था। ग्रंथकार का नाम था कृष्णाचार्य। उसकी एक संस्कृत टीका थी। (पृ०४–५)

३—बेंडेल ने जो 'सुभाषित संग्रह' छपाया था, उसके परिशिष्ट में उन्होंने इस नूतन भाषा के ६८ दोहे टीका-टिप्पणी सहित दिए थे। उन्होंने कहा, यह भाषा एक प्राचीन अपभ्रंश भाषा है। प्रो० बेंडेल ने उसके प्रथम परिशिष्ट में कहा है कि यह अपभ्रंश भाषा है। एक बार कहा है कि यह बौद्ध अपभ्रंश भाषा है। चतुर्थ परिशिष्ट में शुद्ध प्राकृत शब्द उसके लिये प्रयुक्त किया है। सुतरां, यह कौन सी भाषा है, इसको वे स्थिर नहीं कर सके।

४—प्रो० बेंडेल ने इस नूतन भाषा को अपभ्रंश कहा है। शास्त्री महोदय का विश्वास है कि जिन लोगों ने इस भाषा को लिखा था, वे बंगाल या उसके तटवर्ती प्रदेश के लोग थे। उनमें जो बंगाली थे, उनका प्रमाण भी

पाया गया है। यद्यपि अनेकों की भाषा में व्याकरण के एक एक प्रभेद हैं तथापि सबका बँगला कहने से बोध हो जाता है। ये सभी ग्रंथ तिब्बती भाषा में अनूदित हुए थे और वे अनुवाद तेंजुर में हैं। (पृष्ठ ६)

५—तिब्बत देश के लोगों ने बौद्ध धर्म का अवलंबन कर भारतवर्ष की अनेक बौद्ध एवं हिंदू पुस्तकों का अनुवाद किया। इन सभी पुस्तकों के दो भाग हैं—जिसमें बुद्ध के वचन हैं, उन्हें कँजुर कहते हैं। अवशिष्ट समस्त अनूदित ग्रंथों के भाग को तेंजुर कहते हैं। (पृष्ठ ६, पादटिप्पणी)

६—प्रो० बेंडेल ने दो चार पुस्तकों का अनुवाद किया है। सातवीं ईस्वी शताब्दी से १३ वीं शताब्दी के बीच में तिब्बती लोगों ने संस्कृत ग्रंथों का खूब अनुवाद किया। शुद्ध संस्कृत की ही नहीं, भारतवर्ष की सभी भाषाओं की पोथियों का अनुवाद किया। कई स्थानों पर तो उन अनुवादों की तारीख तक लिख दी है। उससे यह मालूम होता है कि ये पोथियाँ ७वीं से १३वीं शताब्दी के बीच में अनूदित हुई थीं। ईस्वी सन् की ८, ९, १०, ११, १२ वीं शताब्दी में ये सभी पोथियाँ लिखी कही जाती हैं। प्रो० बेंडेल ने केवल कुछ दोहों को पाया था। शास्त्री महोदय ने दोहाकोषों को पाया है। एक में ३२ दोहे थे और दूसरे में प्रायः एक सौ दोहे थे। शेषोक्त दोहों का मूल सर्वत्र नहीं है। टीका के बीच में अनेक स्थलों में पूरा दोहा दिया हुआ है और अनेक स्थलों में केवल आद्यक्षर दिया गया है। तब भी एक सौ से अधिक हैं, कम नहीं। (पृष्ठ ६)

७—······यहाँ तक तो संक्षेप किया। सरोरुहवज्रपाद के दोहों और अद्वयवज्र की टीका की मूल बातों को कह दिया। सहजिया मत के जितने ग्रंथ हैं सभी की मूल बात यही एक है, किंतु इससे एक कठिनाई उत्पन्न हुई, और वह यह कि सहजिया की सभी पुस्तकें संध्या भाषा में लिखी हैं। संध्या भाषा के माने है, आलोक और अंधकार की भाषा; कुछ आलोक, कुछ अंधकार; क्षण में समझ में आती है, क्षण में समझ में नहीं आती। अर्थात्

इन सभी उच्च कोटि की धर्म की बातों के अंतर्गत एक अन्य भाव की कथा है। वह खुल कर व्याख्या करने के लिये नहीं है। जो लोग साधन और भजन करते हैं, वे ही वह बात समझेंगे। हम लोगों के समझने योग्य नहीं है। शास्त्री महोदय ने तो केवल साहित्य की कथा कही है। (पृष्ठ ८)

८—सहजपथ में तीन पथ हैं—अवधूती, चंडाली, डोंबी या बंगाली। अवधूती में द्वैत ज्ञान रहता है, चंडाली में द्वैत ज्ञान रहता भी है, नहीं भी रहता है किंतु डोंबी में केवल अद्वैत। द्वैत का मैल भी नहीं रहता। बंगाल में अद्वैत मत अधिक प्रचलित है। बंगाल अद्वैत मत का आधार था। (पृ० १२–१३)

९—किंतु सिद्धाचार्यों के जो आदि हैं उनकी कुछ बात कही जाती है। तिब्बत देश में इस समय भी सिद्धाचार्यों की पूजा होती है। उन सभी के सिर पर जटा है एवं वे प्रायः नग्न हैं। चर्याचर्यविनिश्चय के अनुसार लुइ सर्वप्रथम सिद्धाचार्य हैं। (पृष्ठ १४–१५)

१०—जो गान पहले उद्धृत किये गये हैं, उनसे यह प्रतीत होता है कि ये सब कीर्तन के पद हैं। उस काल में भी संकीर्तन था एवं संकीर्तन के गानों को पद कहते थे (बौद्धों के संकीर्तन के गान को पद कहते थे)। अभी तक जो कुछ भी कहा गया है, उससे यह बोध होता है कि बौद्ध लोग उस समय गान लिखते थे। किंतु नाथ लोग भी उस समय बँगला लिखते थे। मीननाथ की एक कविता पाई गई है। यहाँ उसे उद्धृत करते हैं—

कहंति गुरु परमार्थेर बाट
कर्म कुरंग समाधिक पाट
कमल विकसिल कहिह ण जमरा
कमल मधु पिविवि धोके न भमरा ॥ (पत्रांक ३८)

यह बँगला कविता मीननाथ की है। अन्यान्य नाथ लोगों ने जो बँगला में पोथी लिखी थी, उसका भी प्रमाण है। यह सुना जाता है कि ९ वीं

शताब्दी में बौद्धों के बीच में लुइ सहज धर्म का प्रचार करते थे। उसी समय उनके शिष्यों ने अनेक कीर्तन के पद लिखे थे और उसी के साथ और उसके कुछ आगे भी वे नाथ धर्म का प्रचार करते थे। उन लोगों ने अनेक पुस्तकें और कविताएँ बँगला में लिखीं। नाथ भी अनेक थे। किसी ने बौद्ध धर्म से नाथ धर्म ग्रहण किया था। किसी किसी ने हिंदू होकर नाथ पंथ ग्रहण किया। जिसने बौद्ध धर्म ग्रहण कर नाथ पंथ ग्रहण किया, उनमें गोरक्षनाथ एक व्यक्ति थे। तारानाथ कहते हैं—गोरखनाथ जिस समय बौद्ध थे, उस समय उनका नाम अनंगवज्र था। किंतु विशेष प्रमाण (शास्त्री महोदय ने यह पाया) है कि उस समय उनका नाम रमणवज्र था। नेपाल के बौद्ध लोग गोरक्षनाथ से बहुत रुष्ट हैं, उनको धर्मत्यागी कह कर उनसे घृणा करते हैं। किंतु आश्चर्य का विषय यह है कि वे मत्स्येंद्रनाथ को अवलोकितेश्वर का अवतार समझ कर उनकी पूजा करते हैं। मत्स्येंद्रनाथ का पहले का नाम था मच्छघ्नपाद, अर्थात् वे मछली मारते थे। बौद्ध स्मृति-ग्रंथों में लिखा हुआ है, जो लोग निरंतर प्राणिहत्या करते हैं, उस सकल जाति को अर्थात् कैवर्तादिकों को, बौद्ध धर्म में दीक्षित नहीं करना चाहिये। इसलिये मच्छघ्ननाथ बौद्ध नहीं थे। कौलों के संबंध में एक ग्रंथ पाया जाता है, उसको पढ़ने से यह बोध नहीं होता कि वे बौद्ध थे। वे नाथपंथी लोगों में एक गुरु थे और नेपाली बौद्धों में उपास्य देवता बन गये थे। (पृष्ठ १६)

११—इसमें जो बँगला है, उसके प्रमाण के लिये दो कारण हैं—

(१) एक फ्रांसीसी पंडित ने तेंजुर के १०८ से लेकर १७६ तक के बंडल की तंत्र की पोथियों की एक तालिका दी है। इस तालिका में ग्रंथकार तथा अनुवादक का नाम है। कई स्थलों पर, जिस स्थान पर रह कर यह अनुवाद किया गया है उस स्थान का नाम, जिन स्थानों पर उसका शोधन किया गया उसका नाम तथा शोधकों का नाम भी दिया गया है। जिस फ्रांसीसी पंडित ने इस तालिका को छपाया है,

उनका नाम है पी० कार्डियर।......उनकी तालिका में ग्रंथकार, अनुवादक, शोधक और स्थानों के जो नाम मिलते है, शास्त्री महोदय ने उनकी अकारादिक्रम से सूची प्रस्तुत की है, जो बौद्ध गान ओ दोहा के द्वितीय मुद्रण में नहीं है। उस सूची में बंगाली अथवा बंगाल निवासी उन्हीं को कहा गया है जिनके पद बंगला संकीर्तन के आधार पर हैं और जिनकी भाषा शुद्ध बंगला है। (पृ०१७)

(२) उन पदों में जितने शब्द पाये गये हैं, अकारादिक्रम से उनकी एक तालिका प्रस्तुत कर उस काल की बंगला तथा इस समय की बंगला का अंतर देखा गया है। इससे उस काल के बंगला के व्याकरण और अभिधान के संबंध में उनकी एक धारणा निश्चित हो जाती है। इस धारणा के आधार पर अतिरिक्त जो पद पाये गये हैं, उनकी भी अकारादि क्रम से सूची बना दी गई है। इन आधारों पर सभी पदों को बंगला पद कहने की इच्छा होती है। यह कथन निरर्थक नहीं है। एक पदकर्ता का घर उड़ीसा में है। उसने गान भी उड़ीसा में ही लिखे हैं। बंगला में जहाँ क्रिया के अंत में 'ल' आता है वहीं उसमें (उड़िया में) 'ड़' आता है, जैसे 'गाहिल' का 'गाहिड़'। उन पदों को उड़िया भाषा का पद कहना स्थिर किया है। इस प्रकार विशेष रूप में परीक्षा कर कें जो फल निकला, उसी को इस पुस्तक में दिया है। (पृ० १७)

शास्त्री महोदय ने सहजयान के सिद्धांतों को स्थिर करने के लिये सरहपाद की रचनाओं को आधार बनाया है। बौ० गा० दो० में चर्यापदों का पाठ-संस्कार किया गया है और उनकी बंगला में व्याख्या प्रस्तुत की गई है। परिभाषिक पदों की व्याख्या के लिये मूलाधार चर्यापदों की संस्कृत टीका है। किंतु संस्कृत टीका की अपेक्षा बंगला टीका अधिक सुबोध और सरल है। इस पाठसंस्कार और बंगला टीका के आरंभ में लिखा गया है—

"शास्त्री महोदय ने चर्यापदों का आविष्कार १६०७ ई० में किया था और उसका प्रकाशन १६१६ ई० में हुआ। इसके बाद डा० प्रबोधचंद्र बागची, डा० मुहम्मद शहीदुल्ला, डा० सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय प्रभृति भाषातत्वविद् पंडितों ने इन्हें लेकर गवेषणा की। उन लोगों की चेष्टा में पदों के पाठों का संस्कार कुछ साधित हुआ। परिषद् के संस्करण में बंगला भाषा में कोई व्याख्या नहीं दी हुई थी। परिषद् की पोथीशाला के पांडित श्री ताराप्रसन्न भट्टाचार्य महोदय ने बहुत परिश्रम कर परवर्ती गवेषणा की सहायता से यह पाठ-संस्कार और व्याख्या प्रस्तुत की।'

× × ×

बौद्ध गान ओ दोहा में दूसरा संगृहीत ग्रंथ है—सरोजवज्र का बंगला दोहाकोष (सरोजवज्रेर बांगाला दोहाकोष)। उसके साथ अद्वयवज्र की संस्कृत टीका भी है। इस ग्रंथ को देखने से यह मालूम पड़ता है कि शास्त्री महोदय ने अद्वयवज्र की संस्कृत टीका का उद्धार किया है, सरोजवज्र के दोहाकोष का नहीं। कारण यह है कि इस टीका में सरोजवज्र के पूरे दोहे बहुत कम उद्धृत हैं। दोहों के आद्याक्षरों को उपस्थित कर संपूर्ण दोहे की टीका या उसके मूलभाव को उपस्थित कर दिया गया है। बीच-बीच में प्रमाण के लिये आकर ग्रंथों से संस्कृत के उद्धरण तथा अपभ्रंश छंदों के अंश भी उपस्थित किये गये है। इस सटीक दोहाकोष का नाम है—'सहजाम्नायपंजिका'। टीका के अंत में लिखा गया है—

'समाप्तेयं दोहाकोषस्य पञ्जिका। ग्रंथप्रमाणमष्टशतमस्य। कृतिरियं श्री अद्वयवज्रपादानामिति।'

अद्वयवज्र ने आरंभ में वज्रसत्त्व को नमस्कार किया है।

सरोजवज्र के दोहाकोष के अतिरिक्त कृष्णाचार्यपाद का दोहाकोष भी बौद्ध गान ओ दोहा में संपादित है। उसकी भाषा को भी बंगला कहा गया है। इसकी मेखला नाम की टीका भी दोहों के साथ उपस्थित की गई है

(कृष्णाचार्यपादेर दोहाकोष, बांगाला श्रो ताहार संस्कृत टीका मेखला)। आरंभ में वज्रधर को नमस्कार किया गया है। इसमें कृष्णाचार्यपाद के कुल ३२ दोहों की टीका की गई है। इसकी पुष्पिका में लिखा गया है—

'इत्याचार्यपादीयदोहाकोष मेखला टीका समाप्तम्। शुभसंवत् (नेपाल) १०२७ मिति शुद्ध चैत्र शुक्र ६ गुरु वा दिने लिखितम्। शुभं भूयात्।'
(पृ० १२६)

चर्याचर्यविनिश्चय और दो दोहाकोषों के अतिरिक्त शास्त्री महोदय ने डाकार्णवतंत्र का भी संपादन किया है, जिसका विवेचन इस ग्रंथ में पृथक् रूप से किया गया है।

ग्रंथांत में शास्त्री महोदय ने एक विस्तृत शब्द-सूची दी है। इसमें पारिभाषिक और प्राचीन देशज शब्दों के टीका-गृहीत तथा सामान्य बंगला अर्थ भी दिए गए हैं। चर्यापदों और दोहों को समझने में यह शब्द-सूची बहुत अधिक सहायक सिद्ध हो सकती है।

× × ×

इस बौद्ध गान श्रो दोहा के मुखपृष्ठ पर लिखा गया है—

'हाजार बछरेर पुराण बांगाला भाषाय बौद्ध गान श्रो दोहा। चर्याचर्य-विनिश्चय, सरोजवज्रेर दोहाकोष, काण्हपादेर दोहाकोष श्रो डाकार्णव। चर्य्यापदगुलिर प्रामाण्य-पाठ श्रो सटीक बंगानुवाद सह नूतन संस्करण।'

× × ×

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि बौद्ध सहजिया रचनाओं के मान्य टीकाकार मुनिदत्त, अद्वयवज्र और मेखला हैं। अद्वयवज्र के संस्कृत संग्रहग्रंथ 'अद्वयवज्रसंग्रह' का विवेचन पहले ही उपस्थित किया जा चुका है। म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने 'पदकर्त्तादेर परिचय' में इनका परिचय दिया है। उनके परिचयानुसार अद्वयवज्र ने अनेक बंगला पोथियाँ लिखी थीं। इनका

घर बंगाल में था। इनके प्रधान ग्रंथ हैं—'दोँहानिधिकोषपरिपूर्णगीतिनाम-निजतत्वप्रकाशटीका' 'दोँहाकोषहृदयअर्थगीताटीकानाम,' 'चतुरवज्रगीतिका'। अवश्य ही, अद्वयवज्र बौद्ध-संकीर्तन के एक पदकर्ता थे, इसमें कोई संदेह नहीं। किंतु दुःख का विषय है कि हमें उनका अब तक एक भी बंगला गान नहीं मिला है! इनके ग्रंथों और टीकाओं को देखने से पता लगता है कि इनका अपने विषय का ज्ञान साधना और अध्ययन दोनों ही दृष्टियों से उत्तम था।* चर्यापदों की टीका में जितने ग्रंथों को जिस ढंग से मुनिदत्त ने उद्धृत किया है, उससे उनके अध्ययन और ज्ञान के विस्तार का पता लगता है। यदि उन ग्रंथों की सूची बनाई जाय तो तत्कालीन जीवित तांत्रिक बौद्ध साहित्य की एक अच्छी सूची हमें मिल सकती है। उनमें से मुख्य हैं—संपुटोद्भवतंत्रसमाज, श्रीसमाज, हेवज्रतंत्र, आगम, योगरत्नमाला, सेकोद्देश, बोधिचर्यावतार, मध्यमकशास्त्र, अप्रतिष्ठानप्रकाश, द्विकल्प, सूतक आदि। सिद्धों में सरहपाद की रचनाओं को सबसे अधिक प्रमाण रूप में उद्धृत किया गया है।

———

* 'दोहाकोषों' में राहुल सांकृत्यायन ने अद्वयवज्र की एक विस्तृत जीवनी को खोज कर प्रकाशित किया है।

परिशिष्ट–२

डाकार्णव

इस समय डाकार्णव के दो संस्करण उपलब्ध हैं, प्रथम 'बौद्ध गान ओ दोहा' में तथा दूसरा स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में। 'बौद्ध गान ओ दोहा' के संपादक महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री को यह पोथी दरबार लाइब्रेरी नेपाल से 'चर्याचर्य' के साथ प्राप्त हुई थी।[१] शास्त्री महोदय के कथनानुसार इस एक पुस्तक में प्रचलित भाषा के अनेक गान हैं।[२] वे गान किस भाषा में हैं, इसे वे स्थिर नहीं कर सके। दोहों की भाषा को उन्होंने 'बंगला' कहने की इच्छा व्यक्त की है।[३]

ग्रंथ का आरंभ 'ओं नमः सर्व्ववीरवीरेश्वरीभ्यः' से किया गया है। आरंभ में ही "एवं मया श्रुतमेकस्मिन् समये भगवान् महावीरेश्वरसर्व्वतथागतवीरकायवाक्चित्तयोगिनीभगेषु क्रीड़ितवान्।" का प्रयोग है।[४] इसी प्रकार का प्रयोग श्री गुह्यसमाजतंत्र या तथागतगुह्यक के प्रथम पटल के आरंभ में भी मिलता है—"एवं मया श्रुतम्। एकस्मिन् समये भगवान् सर्वतथागतकायवाक्चित्त हृदयवज्रयोषिद्भगेषु विजहार।" इसे डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने बौद्ध तंत्रों की संगीति पद्धति के नाम से अभिहित किया है।

---

१. बौ० गा० दो०, मुखबंध, पृ० १८।

२–३. वही, पदकर्त्तादेर परिचय, पृ० ३५।

४. वही, पृ० १२७।

तथागतगुह्यक में तथागत बौद्ध भिक्षुओं, बोधिसत्त्वों, भिक्षुणियों आदि से घिरे हुए दिखाए गए हैं।[५] किंतु डाकार्णव में ऐसी बात नहीं दिखाई देती। इसमें हिंदू तंत्रों की देवता-देवी की संवादपद्धति का अनुसरण किया गया है। उपरोक्त वाक्य के अतिरिक्त संपूर्ण डाकार्णव में किसी भी अन्य स्थान में गद्य का प्रयोग नहीं मिलता। संपूर्ण ग्रंथ भगवान् महावीरवीरेश्वर डाकिनी-स्वामी का वाराही देवी को दिया गया उपदेश है। वाराही देवी बीच बीच में जिज्ञासा करती हैं और उसके समाधान में डाकिनीस्वामी उपदेश देते हैं। ग्रंथ में संस्कृत में उपदेश दिया गया है, और बीच बीच में अपभ्रंश के पद्यांश भी हैं। शास्त्री महोदय के संस्करण में प्रथम, द्वितीय, तृतीय, षष्ठ, दशम, चतुर्दश, पञ्चदश और त्रयोविंश पटल हैं। बीच के पटलों का कोई उल्लेख नहीं है। इनमें से केवल प्रथम, द्वितीय और तृतीय पटल की पुष्पिकाएँ मिलती हैं। तृतीय पटल की पुष्पिका में लिखा गया है—

"इति श्री डकार्णवमहायोगिनीतंत्रराज्ये डाकिन्योत्पत्तिलक्षणसुखसञ्चार-कर्म्मतत्त्वव्यवस्थाविधि पटलः तृतीयः।"[६]

हिंदू तंत्रों के समान ही डाकार्णवतंत्र के परिच्छेदों को 'पटल' कहा गया है।

दूसरा संस्करण डा० नगेंद्रनारायण चौधरी का है। इसमें संपूर्ण डाकार्णवतंत्र का संपादन न कर केवल उसके अपभ्रंश अंश का संपादन किया गया है। संशोधित अपभ्रंश छंदों के साथ उनकी संस्कृत छाया और शास्त्री महोदय द्वारा संपादित अपभ्रंश अंश भी दिये गये हैं। तिब्बती अनुवाद और टिप्पणियों से समलंकृत किया गया है। टिप्पणियों में अपभ्रंश पिंगलशास्त्र की दृष्टि से भी छंदों का विचार किया गया है।

महामहोपाध्याय शास्त्री महोदय ने नेपाल से प्राप्त केवल हस्तलिखित प्रति के आधार पर संपादन किया था। चौधरी महोदय ने डा० ग्विसेप

---

५. गुह्यसमाजतंत्र, पृ० १–२।

६. बौ० गा० दो०, पृ० १२४।

तुसी से प्राप्त एक अन्य हस्तलिखित प्रति तथा कंजुर में प्राप्त होनेवाले उसके तिब्बती अनुवाद के आधार पर उन छंदों का अपना एक संस्करण प्रस्तुत किया है। आवश्यकता इस बात की है कि तिब्बती पोथियों के आधार पर संशोधित संपूर्ण डाकार्णवतंत्र का संपादन किया जाय, क्योंकि उसके संस्कृत श्लोक साधनापद्धति और सिद्धांतों का विवेचन करते हैं, जिनको श्री चौधरी ने अपने संस्करण में छोड़ दिया है।

इस ग्रंथ का संक्षिप्त नाम 'डाकार्णव' है किंतु जैसा पहले कहा जा चुका है, पुष्पिका में इसका नाम 'श्री डाकार्णवमहायोगिनीतंत्रराज्य' दिया गया है। डा० चौधरी का मत है कि इसका वास्तविक नाम 'श्री डाकार्णव महायोगिनीतंत्रराज' होना चाहिये। इसकी पुष्टि उन्होंने तिब्बती अनुवाद के आधार पर की है। 'डाकार्णव' शब्द का अर्थ है 'ज्ञानार्णव'। प्रथम पटल की पुष्पिका में ही कहा गया है—'इति श्री डाकार्णवमहायोगिनीतंत्र-राज्ये ज्ञानार्णवावतारः प्रथम पटलः।' इसी प्रकार इस ग्रंथ में अन्य स्थानों पर भी डाकार्णव शब्द की व्याख्या के लिये 'ज्ञानार्णव', 'ज्ञानसागर' आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। इस ग्रंथ में जिस प्रकार डाकिनी को 'ज्ञान की देवी' कल्पित किया गया है उसी प्रकार तिब्बती में भी। डाकिनी शब्द 'डाक' का स्त्रीलिंग है। इस प्रकार डाक का अर्थ ज्ञान या प्रज्ञा है। यह 'डाक' शब्द वैदिक या लौकिक संस्कृत का नहीं है। चौधरी महोदय का मत है कि यह शब्द तिब्बती स्रोत से आया है। प्रमाण यह है कि मध्यकालीन तथा आधुनिक भारतीय आर्यभाषा में अनेक तिब्बती शब्द मिलते हैं। 'डोम', 'डोंब' या 'डोंबी' शब्द भी तिब्बती स्रोत से आये हैं जिनके अर्थ बुद्धिमान् या बुद्धिमती हैं। पूर्वी भारत का तिब्बत से घनिष्ठ संबंध था, जिसकी पुष्टि ह्वेन्त्सांग के कथन से भी होती है।[७]

डाकार्णव संगीति पद्धति में लिखा गया एक बौद्ध तंत्र है। चौधरी महो-

---

७. डाकार्णव, चौधरी, इंट्रो०, पृ० ५–७।

दय के कथनानुसार इस ग्रंथ में ५१ पटल हैं। इस ग्रंथ को उन्होंने वज्रयान के अंतर्गत स्वीकार किया है।[८] डाकार्णव शून्यवादी सिद्धांत का अनुगमन करता है। संसार में सुखसंपत्ति की प्राप्ति के लिये उसने मंत्र, यंत्र, मुद्रा, धारणी, योग और समाधि को साधन के रूप में स्वीकार किया है। शून्य शब्द का प्रयोग यहाँ वज्र के लिये किया गया है।

डा० चौधरी के पूर्व डाकार्णव की भाषा और उसके समय पर किया गया कोई भी निर्णय प्रकाश में नहीं आया था। इस ग्रंथ में कोई भी ऐसा शब्द नहीं है जिसके आधार पर उसका काल निर्णय किया जा सके। इसमें लेखक का भी उल्लेख नहीं है। ऐसी स्थिति में कालनिर्णय के लिये भाषा और लिपि, दो ही आधार शेष रह जाते हैं। इसकी भाषा से यह स्पष्ट होता है कि यह अपभ्रंश भाषा से पूर्ण रूप से परिचित नहीं है। इसकी भाषा मरणासन्न अपभ्रंश के रूप में है। दोहाकोष और डाकार्णव की भाषा की तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी भाषा, दोहाकोष की भाषा से, जिसका समय १२वीं शताब्दी है, पुरानी नहीं है। डा० चौधरी ने डाकार्णव की हस्तलिखित प्रतियों की लिपि तथा उत्तर भारतीय लिपि के अ, आ, इ, ए, क, ग, छ, ण, त, द, न, भ और ह वर्णों के आकार की तुलना कर यह निष्कर्ष निकाला है कि दरबार लाइब्रेरी से प्राप्त डाकार्णव की प्रति तेरहवीं शताब्दी की है। इस प्रकार लिपिविज्ञान और भाषाविज्ञान, दोनों की दृष्टि से विचार कर उन्होंने डाकार्णवतंत्र का समय १३ वीं शताब्दी माना है।[९]

इसके साथ ही उत्तरकालीन अपभ्रंश (पतनोन्मुख अपभ्रंश) की भाषा संबंधी विशेषताओं का विचार उन्होंने भाषा के तत्वों की दृष्टि से किया है। इसकी भाषा को शौरसेनी अपभ्रंश पर आधारित तथा आधुनिक भारतीय

---

८. वही, इंट्रो०, पृ० ७।
९. वही, इंट्रो०, पृ० १६–१८।

आर्यभाषाकाल में विकसित कृत्रिम अपभ्रंश माना है। उनकी दृष्टि में इसके ऊपर संस्कृत तथा मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की साहित्यिक प्राकृत का प्रभाव है।' इसमें अनेक बंगला शब्द तथा अभिव्यक्तियाँ भी मिलती हैं। इसका व्याकरण प्रधानतया शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश पर आधारित है। कर्त्ता में 'उ', संबंध में 'अह' आदि इसी समानता की ओर संकेत करते हैं। उसी प्रकार सर्वनाम के रूप (प्रोनॉमिकल फार्म्स), यथा जो, सो, को, जिनके बंगला रूप जे, मे, के हैं तथा जिम्म, तिम्म (यथा, तथा) आदि भी इस ग्रंथ में मिलते हैं। डा० चौधरी का सुझाव है कि इसकी भाषा की तुलना सरलतापूर्वक 'प्रिथीराज रासु' से की जा सकती है, जिसकी रचना, उनकी दृष्टि में, पुरानी हिंदी में हुई है। दोनों पर ही शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव है।

इस ग्रंथ की भाषा का आधार पूर्वी बंगाल की बोली मालूम होता है। शब्दों का उच्चारण पश्चिमी बंगाल की अपेक्षा पूर्वी बंगाल के अधिक निकट है। उनका यह भी कहना है कि लिपिकों के नेपाली होने, उनके वहीं के निवासी होने के कारण तथा उनके बंगला की अपेक्षा शौरसेनी अपभ्रंश से अधिक परिचित होने के कारण इस ग्रंथ की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश से बंगला की अपेक्षा, अधिक प्रभावित है यद्यपि इसका निर्माण बंगला में ही हुआ था।[10] किंतु इस ग्रंथ का निर्माण बंगाल में ही हुआ था, इसके लिये चौधरी महोदय ने कोई भी प्रमाण नहीं दिया है। उपरोक्त आधारों पर ही संपादक ने डाकार्णव के अपभ्रंश छंदों की भाषा का विचार उसके ध्वनितत्व, संबंधतत्व और क्रियाविचार आदि के उपपरिच्छेदों में किया है।[11]

इस संस्करण में छंदःशास्त्र की दृष्टि से किया गया डाकार्णव के अपभ्रंश छंदों का विचार परवर्ती तत्कोटीय साहित्यविवेचन के लिये अत्यधिक महत्व-

१०. वही, इंट्रो०, पृ० १९–२० ।
११. वही, इंट्रो०, पृ० २०–२३ ।

पूर्ण है। अपभ्रंश छंदों के लक्षण डाकार्णव के अपभ्रंश छंदों पर घटते हैं। विशेषता यह है कि मात्राओं की संख्या और उनका स्थान, सब की व्यवस्था में गेयता का विशेष ध्यान रखा गया है क्योंकि प्राकृतपैंगलम् और हैम छंदोनुशासन के सूत्र इन छंदों पर आदि से अंत तक नहीं घटते। गेयता को प्रमुखता देने के कारण, सूत्रों को ध्यान में रखते हुए भी, कहीं कहीं पंक्तियाँ छोटी बड़ी हो गई हैं। कई स्थानों पर पंक्तियों की रचना भी दोषपूर्ण है। इसके सभी छंद मात्रावृत्त हैं जिनमें चोपाई, चौपाई या पादाकुलक या कुलपाई छंदों की संख्या अधिक है।[१२] अन्य प्रयुक्त छंद हैं—वज्र, सहकारकुसुममंजरी, भ्रमरद्रुतम्, कुसुमितकेतकीहस्त, द्विपदी, उपदोहक, अप्सरोविलसितम्, अनंगललिता, आर्या, मन्मथविलसितम्।

'बौद्धगान ओ दोहा' में संपादित डाकार्णव का थोड़ा सा विवेचन पहले किया जा चुका है। उसकी विषयवस्तु का साधनात्मक और रहस्यात्मक मूल्य भी है। भारतीय साहित्य की कुछ परंपराओं का पालन भी कहीं कहीं मिलता है। बताया गया है कि डाकार्णव तंत्र ग्रंथ है। इसमें हिंदू तंत्रों की विवेचनपद्धति, कथनपद्धति और 'पटल'नामकरणपद्धति का अनुसरण किया गया है। इस तंत्र ग्रंथ के उपदेष्टा महावीरेश्वर हैं और श्रोता दिव्य पद्मिनी देवी वाराही। तंत्रों में चर्या, क्रिया और आचार की प्रधानता होती है। यहाँ भी उपदेश की अपेक्षा चर्या (आचार) को प्रधानता दी गई है। महावीरेश्वर चर्या के बाद उपदेश देते हैं।[१३] यह कहा जा चुका है कि डाकार्णव बौद्ध तंत्र है। करुणा भावना के साथ प्रज्ञा का संयोग सुखोत्पादक माना जाता है। महायान का करुणा तत्व डाकार्णव में भी स्पष्ट है। पौराणिक ग्रंथों में जीवों के उपकार के लिए जिस प्रकार भगवच्चरित्र सुनाया

१२. वही, इंट्रो०, पृ० ३३–३४।

१३. महावीरेश्वराह। शृणवेकाग्रमना देवि वाराहि दिव्यपद्मिनी। कथयामि समासेन लक्षणं पूर्व्वंचर्य्यया। बौ० गा० दो०, पृ० १२७।

जाता है, ज्ञानोपदेश किया जाता है, उसी प्रकार यहाँ देवी वाराही जीवों के उपकार के लिये, डाकिनीस्वामी से उपदेश की प्रार्थना करती हैं।[१४]

ऊपर कहा जा चुका है कि डाकार्णव संगीति है। संगीति का अर्थ डा० चौधरी ने 'साथ साथ गाना' (समवेत गान) किया है। इसका तिब्बती अनुवाद कंजुर में मिलता है, तंजुर में नहीं, जिसमें अन्य तंत्रों के तिब्बती अनुवाद मिलते हैं। संगीति साहित्य से संबद्ध होने के कारण डाकार्णव के अपभ्रंश के अंशों को गान के रूप में स्वीकार करना चाहिये। महामहोपाध्याय शास्त्री महोदय ने इन्हीं गानों की भाषा के विषय में अनिश्चय व्यक्त किया है। डाक्टर चौधरी का कथन है कि इस ग्रंथ में जितने भी अपभ्रंश छंद हैं, सभी में गेयता को इतनी अधिक प्रमुखता दे दी गई है कि छंदों के सभी लक्षण उनपर नहीं घटते। इसीलिये उन्होंने प्रायः सभी अपभ्रंश छंदों को गान के रूप में स्वीकार कर लिया है। शास्त्री महोदय ने जिस दोहा छंद की ओर संकेत किया है, वह डा० चौधरी द्वारा बताए गए छंदों में नहीं मिलता। मध्यकालीन हिंदी साहित्य में प्रयुक्त दोहा छंद के लक्षण उपदोहक या द्विपदी, किसी पर भी नहीं घटते। जहां तक गानों का संबंध है, डाकार्णव में अपभ्रंश रचना के लिए एक स्थान पर 'महागीत' शब्द का प्रयोग मिलता है। इसके अतिरिक्त त्रयोविंश पटल में 'टेक पद्धति' का प्रयोग दिखाई पड़ता है।[१५] चर्यागीतियों की परंपरा का विचार करते समय संगीति पद्धति में लिखे गए इस ग्रंथ के गेय अपभ्रंश छंदों का विचार महत्वपूर्ण हो सकता है। विभिन्न प्रतियों के आधार पर संपादन करने के कारण डा० चौधरी के डाकार्णव के अंतिम दो छंद 'बौद्धगान ओ दोहा' के 'डाकार्णव' में नहीं मिलते। पहले

---

१४. 'कथयन्तु मम स्वामि सत्त्वानामुपकारकम्।' वही, पृ० १२९।

१५. 'इदं श्रुत्वा महागीतं प्रबुद्धं योगिचक्रकं।' वही, पृ० १५४, १५८।

ही बताया जा चुका है कि शास्त्री जी के डाकार्णव में कुल २३ पटल हैं। श्री चौधरी ने अपभ्रंश छंदों का विभाजन २८ विभागों में किया है।

डाकार्णव तंत्र साधनापरक अधिक है। इसमें यंत्र, मंत्र, योग आदि का विवेचन अधिक विस्तार से किया गया है। दार्शनिक और सिद्धांतपरक विचारों का यत्र-तत्र संकेत मिलता है। म० म० शास्त्री के संस्करण के संस्कृत अंश और डा० चौधरी के संस्करण के अपभ्रंश अंशों पर विचार कर साधनात्मक और दार्शनिक या रहस्यात्मक विचारों का विवेचन उपस्थित किया जा सकता है।

कहा जा चुका है कि डाकार्णव भारतीय साहित्य की तंत्र कोटि में आता है। हिंदू तंत्रों में पशु, वीर और दिव्य, तीन प्रकार के आचार माने जाते हैं। इस तंत्र में वीरों को बार बार संबोधित किया गया है। साधकों के स्वभाव पर विशेष ध्यान दिया गया है। संक्षेप में यह डाकार्णवतंत्र स्वभाव के अनुसार वीर साधकों को दिया गया ज्ञानोपदेश है।[१६] इस तंत्र में सैंतीस योगिनियों का वर्णन है।[१७] यंत्र चक्र का उपदेश अत्यधिक विस्तार से दिया गया है।[१८] डाकार्णव के अनुसार संसार से बाहर निर्वाण कोई अन्य वस्तु नहीं है। अंतरालस्थित चित्त समरस होता है। इस चित्त और महामंडलयोग के योग से डाक या ज्ञान का उदय होता है।[१९] जिन जिन प्राणियों में विषयजल रहता है, उनका उनके कर्मों के अनुसार ही मरण होता है। प्रज्ञाचक्र ही ऐसा चक्र है जो विषय का भंजन करनेवाला

---

१६. 'वीराश्च स्वस्वभावेषु शृण्वन्तु ज्ञानसागरान्।' वही, पृ० १२७।

१७. वही, पृ० १३४।

१८. वही, पृ० १३७-१३८।

१९. 'निर्वाणं नान्य वस्त्वस्ति संसारस्य वहिर्गतं।' तथा 'अन्तरालेषु यच्चित्तं तच्चित्तं समरसीगतम्। डाकः सम्भवते तस्मात् महामण्डलयोगतः'। वही, पृ० १२८।

है।[२०] यह प्रज्ञा तत्व बौद्धों का शक्ति तत्त्व है। यही बौद्धों की भगवती है। हिंदू तंत्रों में शक्ति साधना के लिए गुरु या मार्गनिर्देशक की महत्ता स्वीकार की गई है। बौद्धों में बुद्ध को 'शास्ता' भी कहा जाता है। वे ही बौद्धों के आदि गुरु हैं। डाकार्णव में महावीरवीरेश्वर को भी 'शास्ता' पद से विभूषित किया गया है।[२१] ललना और रसना नाड़ी को ही प्रज्ञा और उपाय बताया गया है। इन दोनों के मिलन का आधार अवधूती है। वहीं दोनों को समरसता प्राप्त होती है।[२२] महावीरवीरेश्वर को ही इतस्ततः वज्रडाकतथागत, वज्रधर, वज्रसत्त्व आदि शब्दों से भी संबोधित किया गया है। हिंदू तंत्रों में तर्क को प्रमाण न मानकर अनुभव को प्रमाण माना गया है। डाकार्णव का कथन है कि तार्किक लोग अगम्य महाबोधिनय को नहीं जानते और न बालयोगियों को ही इसका ज्ञान हो सकता है। श्रेष्ठ योगिनियों को लक्ष्य के रूप में स्वीकार करनेवाले योगी इसे इसी जन्म में ही जान सकते हैं।[२३] डाकार्णव के संस्कृत अंशों के उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसके सिद्धांत वज्रयान के सिद्धांतों से भिन्न नहीं हैं। अपभ्रंश अंशों के विवेचन से भी इन्हीं विचारों की पुष्टि होती है।

डाकार्णव तंत्र वज्रयान का ग्रंथ है। इस तंत्र ने मंत्र, यंत्र, मुद्रा,

---

२०. 'येषां येषां तु सत्त्वानां उत्पत्तिविषयाम्बुजाः। तेषां तेषां तु सत्त्वानां मरणं स्वस्य कर्मणा ॥ प्रज्ञाचक्रं तदाख्यातो विषयादि तु भञ्जनम्।' वही, पृ० १४६।

२१. 'इत्याह भगवान् शास्ता महासमयनायकः।' वही, पृ० १४७।

२२. 'ललना रसना नाड़ी प्रज्ञोपायश्चमेलकः। आधारावधूती स्यात्तु समरसं यत्र तन्नगं।' वही, पृ० १५०।

२३. 'तार्किका न प्रजानन्ति अगम्यं बालयोगिनाम्। योगिनीवरलक्षश्च जनन्तीहैव जन्मनि ॥' वही, पृ० १५५।

धारणी, योग और समाधि को, संसार में सुखसंपत्ति की प्राप्ति के लिये साधन के रूप में स्वीकार किया है। अद्वयवज्रसंग्रह के समान ही यहाँ भी वज्र को शून्य का पर्याय माना गया है। यहाँ माध्यमिकों के अर्थ को स्वीकार नहीं किया गया है।[२४] डाकार्णव का मूल उपदेश सहजस्वभाव में निहित है—

केवल सहजसहाउ रि दिसई।

इस विश्व में सर्वत्र ही सहज सिद्धांत की देशना हो रही है। यह सहज तत्व ही सुर, असुर, त्रिभुवन का नाथ है। यह इंद्रियों से परे है।[२५] वज्रयान के इस ग्रंथ में सहज की यह महत्ता देखकर ही दार्शनिक आधारों का विवेचन करते हुए डा० चौधरी ने यह मत स्थापित किया है कि वज्रयान और सहजयान में तत्वतः कोई भेद नहीं। डाकार्णव को वज्रयान का ग्रंथ मान लेने पर तथा इस सहजतत्व के विवेचन को देखकर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इसी दृष्टि से वे सहज और वज्र को एक मानते हैं क्योंकि पृथ्वी का प्रत्येक प्राणी वज्रधरत्व प्राप्त करने का अधिकारी है और इसका अधिकार उसे जन्म से ही प्राप्त है। 'सर्ववीरवीरेश्वरीभ्यः' का अर्थ भी उन्होंने उन वीर साधकों से लगाया है जो वामाचार और वीरेश्वरी की साधना से सिद्धि प्राप्त करते हैं। वीरेश्वरी वे हैं जो वामाचार की सहायता से सिद्धि प्राप्त करती हैं। स्पष्टतया उन्होंने घोषित किया है कि डाकार्णव तंत्रों के वामाचार का अनुसरण करता है जो सहज साधना का आधार सिद्धांत है।[२६]

डाकार्णव के सिद्धांतों का मूल आधार वह योगाचार मत माना गया है जिसमें चित्त को सर्वाधिक महत्ता प्राप्त है। मन ही मोक्ष और बंधन दोनों का कारण है। बुद्ध ने भी चित्त शोधन पर विशेष जोर दिया है। कामना या

२४. डाकार्णव, चौधरी, इंट्रो०, पृ० ९।

२५. वही, पृ० १४३।

२६. वही, इंट्रो०, पृ० १०।

वासना या मार ही मृत्यु है। अतः इसके नियंत्रण की आवश्यकता है। वासनाप्रणाश तथा ज्ञानवृद्धि से चित्त सुखप्रफुल्ल होता है। चित्त की सुखावस्था से उसमें अनंत करुणा का उदय होता है। काम या वासना के अवरोध से ही बोधिचित्तोत्पाद होता है। इसी से निर्वाण की प्राप्ति, जन्ममरण के चक्र से मुक्ति मिलती है। डाकार्णव के अपभ्रंश छंद इन्हीं सिद्धांतों का प्रकाशन करते हैं। कहा गया है कि परम महासुख वज्र है, उसी में रमण करो। प्रज्ञोपाय से सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये। साधक को लोगों के प्रति करुणा की भावना करनी चाहिये।[२७] वज्र का पद्म में रमण कराने तथा निबोधन कर शून्यसमाधि में लीन होने की बात कही गई है। इस तंत्र का कथन है कि सहज रूप से आनंदित करनेवाली डाकिनी के संयोग से जरामरण के प्रतिभास दिखाई नहीं देते।[२८] हिंदू तंत्रों में जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी में शिवशक्ति तत्व माना जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी कहा गया है कि सभी मनुष्य बोधिस्वभावसंयुक्त है। इस तत्व को न जाननेवाले मुग्ध, मोहित या बालक हैं। वही मनुष्य वज्रधर है जो सर्वसारस्वरूप योगिनी तत्व में सदैव निवास करता है।[२९] महासुख तत्त्व इंद्रियभ्रांतियों से भिन्न है।

---

२७. वही, इंट्रो०, पृ० १२।
'रम रम परम महासुह वज्जु प्रज्ञोपायइ सिज्जउ कज्जु। लोअह करुणा भावहु तुम्म।' वही, पृ० १२२।

२८. रामय वज्ज पम्मे अजुह निबोहइ जि सह सुण समाहिअ अच्छइ तुम्म।'
वही, पृ० १२३।
तथा—'डाइनि सहजरूइ आनन्दइ जरण मरण पडिहासि न दिस्सइ।'
वही, पृ० १२६।

२९. 'बोहि सहावइ सबभु जनु मोहिअ बालहु अविजिनु।
जुइन्नि तत्तु सबभु सारु जोहि सो नरु वज्जधरु॥'
वही, पृ० १२८।

उस क्षेत्र में पराया और अपना नहीं रहता। उस क्षेत्र में निवास करने के लिये सहजसुंदरी को लेकर महासुख में स्थित हो जाओ। महापशुलोक इसे नहीं जानता। त्रिभुवन में सभी लोग बुद्धस्वभाव के हैं। करुणा युवती को लेकर उसी बुद्धस्वभाव में रमण करना चाहिये। परमार्थ की भावना (संवृति की नहीं) न करने से बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती।[30]

ये सभी कथन यह सिद्ध करते हैं कि डाकार्णव वज्रयान का ग्रंथ है। डा० चौधरी के द्वारा इसका समय लगभग १३ वीं शताब्दी निश्चित किए जाने से यह कहने में पर्याप्त सरलता हो जाती है कि डाकार्णव से दोहाकोषों के बाद के तांत्रिक बौद्ध दर्शन और साधना का परिचय मिलता है। पहले कहा जा चुका है कि सहजयान की साधना दिव्याचार की साधना है तथा वज्रयान को वीराचार की साधना कहा गया है। किंतु अद्वयवज्रसंग्रह और डाकार्णवतंत्र, दोनों ही यांत्रिक-मांत्रिक साधना के साथ ही सहज साधना का भी विवेचन करते हैं। अतः ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि लगभग ११वीं-१२वीं शताब्दी के बाद से ही कुछ साधक तथा आचार्य ऐसे अवश्य थे जो वीराचार और दिव्याचार, दोनों को समान महत्त्व देते थे। डाकार्णव तंत्र में एक विशेष बात यह भी द्रष्टव्य है कि उसके केवल अपभ्रंश छंदों में सहजतत्व तथा साधना का विवेचन मिलता है और इसके विपरीत संस्कृत श्लोकों तथा कुछ अपभ्रंश छंदों में यांत्रिक-मांत्रिक साधना का विवेचन मिलता है।

———

३०. 'इंदिय भन्ति महासुह मन्नसि ता खनि पर ण अपान तजाइ।'
वही, पृ० १४०।
'आरि रि रि महापशुलोअ न जाइ। सहजसुन्दरि लइ महसुह ठाइ।
तिहुअण सयलह जन बुद्ध सहाइ। करुणा जुवइ रमउ सहाइ॥
आरि जि तुमि परमात्थु न भावहु। ते तुमि सहि बुद्धत्त न भावहु॥'
आदि, वही, पृ० १४१।

परिशिष्ट–३

तारानाथ और उनका इतिहास

बौद्ध साहित्य का विवेचन करते समय और विशेषकर उत्तरी बौद्ध धर्म पर विचार करते समय तारानाथ के इतिहास की सहायता लेना आवश्यक हो जाता है। बौद्ध धर्म के विकास के संबंध में जनप्रचलित विचारों का जितना विपुल भंडार तारानाथ ने संकलित किया है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। इतिहास जहाँ मौन है वहाँ तारानाथ का इतिहास हमें सहायता देता है। इसीलिये तारानाथ और उनके इतिहास का एक संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

श्री राहुल सांकृत्यायन ने अपने 'तिब्बत में बौद्ध धर्म' पुस्तक में चोङ्-ख-प युग (१३७६–१६६४ ई०) का विवरण प्रस्तुत करते हुए लामा तारानाथ का संक्षिप्त परिचय दिया है। "लामा तारानाथ का जन्म १७७५ ई० में हुआ था। असली नाम 'र्ग्यल्-खङ्-प कुन-दगऽ-स्जिङ्-पो'' था। यद्यपि इनका अध्ययन बु-स्तोन् या चोङ्-ख-प की भाँति गंभीर न था, तो भी यह बहुश्रुत थे। इन्होंने बहुत सी पुस्तकें लिखीं, जिनमें भारत में बौद्ध धर्म के इतिहास विषय की भी एक है। सर्वप्रथम इसी इतिहास का यूरोपीय भाषा में अनुवाद होने से तारानाथ का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इनके अनूदित ग्रंथों में अनुभूतिस्वरूपाचार्य का 'सारस्वत' भी है, जिसका उन्होंने कुरुक्षेत्र के पंडित कृष्णभद्र की सहायता से अनुवाद किया था।"[1]

तारानाथ के उपरोक्त समय में मुद्रण त्रुटि है। परिशिष्ट में (पृ० 'श' पर) उनका जन्म समय १५७५ ई० दिया गया है। राहुल जी ने तारानाथ-कालीन तिब्बत की जिस धार्मिक परिस्थिति का विवरण दिया है, उससे पता

---

१. तिब्बत में बौद्ध धर्म, राहुल सांकृत्यायन, पृ० ५५।

लगता है कि उस समय वहाँ के धार्मिक संगठन, सैनिक संगठन में रूपांतरित हो रहे थे। विहारादिकों पर अधिकार करने के लिये सैनिक सहायता आवश्यक समझी जाने लगी थी। उस समय भी चोङ्-ख-प जैसे बौद्ध संगठन अपनी धार्मिकता, विद्यानुराग और सद्धर्म-प्रचार के लिये प्रयत्नशील थे। उस वातावरण में भी तारानाथ ने विद्यार्जन कर अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया।[२]

वेडेल ने तारानाथ का जन्म काल १५७३ ई० माना है। उनके अनुसार तारानाथ के पिता का नाम नम्-ग्यल्-पोंत्सागस् था। बाल्यावस्था में इनका नाम कुंद्-गाह्-स्नियन्पो या 'सुखसार' था। इन्होंने जोनंग विहार में, जो सक्य के उत्तर में था, तारानाथ के धार्मिक नाम से अध्ययन किया था। ४१ वर्ष की अवस्था में इन्होंने एक विहार बनवाया जिसका नाम इन्होंने तेंग-ग्रतेन रखा। उसे उन्होंने बहुत सी मूर्तियों, पुस्तकों, चैत्यों आदि से अलंकृत किया। बाद में ये निवासियों के आमंत्रण पर मंगोलिया गये और वहाँ भी अनेक विहारों की स्थापना चीनी सम्राट् की अध्यक्षता में की। इनका देहांत मंगोलिया में ही हुआ।[३]

तारानाथ ने अपना इतिहास तिब्बती में लिखा था। इसका सबसे पहले अनुवाद ग्रुएन्वेडल ने जर्मन में किया था। यह ग्रंथ बौद्ध भारत का धार्मिक सामाजिक इतिहास प्रस्तुत करता है। जर्मन अनुवाद का प्रकाशन १९१४ में हुआ था। इस जर्मन अनुवादक ने स्वीकार किया है कि इस 'इतिहास' से शुद्ध ऐतिहासिक सामग्री की आशा करना निरर्थक है। राहुल जी के कथनानुसार तारानाथ का ज्ञान गंभीर नहीं था। विद्वान् की अपेक्षा तारानाथ बहुश्रुत अधिक थे। इसलिये ऐसा समझा जा सकता है कि तारा-

२. वही, पृ० ५५–५७।

३. दि बुद्धिज्म आव टिबेट आर लामाइज्म—एल० ए० वेडेल, टि० ७० के आधार पर।

नाथ के इतिहास का मूलस्रोत जनश्रुतियाँ हैं। दूसरी बात यह है कि तारानाथ ने पारंपरिक ज्ञान को विशेष महत्त्व दिया है। गुरु-शिष्य-परंपरा से प्राप्त ज्ञान का विवरण, उसके माहात्म्य का वर्णन, उनके इतिहास की विशेषता है। इसीलिये इतिहास में वर्णित उपदेश की सामग्रियों की पारंपरिक स्वीकृति की ओर भी संकेत कर दिया गया है।

तारानाथ के गुरु का नाम था बुद्ध गुप्तनाथ। अपने गुरु के दैवी संरक्षण में तारानाथ ने बड़े उत्साह से उनके पूर्व के उत्तराधिकारियों की जीवनी अतिरंजना के साथ लिखी है। प्रो० ग्रुएन्वेडेल की दृष्टि में इस ग्रंथ में द्रष्टव्य बातें हैं—

१—पुराने ध्वंसावशेषों का वर्णन। २—मंदिर। ३—धर्म। ४—इस्लाम के अनुयायियों द्वारा किया गया ध्वंसकार्य। ५—ब्राह्मण देवताओं, बौद्ध देवताओं और बोधिसत्त्वों के संबंध में सूचनाएँ।

इसके अतिरिक्त परवर्ती भारत के संबंध में तथा चीन में विरूपाओं के उदय के संबंध में भी अनेक सूचनाएँ मिलती हैं। इस ग्रंथ में भारतीय सिद्धों तथा सेन-निन अभिव्यक्ति की मूर्तियों का भी वर्णन मिलता है। उनके इतिहास के अध्ययन से यह पता चलता है कि भारतीय नामों के क्षेत्र में उनकी भाषा प्रचलित तिब्बती नुस्खो पर अधिक अवलंबित है। यह बात व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में विशेष रूप से दिखाई देती है।[४]

तारानाथ के इतिहास को पढ़ने से यह तथ्य भासित होता है कि वे कभी भी भारत नहीं आये थे। उनका भारत का भौगोलिक ज्ञान स्पष्ट नहीं था। उनके व्यक्तियों के नाम और स्थानों के भौगोलिक विवरण में त्रुटियाँ हैं। उनके ग्रंथ से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिसे वे सिद्धि कहते हैं वह

---

४. अंग्रेजी अनुवादक श्री भूपेंद्रनाथ दत्त के ग्रुएन्वेडेल के इंट्रो० के संक्षेप के आधार पर। दे०—मिस्टिक टेल्स आव लामा तारानाथ, अनुवादक—भूपेंद्रनाथ दत्त।

रसायन, टोना, कालाजादू, इत्यादि का ज्ञान था। महायान बौद्ध धर्म किस प्रकार परवर्ती ब्राह्मण धर्म में मिश्रित होकर कैसे भारत से विलुप्त हो गया, इसका पता हमें इस इतिहास से ही लगता है। सिद्धियाँ, साधनाएँ और विश्वास जो इनके ग्रंथ में बताए गये हैं, वे अब भी हिंदुओं में प्रचलित हैं।

इस इतिहास से जो समाजवैज्ञानिक तथा इसी प्रकार की अन्य सूचनाएँ एकत्रित की जा सकती हैं, वे निम्नलिखित हैं—

१–तारानाथ ने जिस काल का वर्णन किया है, उस समय भारत का अन्य देशों से भी संबंध था।

२–'पा' शब्द संस्कृत शब्द 'पाद' का तिब्बती संक्षेप है।

३–'कर्मरू' शब्द भारतीय नाम 'कामरूप' का संक्षेप है।

४–'ओड्वीसा' उड़ीसा है, ओतंतपुरी ओदंतपुरी है, उद्यान या उदयान ही उद्यान (आज का काबुल और स्वात घाटी) है।

५–कुछ बौद्ध सिद्ध जटा धारण करते थे।

६–शराब बेंचने का काम स्त्रियाँ करती थीं।

७–ग्रंथ में अंतर्जातीय विवाह के भी उदाहरण मिलते हैं।

८–ग्रंथ में राजा के एक क्षत्रिय पुरोहित का विवरण मिलता है जो हमें वैदिक काल की याद दिलाता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि पौरोहित्य केवल ब्राह्मणों के लिए नहीं था।

९–सिद्धों की सूची से पता लगता है कि उनमें से कुछ निम्न वर्ण के थे।[५]

डा० भूपेंद्रनाथ दत्त ने सबसे पहली बार तारानाथ के इतिहास का अनुवाद अंग्रेजी में किया। यद्यपि यह सत्य है कि यह अनुवाद मूल तिब्बती से न होकर जर्मन भाषा से किया गया है, फिर भी इसका महत्व कम नहीं

---

५. श्री भूपेंद्रनाथ दत्त के 'प्रीफेस' से।

होता। यह अंग्रेजी अनुवाद 'मिस्टिक टेल्स आव लामा तारानाथ' नाम से किया गया है। इस अनुवाद में ७ उच्छ्वास हैं। इन सात उच्छ्वासों में तारानाथ का संपूर्ण इतिहास न प्रस्तुत कर कुछ महत्वपूर्ण अंशों को उपस्थित किया गया है। प्रथम उच्छ्वास में महाचार्य ब्राह्मण राहुलभद्र या सरह, राहुल के शिष्य शबरिपा, लुइपा, मैत्री या मैत्रीगुप्त का परिचय दिया गया है। इस उच्छ्वास को महामुद्रासाक्षात्कार का उच्छ्वास कहा गया है। इन लोगों की शिष्यपरंपरा निम्नलिखित है—अश्वघोष > स्थविरकाल > ब्राह्मण राहुलभद्र या सरह > आचार्य नागार्जुन > महासिद्ध शबरिपा। शबरिपा के दो शिष्य थे—मैत्री या मैत्रीगुप्त तथा लुइपा। लुइपा के बाद की शिष्यपरंपरा निम्नलिखित है—लुइपा > डोंबीपा > तिल्ली > नारोपा > छोटे डोंबी > कुशलिभद्र।

द्वितीय उच्छ्वास चंडिका का उच्छ्वास है। इसके प्रधान सिद्ध विरूप हैं। इन्हें गुरु से दीक्षा नहीं मिली थी। विरूप के शिष्य का नाम काल विरूप था।

तृतीय उच्छ्वास कर्ममुद्रा का उच्छ्वास है। इसमें इंद्रभूति, सहजसिद्धि, महापद्मवज्र, अनंगवज्र, छोटे पद्मवज्र सरोरुह, छोटे इंद्रभूति, कृष्णाचारी, कल्याणनाथ, अमितवज्र, कुशलिभद्र का परिचय दिया गया है। इन लोगों की शिष्यपरंपरा निम्नलिखित है—इंद्रभूति, सहजसिद्धि > महापद्मवज्र > अनंगवज्र > आचार्य सरोरुह > उदयान के राजा इंद्रभूति—कृष्णाचारी > कल्याणनाथ > अमितवज्र > कुशलिभद्र।

चतुर्थ उच्छ्वास महामुद्रासिद्धि का उच्छ्वास है। वज्रघंटा, महाचार्य अश्वपाद, वीणापाद, रानी लक्ष्मींकरा, योगिनी चिंता (डोंबी या विलास्यवज्रा), कंबल, सिद्ध जालंधर (बालपाद), भरथरी, गोपीचंद्र, गोरक्ष, विभूतिचंद्र, महासिद्ध तांतिपा, छोटे विरूप, कृष्णाचारी, भद्रपाद, महिल, भदल, घम्म, धूम, ललितवज्र, नारो, शांति, अतिश (बड़े), कृष्णाभयवज्र, पि-तो-ह-नु,

जयाकर, काश्मीरी आकरसिद्धि, मनस्करी, धर्ममति, पा 'म-तिन, प्रज्ञारक्षित, असितघन, ज्ञानमित्र, इत्यादि तांत्रिक साधकों का परिचय दिया गया है।

पंचम, षष्ठ तथा सप्तम उच्छ्वास में भी इसी प्रकार गुरु-शिष्यों की परंपरा तथा इनकी सिद्धियों की प्राप्ति का विवरण दिया गया है। पंचम उच्छ्वास में जहाँ विक्रमशील और नालंद विहारों का संक्षिप्त परिचय है वहीं, षष्ठ उच्छ्वास में ८४ सिद्धों की तांत्रिक शिक्षा का क्रम बताया गया है—

नागार्जुन > आर्यदेव > राहुल > चंद्रकीर्ति > प्रभाकर > ज्ञानशक्ति > शांति। तांत्रिक साधना और साहित्य का प्रचार करने वाले विशेष व्यक्ति थे—नारो, मैत्री, ललितवज्र, कुक्कुरी, अभयाकर गुप्त, शुभकर गुप्त। तांत्रिक टीकाओं की परंपरा के लिये षष्ठ उच्छ्वास महत्वपूर्ण है।

सप्तम उच्छ्वास में गोरक्ष के १२ योगिमतों का वर्णन है। मीन, व्यालि, नागार्जुन, आचार्य चर्पटि, सिद्ध मच्छिंद्र का वर्णन मिलता है। सिद्ध मीन के शिष्य थे—हालि, मालि, तांबुलि। मच्छिंद्र के शिष्य थे—चौरंगी, गोरक्षनाथ। मीननाथ, मच्छिंद्र के पिता थे। इनके अतिरिक्त कर्णारि, वैरागीनाथ, नागो, ओंकारनाथ, शांतिगुप्त का भी परिचय दिया गया है।

इस अंग्रेजी अनुवाद को पढ़ जाने पर कुछ और तथ्य उपलब्ध होते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

१—साधकों को अनेक बार दैवी प्रेरणा से उद्यान जाने के लिये कहा गया है।

२—अनेक साधक सिद्ध हो जाने पर नालंदा के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो गए थे।

३—उद्यान को मध्यदेश से पश्चिम की ओर बताया गया है। (पृ० ४०)

४—संपूर्ण सिद्धियों और उनसे संबद्ध चामत्कारिक कथाओं के विवरण का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि सिद्ध लोग सिद्धियों की प्राप्ति करुणा-

प्रसार के लिये ही किया करते थे। राक्षसों, डाकिनियों, पिशाचों से संसार के दुःखी प्राणियों की रक्षा के लिये ये सिद्ध सदैव सन्नद्ध रहते थे।

५—ये सिद्ध बोधिगया (बोद्गया) को वज्रासन मानते थे। अनेक सिद्ध यहाँ के मठ के प्रधान भी बने थे।

६—गांधार देश में धिनकोट नाम का एक पर्वत है।

७—गोरक्ष आदि सिद्धों का वर्णन करते समय मरुप्रदेश का उल्लेख बार बार हुआ है।

८—वाराणसी के मधूसूदन सरस्वती को मधुसूदन वस्ति कहा गया है।

९—अनेक स्थानों पर बौद्धेतर सिद्धों और तान्त्रिकों का पतन बौद्ध-साधकों की प्रतिद्वंद्विता में दिखाया गया है।

इन निष्कर्षों, तथ्यों, विवरणों, गुरु-शिष्य-परंपरा तथा सिद्धिप्राप्ति संबंधी विश्वासों के वर्णनों से पता लगता है कि तारानाथ का यह इतिहास प्राचीन बौद्ध गुरुओं के प्रति किये गये विश्वासों तथा उनके ज्ञान के साथ जनप्रच-लित कथाओं और किंवदंतियों को आधार मानता है। शुद्ध ऐतिहासिकों के लिये भी, इसीलिये, यह ग्रंथ अधिक उपादेय है।

—०—

परिशिष्ट–४

सहजयानी बौद्ध सिद्धों की भाषा

सहजयानी बौद्ध सिद्धों की संस्कृतेतर भाषा की रचनाओं के दर्शन तथा साधना पक्ष का परिचय दिया जा चुका है। उसे हम भावों और विचारों का विवेचन कह सकते हैं। यहाँ हम उन रचनाओं की भाषा पर संक्षेप में विचार करेंगे। उनकी भाषा और अभिव्यक्तिवैशिष्ट्य पर विचार करते समय इस संबंध में दो पक्ष और हमारे सामने आते हैं; प्रथम तो भाषावैज्ञानिक पक्ष है और दूसरा साहित्यिक पक्ष।

इन सिद्धों का अधिक से अधिक विस्तृत समय ७ वीं से लेकर १२ वीं ईस्वी शताब्दी तक है। अतः अनुमान किया जा सकता है कि ये रचनाएँ भी इसी काल में लिखी गई होंगी। इस काल के बाद डाकार्णव जैसी रचनाओं का निर्माण हुआ। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भाषा का विचार करते समय इन बौद्ध सिद्धों के कालविस्तार को प्रमाण मानकर उन रचनाओं को भी उसी काल का नहीं माना जा सकता। इसके लिये दो आधार स्वीकार किए जाते हैं— प्रथम तो हस्तलिपि का समय तथा दूसरे भाषा की विशेषताओं के आधार पर निर्णीत समय।

संस्कृतेतर भाषा में इन बौद्ध सिद्धों की रचनाएँ कम नहीं हैं। बौद्ध गान ओ दोहा का परिचय देते समय २२ सिद्धों के ४७ चर्यापदों तथा सरह तथा काण्ह के दो दोहाकोषों की ओर संकेत किया गया है। डा० प्रबोधचंद्र बागची ने सरहपाद के तीन दोहाकोषों का तथा उसके साथ ही कृष्णपाद और तिल्लोपाद के दोहाकोषों का संपादन 'जर्नल आव दि डिपार्टमेंट आफ लेटर्स, कलकत्ता की २८ वीं जिल्द में किया है। इनमें से पांडुलिपि के आधार पर सरहपाद के दोहाकोषों का समय बागची महोदय ने ११ वीं से १३ वीं

ईस्वी शताब्दी के बीच माना है। तिल्लोपाद के दोहाकोष का समय उन्होंने १३ वीं शताब्दी माना है, यद्यपि पांडुलिपि में प्रतिलिपिकाल नहीं लिखा हुआ है। काण्हपा के दोहाकोष का समय नहीं बताया गया है।[1] चर्यापदों की पोथी को शास्त्री महोदय ने १२ वीं ईस्वी शताब्दी का माना है जब कि भाषा की परीक्षा कर श्री राखालदास बनर्जी ने रचनाओं को १४ वीं ईस्वी शताब्दी तक का माना है।[2] इन चर्यापदों का संपादन बागची महोदय ने उपर्युक्त 'जर्नल' की ३० वीं जिल्द में किया है।

इसके अतिरिक्त संस्कृतेतर भाषा में सिद्धों की अनेक रचनाएँ साधनमाला (दो भाग), डाकार्णव, चर्यापदों की टीका, सेकोद्देश टीका, श्री गुह्येंद्र-तिलकतंत्र, हेवज्रतंत्र आदि ग्रंथों में उद्धृत मिलती हैं। इन रचनाओं में से साधनमाला का समय डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने १२ वीं ईस्वी शताब्दी निश्चित किया है।[3] अतः उसमें संस्कृतेतर रचनाओं को भी लगभग १२ वीं ईस्वी शताब्दी तक का माना जा सकता है। डाकार्णव का निर्माणकाल भाषा तथा लिपि संबंधी विशेषताओं के आधार पर डा० चौधरी ने लगभग १३ वीं ई० शताब्दी निश्चित किया है।[4] नाड़पाद या नारोपा रचित सेकोद्देशटीका की पांडुलिपि का समय संपादक मैरियो ई० कैरेल्ली ने नहीं बताया है। नारोपा का अधिकतम समय तिब्बती सूची के अनुसार दसवीं ईस्वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा ग्यारहवीं ईस्वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। इस आधार पर सेकोद्देशटीका की संस्कृतेतर

---

१. जर्नल आव दि डिपार्टमेंट आफ लेटर्स, वा० २८, प्रीफेस, दोहाकोष, प्र० चं० बागची।

२. ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट आव बेंगाली लैंग्वेज, सुनीतिकुमार चैटर्जी, वा० १, पृ० ११०।

३. साधनमाला, वा० १, प्रीफेस, पृ० १४।

४. डाकार्णव-सं० डा० नगेंद्रनारायण चौधरी, इंट्रो०, पृ० १८।

रचनाओं को भी अधिक के अधिक १२ वीं ईस्वी शताब्दी तक का माना जा सकता है। इस प्रकार यदि विभाजन किया जाय तो चर्यापदों और डाकार्णव की रचनाओं को छोड़कर प्रायः अन्य रचनाएँ १२ वीं ई० शताब्दी के पूर्व की हैं। यह भी कहा जा सकता है कि उपरोक्त तांत्रिक बौद्ध संस्कृतेतर रचनाएँ १४ वीं ई० शताब्दी के पूर्व निर्मित हो चुकी थीं। भारतीय आर्यभाषा के कालों के विस्तार पर विचार करने पर उपरोक्त रचनाओं का काल मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की तृतीय विकासावस्था तथा आधुनिक भारतीय आर्यभाषा की प्रथम विकासावस्था के अंतर्गत माना जायेगा।

भारतीय आर्यभाषा की ध्वनि संबंधी तथा रूपतत्व संबंधी प्रवृत्तियों के परिवर्तन और विकास पर ध्यान देकर उसे प्राचीन भारतीय आर्यभाषा (ईसा पूर्व १५०० ? या ई० पू० १२०० ? से ई० पू० ५५७–४७७ या बुद्धकाल तक), मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा (ई० पू० ६०० से १००० ई० तक) तथा आधुनिक भारतीय आर्यभाषा (१००० ई० से अब तक) के नाम के कालों में बाँटा जा सकता है। इन्हीं आधारों पर मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की तीन अवस्थाएँ दिखाई देती हैं, यथा—प्रथम म० भा० आ० (ई० पू० ६०० से ई० पू० २०० तक), द्वितीय म० भा० आ० (ई० पू० २०० से ५०० या ६०० ई० तक) तथा अंतिम या तृतीय म० भा० आ० (६०० ई० से १००० ई० तक)। ग्यारहवीं शताब्दी के बाद की प्रारंभिक कुछ शताब्दियों को आधुनिक भा० आ० की प्रारंभिक शताब्दियों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस युग में आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ उदित होती हैं।[५]

भाषावैज्ञानिकों ने शौरसेनी (परिनिष्ठित अपभ्रंश), मागधी, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री आदि अपभ्रंशों की कल्पना शौरसेनी, मागधी, अर्द्ध-

५. ओरिजन एंड डेवलेपमेंट आव बेंगाली लेंग्वेज, डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी, वा० १, पृ० १६-१७।

मागधी, महाराष्ट्री आदि प्रकृतों की परंपरा में की है। शौरसेनी प्राकृत की परंपरा में शौरसेनी अपभ्रंश (अवहट्ट), पश्चिमी हिंदी आदि का विकास हुआ है। अर्द्धमागधी प्राकृत की परंपरा में अर्द्धमागधी अपभ्रंश तथा पूर्वी हिंदी (अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी) इत्यादि का विकास हुआ है। उसी प्रकार मागधी प्राकृत की परंपरा में मागधी अपभ्रंश तथा उसकी परवर्ती भाषाओं (मैथिली, मगही, भोजपुरिया; आसामी; बंगला; उड़िया) का; महाराष्ट्री प्राकृत की परंपरा में महाराष्ट्री अपभ्रंश, मराठी और कोंकणी का विकास हुआ है। यह उनका संक्षिप्त क्रमागत विकास है। शौरसेनी प्राकृत का प्रदेश मध्यदेश या कुरु-पांचाल प्रदेश या अंतर्वेद प्रदेश है। अर्द्धमागधी और मागधी प्राकृत का प्रदेश उत्तरी भारत का प्राच्य भाग या कोशल आदि प्रदेश हैं। इसी प्रकार महाराष्ट्री प्राकृत का प्रदेश दाक्षिणात्य या राष्ट्रिक प्रदेश है।[६] भाषावैज्ञानिकों ने यह भी स्वीकार किया है कि इन प्रदेशों की सीमाएँ भी समय समय पर समधिक परिवर्तित होती रही हैं।

कालक्रम से तथा देश की राजनीतिक सामाजिक परिस्थितियों के बदलने से शौरसेनी अपभ्रंश म० भा० आ० की अंतिम अवस्था में संपूर्ण उत्तरी भारत की शिष्टभाषा बन गई। अशोककाल के बाद से ही पूर्वी प्रदेश की स्थानीय बोलियों का साहित्यिक विकास रुक गया। मागधी भी नाटकों में निम्नकोटि के पात्रों की भाषा मानी जाती थी। शौरसेनी, मागधी और अर्द्धमागधी के क्षेत्रों में भी साहित्यिक कार्यों के लिये व्यवहृत होती थी। जिस समय लोगों ने जनप्रचलित भाषा का प्रयोग आरंभ किया था उस समय शौरसेनी शिष्ट लोगों की भाषा थी। अपभ्रंश काल में पूर्वी कवियों ने शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग किया तथा स्थानीय बोलियों का बहिष्कार। इस प्रकार शौरसेनी नाम की साहित्यिक भाषा के प्रयोग की परंपरा, पूर्वी क्षेत्र में, मध्यकालीन आर्यभाषा काल के अतिरिक्त आधुनिक पूर्वी आर्य-

---

६. ओ० डे० बें० लैं०, वा० १, पृ० ६ से संलग्न 'चार्ट'।

भाषाओं के अस्तित्व में आने के कालतक जीवित रही। बंगला के प्राचीनतम कवियों (१०वीं से १३वीं शताब्दी तक—विद्यापति आदि) ने भी शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रदेश की स्थूल सीमा होते हुए भी अपभ्रंशों का प्रसार सीमा का अतिक्रमण कर हुआ करता था। यह भी स्पष्ट होता है कि शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग मागधी आदि अपभ्रंशों के क्षेत्र में भी साहित्यिक रचनाकार्य के लिये शिष्ट भाषा होने के कारण होता था।[७] ऐसी अवस्था में जब कि शुद्ध मागधी अपभ्रंश की रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं, उपरोक्त रचनाओं की भाषा का विवेचन शौरसेनी अपभ्रंश, मागधी प्राकृत प्राचीन बंगला आदि भाषाओं के लक्षणों को ध्यान में रखकर किया जा सकता है।

डा० गजानन वासुदेव तगारे ने रचनाओं के निर्माणक्षेत्रों को ध्यान में रखकर तीन प्रकार की अपभ्रंशों की कल्पना की है—१. पश्चिमी अपभ्रंश (शौरसेन प्रदेश, आज का गुजराती, राजस्थानी और हिंदी का प्रदेश)। २. दक्षिणी अपभ्रंश (महाराष्ट्री का प्रदेश, आज का महाराष्ट्र, बरार और मराठी भाषी प्रदेश, यथा मध्यप्रांत, निजाम शासित प्रदेश तथा उनसे संबद्ध प्रदेश)। ३. पूर्वी अपभ्रंश (मगधी भाषाओं का प्रदेश, यथा बंगाल बिहार और उड़ीसा, जहाँ मागधी की उत्तराधिकारिणी भाषाएँ बोली जाती हैं)। तगारे महोदय ने पश्चिमी अपभ्रंश साहित्य में दोहाकोषों की गणना नहीं की है। पूर्वी अपभ्रंश साहित्य में उन्होंने केवल काण्ह और सरहपाद के दोहाकोषों की गणना की है। दोनों दोहाकोषों का निर्माणक्षेत्र बंगाल तथा निर्माणकाल क्रमशः ७०० ई० से १२०० ई० तथा १००० ई० माना गया है।[८] निर्माणक्षेत्रों के आधार पर रचनाओं को किसी अपभ्रंश विशेष

---

७. ओ० डे० बें० लैं०, वा० १, पृ० ९१।

८. हिस्टारिकल ग्रैमर आव अपभ्रंश, ले० गजानन वासुदेव तगारे, इंट्रो०, पृ०, १५–१६, २०–२१।

की रचनाएँ मान लेने से अनेक अंतर्विरोध उत्पन्न हो सकते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, पश्चिमी अपभ्रंश का प्रसार और प्रयोगक्षेत्र बंगाल तक था। इसके लिये अनेक ऐतिहासिक और भाषावैज्ञानिक प्रमाण हैं। उन्होंने डाकार्णव के अपभ्रंश पद्यों और कीर्तिलता की गणना इस पूर्वी अपभ्रंश के अंतर्गत नहीं की है और उसका कारण उन्होंने यह बताया है कि इनकी रचना १२ वीं ईस्वी शताब्दी के बाद हुई थी। भाषा के आधार पर तगारे महोदय ने सरह को कारह का परवर्ती माना है जिसमें कई दृष्टियों से असंगति मालूम पड़ती है। आश्चर्य यह है कि तगारे महोदय ने पूर्वी अपभ्रंश की विशेषताओं के उद्घाटन के लिये चर्यापदों को न तो उस कोटि में स्वीकार ही किया है और न उनका विचार ही किसी अन्य रूप में किया है। ऐसा मालूम पड़ता है कि चर्यापदों की भाषा अपभ्रंश नहीं कुछ और है। अन्य भाषावैज्ञानिकों ने इनसे सर्वथा विरोधी विचार इन रचनाओं के संबंध में व्यक्त किए हैं। उपरोक्त रचनाओं की भाषा का क्रमशः विचार नीचे किया जा रहा है।

दोहाकोष

कारह और सरह के दोहाकोषों की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश है। इसमें चर्यापदों में प्राप्त होनेवाली बंगला की विशेषताएँ नहीं मिलतीं। किंतु इन रचनाओं का आधुनिक भारतीय आर्यभाषा के विकास की दृष्टि से अत्यधिक महत्व है। पदविज्ञान की दृष्टि से दोहाकोषों की भाषा में कर्ता में 'उ', संबंध में 'अह' और कर्मवाच्य में 'इज' उसके शौरसेनी अपभ्रंश के मूलाधार को प्रकट करने के लिये पर्याप्त हैं। विभिन्न शब्दरूपों से इस तथ्य की पुष्टि होती है।[१]

शब्दकोष की दृष्टि से इनकी भाषा में अनेक पूर्वी प्रयोग मिलते हैं। ये दोहाकोषकार यद्यपि पूर्वी प्रदेशों के रहनेवाले थे फिर भी इन लोगों ने

---

१. ओ० डे० बें० लैं, वा० १, पृ० १११–११२।

शौरसेनी या पश्चिमी अपभ्रंश का प्रयोग किया। इसका कारण था—उत्तरी भारत की राजनीतिक सांस्कृतिक स्थिति। ९ वीं से १२ वीं ईस्वी शताब्दी के बीच उत्तरी भारत के राजपूतों की प्रतिष्ठा तथा उनके भाटों द्वारा उज्जीवित किये जाने के कारण शौरसेनी अपभ्रंश का प्रसार संपूर्ण आर्य भारत में गुजरात और पश्चिमी पंजाब से लेकर बंगाल तक हो गया। यह उस समय संपूर्ण उत्तरी भारत में शिष्टों की भाषा के रूप में सभी प्रकार की काव्यात्मक रचना के लिये व्यवहृत होती थी। उस समय शौरसेनी का बंगला पर प्रभाव बिहार, पंजाब, राजपूताना आदि की भाषा से कम नहीं था। किंतु पूर्वी प्रदेश के निवासियों की मातृभाषा शौरसेनी अपभ्रंश नहीं थी। अतः स्थानीय पूर्वी (=बंगला के) मुहावरों और शब्दों का अनजाने ही प्रवेश उस पूर्वी प्रदेश के कवियों द्वारा प्रयुक्त शौरसेनी अपभ्रंश में हो गया। सरह और कागह के दोहाकोषों के अनेक ऐसे प्रयोग हैं जो आधुनिक आर्यभाषा बंगला के प्रयोगों से मिलते हैं। 'कधिउ राव' (सरह) का बंगला में 'रा काड़ा'; 'भिडि' का मध्ययुगीन बंगला में 'भिड़ि'; 'अच्छ' का बंगला में 'आछ'; 'थक्क' का बंगला में 'थाक'; 'जब्बे' का बंगला में 'जवे'; 'तब्बे' का बंगला में 'तबे', 'छड्डइ' का बं० 'छाड़े'; इत्यादि।[१०] उपर्युक्त आधारों पर डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि दोहाकोषों की भाषा मूलतः शौरसेनी अपभ्रंश है अर्थात् उसकी भाषा का ढाँचा शौरसेनी अपभ्रंश का है। किंतु पूर्वी प्रदेश में वहीं के कवियों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण उसमें यत्र तत्र पूर्वी प्रयोग भी मिलते हैं।

डा० तगारे ने भी दोहाकोषों में कुछ स्थानीय या पूर्वी प्रयोग लक्षित किया है। ध्वनि संबंधी परिवर्तनों में च > ख,क्ख; त्व > तु, च; द्व > दु; व > ब; ष, स > श आदि की ओर उन्होंने संकेत किया है। उन्होंने यह बताया है कि ये सभी प्रयोग दोहाकोषों के पूर्वी लक्षणों से संपर्कित होने के प्रमाण

---

१०. ओ० डे० बें० लैं०, चटर्जी, वा० १, पृ० ११३–११४।

हैं।[11] दोहाकोषों की भाषा के बहुत से प्रयोग और परिवर्तन ऐसे हैं जो उसे परिनिष्ठित अपभ्रंश पर आधारित सिद्ध कर सकते हैं।[12] इन विचारों को ध्यान में रखते समय डा० हरप्रसाद शास्त्री का मत भी नहीं भूलना चाहिए जिसके अनुसार दोनों दोहाकोषों की भाषा प्राचीन बंगला है।

---

११. हिस्टारिकल ग्रामर आव अपभ्रंश–तगारे, पृ० ८९, ९२, ९५-९६, १०२, ८६ आदि।

१२. ध्वनि संबंधी परिवर्तन—ध्य > झ, ध्याने > झाणे (बौ० गा० दो०, पृ० ९१); त्व > त्त, तत्व > तत्त (वही, पृ० ९२); थ > ह, गुरुनाथ > गुरुणाह (वही, पृ० ९६); ध > ह, अध > अह (पृ० १२१); ध्व > ह ऊर्ध्व > ऊह (वही, पृ० १२१); ख > ह, सुख > सुह (पृ० ११७); र्म > म्म, कर्म > कम्म (पृ० १२६); क्त > त्त, उक्त > वुत्त (पृ० १२६); य > ज, यावत् > जाव (पृ० १०३, १०९, ११०, १२५), यूथ > जुत्त (पृ० १०५); श > स, शून्य > सुन्न (हिं), अवश्य > अवस (पृ० १०६); ष > स, विषम > विसम (पृ० १०३); ष > श, विषयासक्ति > विशयासक्ति (पृ० १०५)। क्रियापद—अन्य पुरुष एकवचन—संचरइ (पृ० ८९), मरइ (पृ० ८९); भणइ (पृ० ९२); आज्ञार्थक—करु (पृ० ८९); भूतकृदंत—कहिअ (इअ) (पृ० ८९); विधि—कहिज्जइ, पढ़िज्जइ (पृ० ९९), करिज्जइ, धरिज्जइ (पृ० १०६); पूर्वकालिक क्रिया—लइ (अइ) (पृ० १२५)। रूपतत्व (संज्ञा)—तृ० ए०—ए, सरहे (पृ० ८९); ष० ए०—ह, चित्तह (पृ० ९१); सप्तमी ए०-भावाभावे, गुरुवअणे (पृ० ९९); निर्विभक्तिक शब्दों का प्रयोग अत्यधिक। अव्यय—जहि (यत्र), तहि (तत्र) (पृ० ८९), एत्थु (अत्र) (पृ० ९५); जब्बें (यदा), तब्बें (तदा) (पृ० ९५)।

चर्यापद

डा० हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' का संपादन करते समय उसके मुखबंध में चर्यापदों की पांडुलिपि को १२ वीं ईस्वी शताब्दी का माना था। श्री राखालदास बनर्जी ने 'श्रीकृष्ण कीर्तन' की भूमिका में चर्यापदों की पांडुलिपि का प्राचीनतम समय १४ वीं ईस्वी शताब्दी माना था।[१३] डा० चटर्जी ने भाषा की दृष्टि से विचार कर यह निश्चित किया है कि चर्यापदों की भाषा श्रीकृष्ण कीर्तन की भाषा से, जिसका समय १४ वीं शताब्दी है, लगभग १५० वर्ष पूर्व की है। श्रीकृष्ण कीर्तन बंगला की प्राचीनतम रचना है। स्थूलतः, इस प्रकार चर्यापदों की भाषा, डा० चटर्जी की दृष्टि में लगभग १२ वीं ईस्वी शताब्दी की रचना है। रचना शैली, भाषा और मूलवृत्ति के आधार पर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इन चर्यागीतियों की रचना ६५० ई० से लेकर १२०० ई० तक के बीच हुई होगी तथा जिन्हें लगभग चौदहवीं शताब्दी में प्राप्त पांडुलिपि में सुरक्षित रखा गया होगा।[१४] डा० तमोनाशचंद्र दासगुप्त ने चर्यागीतिकारों के समय के आधार पर चर्यागीतियों का भी समय ८-९ वीं शताब्दी स्वीकार किया है।[१५]

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं तथा प्राचीन अपभ्रंशों के संबंधसूत्र पर विचार करते हुए शास्त्री महोदय ने चर्यापदों की भाषा को पुरानी बंगला माना है। डा० चटर्जी और डा० तमोनाशचंद्र दासगुप्त ने चर्यापदों की भाषा को पुरानी बंगला कहा है। और इसका कारण उन लोगों ने चर्यापदों में बंगला के विशिष्ट प्रयोगों का मिलना बताया है।[१६] किंतु चटर्जी महोदय

१३. ओ० डे० बैं० लैं०, वा० १, पृ० ११०।

१४. वही, वा० १, पृ० १२३।

१५. प्राचीन बांगाला साहित्येर इतिहास, ले० तमोनाशचंद्र दासगुप्त, पृ० ४६।

१६. ओ० डे० बैं० लैं०, वा० १, पृ० ११२; प्रा० बां० सा० इ०, पृ० ४६।

ने यह भी बताया है कि चर्यागीतियों में 'भणथि' और 'बोलथि' जैसे मैथिली (जब कि प्राचीन मध्ययुगीन बंगला में 'भणंति' और 'बोलंति') प्रयोग मिलते हैं। किंतु इनके आधार पर चर्यापदों की भाषा को पुरानी मैथिली नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के प्रयोगों के आगमन के कारण नेपाली लिपिक हैं। जिस हस्तलिखित पोथी में चर्यागीतियाँ प्राप्त हुई हैं, उसका लेखनकार्य नेपाल में हुआ था जहाँ के लिपिक संभवतः बंगला की अपेक्षा शौरसेनी अपभ्रंश से अधिक परिचित थे। चर्यागीतियों के पाठ से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि लिपिक बोली विशेष से परिचित नहीं था। नेपाल प्रदेश में मैथिली प्रचलित थी तथा नाटकों में विकसित हुई थी। दक्षिणी पूर्वी नेपाल में मोरंग प्रदेश में मैथिली बोली जाती थी। अतः चर्यागीतियों में मैथिली प्रयोग प्राप्त करना आश्चर्यजनक नहीं है।[१७] डा० तमोनाश ने भाषातत्वविदों के अनुसार यह बताया है कि चर्यागीतियों में प्राचीन मैथिली, पूर्वी बिहार की भाषा, प्राचीन उड़िया भाषा और प्राचीन बंगला के नमूने मिलते हैं। इन भाषाओं में प्राचीन बंगला से समानताएँ सबसे अधिक मिलती हैं। इनकी भाषा अपभ्रंश की परवर्ती अवस्था को सूचित करती है।[१८]

जहाँ तक बंगला के लक्षणों का प्रश्न है चर्यागीतियों में षष्ठी में 'एर' और 'अर', चतुर्थी में 'रे', सप्तमी में 'त' प्रयोग मिलते हैं। परसर्ग (पोस्ट पोजीशनल) में 'माँझ', 'अंतर', 'सँग' इत्यादि का प्रयोग मिलता है। भूत और भविष्यत् में बिहारी के 'अल' और 'अब' के स्थान पर 'इल' और 'इब' प्रयोग मिलते हैं। वर्तमान कृदंत में 'अंत', समुच्चयवाचक अव्यय (कांजक्टिव इनडिक्लाइनेबुल) में 'इले', कर्मवाच्य में 'इअ' (जो मध्ययुगीन

---

१७. ओ० डे० बें० लैं०, वा० १, पृ० ११६–११७।

१८. प्रा० बां० सा० इ०, पृ० ४६।

बंगला में सुरक्षित है), नामधातुओं (सब्सटैंटिव रूट्स) में 'आछ' और 'थाक' मिलते हैं (जब कि मैथिली में 'थिक' और उड़िया में 'था' का प्रयोग होता है)। इनके अतिरिक्त चर्यागीतियों में बंगला के अनेक मुहावरों का भी प्रयोग मिलता।[१९]

देशी भाषा की दृष्टि से चर्यागीतियों की भाषा का मूलाधार, डा० चटर्जी के मत से, बंगाल की देशी भाषा है। यह आधुनिक भारतीय आर्यभाषा की प्राचीनतम अवस्था की भाषा है। इसमें शब्दरूप म० भा० आ० की तरह ही चलते हैं। किंतु परसर्गों या कारक चिह्नों की विशेषता का प्रवेश इस समय तक हो गया था। डा० चटर्जी ने यह भी स्वीकार किया है कि इस विभाषा के ऊपर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव अत्यधिक है। कहीं कहीं संस्कृत और द्वितीय म० भा० आ० अवस्था की साहित्यिक प्राकृतों का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। कर्मवाच्य में 'इल' का (टीका में 'इल' तथा मूल में 'इअ' का) प्रयोग मिलता है। फिर भी 'भुजिअ' और 'भरिअ' जैसे प्रयोग भी मिल जाते हैं जिनका प्रयोग मध्यकालीन बंगला में भी मिल जाता है। पुरानी प्राकृतों के अनुकरण भी यत्र तत्र मिल जाते हैं। किंतु इन चर्यापदों की भाषा प्राकृत या अपभ्रंश नहीं है और इसका कारण यह है कि इस भाषा में म० भा० आ० के संयुक्त व्यंजनों का सरलीकरण दिखाई पड़ता है। इस भाषा ने कुछ शुद्ध बंगला रूपों का भी विकास किया है। यह मागधी भी नहीं है क्योंकि मागधी की विशेषताएँ भी इसमें लक्षित नहीं होतीं। धातु-व्यवस्था तो अत्यधिक आरंभिक है।[२०]

चर्यागीतियों की भाषा का अध्ययन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसमें शब्दरूप और धातुरूप संबंधी एकरूपता नहीं है। इसीलिये यह कहा

---

१९. ओ० डे० बें० लैं०, बा० १, पृ० ११२।
२०. वही, बा० १, पृ० ११५-११६, ११८।

जा सकता है कि बंगला विभाषा का सबसे पहली बार साहित्यिक प्रयोग इन रचनाओं में किया गया था। प्रथम प्रयास होने के कारण विभाषा स्वयं अपने रूपों को निश्चित नहीं कर सकी थी। वास्तव में लुइ और काण्ह, भुसुकु और चाटिल, सरह और कुक्कुरी तथा अन्य चर्यागीतिकारों के सामने संस्कृत, विभिन्न साहित्यिक (म० भा० आ० की द्वितीय अवस्था की) प्राकृतों पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश और उनकी वर्धनशील रचनाओं का ही आदर्श था। इनमें से शौरसेनी अपभ्रंश उस समय की देशी भाषाओं की शक्ति और रूप के सबसे अधिक समीप थी। इस अपभ्रंश का प्रभाव गुजरात से लेकर बंगाल तक व्याप्त था। स्वभावतः यह अनुमान किया जा सकता है कि चर्यापदों की भाषा पर शौरसेनी अपभ्रंश ने बहुत अधिक प्रभाव डाला हो क्योंकि इनके रचयिता उससे पूर्णतया परिचित थे। इसीलिये मागधी अपभ्रंश की संतति में शौरसेनी अपभ्रंश के रूपों को प्राप्त करना आश्चर्यजनक नहीं है।[२१]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि चर्यापदों की भाषा को पुरानी बंगला की अधिकार सीमा में रखनेवाले डा० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा डा० तमोनाशचंद्र दासगुप्त ने भी उस भाषा में मैथिली, उड़िया आदि के कुछ प्रयोगों का किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया है। डा० चटर्जी ने यह भी स्वीकार किया है कि पश्चिमी अपभ्रंश का पर्याप्त प्रभाव इस भाषा पर दिखाई देता है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने चर्यागीतियों की भाषा को पुरानी हिंदी माना है। मागधी अपभ्रंश से विकसित आ० भा० आ० में मैथिली, मगही भोजपुरिया, आसामी, बंगला, उड़िया की गणना की जाती है। राहुल जी ने 'हिंदी काव्यधारा' में बौद्ध सिद्धों की लोकभाषा की रचनाओं का हिंदी रूपांतर उपस्थित कर उन्हें पुरानी हिंदी सिद्ध किया

---

२१. वही, भा० १, पृ० ११६।

है। मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का विचार कर उन्होंने उन सिद्धों की भाषा को मगही हिंदी के वर्ग में बिठाया है।[२२] उसी प्रकार डा० जयकांत मिश्र और श्री शिवनंदन ठाकुर ने इन चर्यापदों को प्राचीन मैथिली की रचना माना है। इसके लिए अनेक भाषावैज्ञानिक तथ्यों का भी उद्‌घाटन किया गया है। श्रीआर्तवल्लभ महंती ने चर्यापदों को उड़िया में रूपांतरित कर चर्यापदों को प्राचीन उड़िया की रचना सिद्ध किया है।[२३] यह विवेचन स्पष्ट करता है कि चर्यापदों की भाषा उस समय की भाषा है जब अपभ्रंश में बोलियों की विशेषताओं का प्रवेश होने लगा था। किंतु १२वीं शताब्दी तक किसी भी बोली का पूर्ण प्रकृष्ट और सर्वथा स्वतंत्र रूप सामने नहीं आया था। यही कारण है कि चर्यापदों की भाषा में सभी प्रदेशीय बोलियों की विशेषताएँ मिलती हैं। बोलियों का व्यक्तिगत विकास होने पर प्रत्येक में कुछ न कुछ ऐसे शब्दरूप, धातुरूप अवश्य रह गए जिनके प्राचीन रूप चर्यापदों में मिलते हैं। इस आधार पर चर्यापद हिंदी, मगही, उड़िया, बंगला आदि सबकी सम्मिलित निधि हैं। चर्यापदों के शब्दकोष, व्याकरणिक तथा साहित्यिक धाराओं के विकास की रेखाएँ इन सभी आ० भा० आर्यभाषाओं में किसी न किसी रूप में अवश्य मिलेंगी।

डाकार्णव

चर्यापदों और दोषाकोषों की भाषा की तुलना में डाकार्णव के अपभ्रंश अंशों की भाषा अत्यधिक रहस्यमय और जटिल है। उपर्युक्त दोनों रचनाओं की भाषा से इसकी भाषा भिन्न है। चर्यापदों की तरह ही इसका अनुलेखन

---

२२. पुरातत्व निबंधावली, पृ० २१९–२२२, १६०–१६७।

२३. विस्तृत विवेचन के लिये द्रष्टव्य–१ हिस्ट्री आफ मैथिली लिटरेचर–डा० जयकांत मिश्र; २–महाकवि विद्यपति–श्री शिवनंदन ठाकुर, पृ० २१५–२१६; उड़िया साहित्य का संक्षिप्त इतिहास–श्री महंती।

नेपाल में ही हुआ था और सुनीति बाबू ने यह स्वीकार किया है कि इसका नेवारी लिपिक संस्कृत और अपभ्रंश से बहुत कम परिचित था, इसीलिये इसकी भाषा भी उसके विषय के साथ ही रहस्यमय बन गई है। उन्होंने हस्तलिपि को पर्याप्त परवर्ती माना है। इसकी भाषा का बंगला के विकास की दृष्टि से भी कोई विशेष महत्त्व नहीं है।[२४] डा० चौधरी ने यह स्थिर किया है कि डाकार्णव के उक्त अंशों की भाषा पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभूत प्रभाव है। वह संस्कृत और म० भा० आ० की द्वितीय अवस्था की साहित्यिक प्राकृतों से भी प्रभावित है। देशी भाषा की दृष्टि से उसकी भाषा का आधार पूर्वी बंगाल की बोली माना है।[२५]

इसकी भाषा के ऊपर यत्र तत्र पूर्वी प्रभाव मिलते हैं। 'अच्छ' और प्रश्नवाचक सर्वनाम 'के' को उदाहरणतः प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें आ० भा० आ० के असंयुक्त व्यंजन के साथ साथ बंगला के शब्द और अभिव्यक्तियाँ भी मिलती हैं, उदाहरणतः—तुमि, लई, चय, येमंत, काज, पाइ, पूव, के, जुवनियसज, मंतसयल इत्यादि। प्रथमा में 'उ' षष्ठी में 'अह' आदि शौरसेनी अपभ्रंश के प्रभाव की ओर संकेत करते हैं। इसमें 'जो', 'सो', 'को', (बंगला में—जे, से, के) जैसे सार्वनामिक रूप तथा सार्वनामिक क्रिया विशेषण के जिम्म, तिम्म प्रयोग भी मिलते हैं। डा० चौधरी ने यह संकेत किया है कि डाकार्णव की भाषा में अपेक्षाकृत शौरसेनी प्रभाव की अधिकता का कारण नेपाली लिपिक है। इसका लिपिक, ऐसा प्रतीत होता है, बंगाल की अपेक्षा शौरसेनी अपभ्रंश से अधिक परिचित था यद्यपि इसकी रचना बंगाल में ही हुई थी।[२६] डा० दिनेशचंद्र सेन डाकार्णव की भाषा में दसवीं शताब्दी की बंगला का दर्शन करते हैं।[२७]

२४. ओ० डे० बें० लैं०, वा० १, पृ० १११।

२५. डाकार्णव–सं० चौधरी, इंट्रो०, पृ० १९।

२६. ओ० डे० बें० लैं०, वा० १, पृ० १११; डाकार्णव, इंट्रो० पृ० १९–२०।

२७. प्रा० बां० सा० इति०, पृ० ३३।

उपरोक्त मतों का अध्ययन करने से निष्कर्ष निकलता है कि 'डाकार्णव' की भाषा में, चाहे किसी भी कारण से हो, बंगला का प्रभाव बहुत कम है। दोहाकोषों और चर्यागीतियों की भाषा की तुलना की दृष्टि से उन दोनों की अपेक्षा इसमें बंगला के कम प्रयोग मिलते हैं यद्यपि बंगला के विवेचकों ने डाकार्णव को भी अपनी अधिकार सीमा में खींच लिया है। डा० चटर्जी के मतानुसार 'बौ० गा० दो' में संगृहीत यह रचना भाषा की दृष्टि से तीसरे प्रकार की रचना मानी जा सकती है। इन तीनों प्रकार की रचनाओं की भाषा का मूलाधार शौरसेनी अपभ्रंश है किंतु पूर्वी प्रयोग सबसे कम डाकार्णव और तत्पश्चात् दोहाकोषों में ही मिलते हैं।

———

परिशिष्ट—५

सहजयान की लोकभाषा की रचनाओं की भाषा शैली

इन रचनाओं की भाषा की भाषावैज्ञानिक के अतिरिक्त साहित्यिक दृष्टि से भी मीमांसा की जा सकती है। इस साहित्यिक दृष्टि से सामान्यतया उनकी शब्दावली और विशेषतः शब्दप्रयोग की शैली पर विचार किया जा सकता है। गुह्यसमाजतंत्र जैसे ग्रंथों ने गुह्यसाधना का प्रचार किया था। प्रसिद्ध है कि इन रचनाओं में दिए गए उपदेशों को गुप्त रखने तथा अनधिकारी के लिए अनुपदेश्य रखने के लिये अनेक प्रकार के आदेश दिये गये थे। यद्यपि तांत्रिकता के समावेश के साथ ही साथ महायान धर्म सामान्य धर्म से व्यक्तिनिष्ठ धर्म और साधना में परिवर्तित हो गया तथापि उसके सारे क्रियाकलापों का उद्देश्य बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय ही था। प्रायः सभी इतिहासकारों ने यह स्वीकार किया है कि बुद्ध ने भी अनेक ऐसे उपदेश दिये थे जो जनसामान्य के लिये नहीं थे। इस प्रकार गोपन की प्रवृत्ति बौद्ध धर्म में, व्यापक रूप से गोपन की भाषा के प्रयुक्त होने के पूर्व भी, वर्तमान थी। किंतु उस समय उसका प्रयोग अत्यंत सीमित था।

यह प्रवृत्ति हिंदू तंत्रों में भी मिलती है और विद्वानों का विचार है कि प्राचीनतम भारतीय साहित्य ऋग्वेदादि में भी प्रयोग मिलते हैं। आज इसके लिये कोई भी प्रमाण नहीं कि उस समय जनसमान्य से भिन्न भाषा और शैली का प्रयोग क्यों किया जाता था। हिंदू तांत्रिक साहित्य का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि तांत्रिकों के सारे क्रियाकलाप, सिद्धांत, साधना

और दर्शन 'अधिकारभेदवाद' पर आधारित है। यहाँ सब कुछ अधिकारी के लिये है, अनधिकारी के लिये कुछ भी नहीं। स्पष्टीकरण के लिए उनके आचार सिद्धांत की ओर संकेत किया जा सकता है। उनके यहाँ सामान्यतः तीन आचार माने गये हैं। सारी शब्दावली का अर्थ इन तीन आचारों के लिये भिन्न भिन्न है। डायसन जैसे विद्वानों ने अधिकारभेदवाद और गुरुवाद के तत्व को उपनिषदों में स्वीकार किया है।[1] उपनिषद् वेद के सार हैं। तांत्रिक साधना और दर्शन अपनी मूलभित्ति वेदों को ही मानते हैं। वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वैदिक क्रियाओं की सहायता लेते हैं। तांत्रिक साधनापद्धति वैदिक साधना और क्रिया का सरल संक्षेप है। तांत्रिक साधना और साहित्य वैदिक क्रियाओं के आंतरिक अर्थों पर जोर देते हैं और उन्हें थोड़े में सुरक्षित रखते हैं, जिससे वे शब्द उसमें सुरक्षित रहस्यों के लिये प्रतीक जैसा कार्य करने लगते हैं। यदि वैदिक साधना में प्रतीकों के आंतरिक अर्थों पर ध्यान न दें तो वे सारी क्रियाएँ शिशुक्रीड़ा हो जायेंगी। निष्कर्ष यह है कि हिंदू तांत्रिक साहित्य में वैदिक साहित्य के बहुत से प्रतीक सुरक्षित हैं। अनेक स्थानों पर वैदिक प्रतीकों का विकास भी मिलता है।[2] इस प्रकार साहित्येतिहास की दृष्टि से वैदिक साहित्य से लेकर बौद्ध तांत्रिक साहित्य के काल तक साधनात्मक भाषा का प्रयोग मिलता है।

जिस साहित्य की ओर ऊपर संकेत किया गया है उसमें धर्म और साधना की प्रधानता है। साधना की विभिन्न अवस्थाओं में जो विभिन्न प्रकार के अनुभव होते हैं, उनके लिए कोई वाह्य प्रमाण नहीं मिलता और न उन्हें वाह्य प्रमाणों से सिद्ध ही किया जा सकता है। ऐसी अवस्था में वह अनुभव स्वयं ही प्रमाण है। बाद में धर्मप्रचार की भावना के विकास के साथ साथ इन अनुभूतियों से संवलित उपदेशों का प्रसार होने लगा। जहाँ जन-

---

१. दि फिलासफी आव दि उपनिषद्स—डायसन, पृ० १२, १०–१५।
२. फिलासफी आव हिंदू साधना—श्री नलिनिकांत ब्रह्म, पृ० २७८–२७९।

सामान्य के नैतिक जीवन के उत्थान के उपदेश हैं, वहाँ जनसामान्य की भाषा का प्रयोग है, यद्यपि कहीं कहीं उनमें पारिभाषिक पदावली का प्रयोग मिलता है। धर्म, दर्शन और साधना की प्रधानता होने के कारण ये रचनाएँ या तो शुद्ध उपदेश देती हैं या सिद्धांतपरिचय कराती हैं या आध्यात्मिक अनुभवों की अभिव्यक्ति करती हैं। जहाँ कहीं इनमें किसी विशेष आचार के लिये उपदेश दिया गया है, जो जनसामामान्य के लिये अनुपयुक्त और अननुकरणीय है, वहाँ पारिभाषिक पदावली के साथ साथ अप्रचलित अथवा सीमित वर्ग में प्रचलित शैली का प्रयोग मिलता है। इस प्रकार की शैली में रूपक, उत्प्रेक्षा, अन्य सादृश्यमूलक अलंकारों, विपरीत लक्षणा, विपर्यय, विरोधाभास आदि का बहुलता से प्रयोग मिलता है। आध्यात्मिक अनुभव की अलौकिकता के कारण उसे लौकिक भाषाशैली में व्यक्त करना कठिन है। इसलिये इस प्रकार के रचयिताओं की रचनाओं की भाषाशैली में वैशिष्ट्य और वैचित्र्य का परिलक्षित होना स्वाभाविक है। कुछ वर्गों ने इस प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करनेवाली रहस्यमयी या साधनात्मक भाषा को समाधि भाषा के नाम से अभिहित किया है। आध्यात्मिक ज्ञान का प्रकाशन करने के कारण इसे लोग वेद-भाषा भी कहते हैं। बौद्धतांत्रिकों ने इसे 'संधाभाषा', 'संधावचन' जैसे शब्दों से अभिहित किया है।

बौद्ध साहित्य में 'संधाभाषा' का विचार सबसे पहले 'बौद्ध गान ओ दोहा' के प्रकाशन के साथ महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने उठाया था। उन्होंने 'मुखबंध' में इसे 'संध्याभाषा' कहा और उसका अर्थ किया 'आलोक और अंधकार की भाषा' (आलो आँधारि भाषा)। यह वह भाषा है जिसमें कुछ आलोक रहता है और कुछ अंधकार, अर्थात् कुछ समझ में आता है, कुछ नहीं। इस समस्त उच्च कोटि की धर्मकथा के भीतर एक आंतरिक भाव भी छिपा रहता है।[३] डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने शास्त्री महोदय के शब्द

३. बौ० गा० दो०, मुखबंध, पृ० ८।

और अर्थ का समर्थन कर उसका अँग्रेजी अनुवाद 'ट्वाइलाइट लैंग्वेज' किया था।[४] इस शब्द पर अन्य लोगों ने विभिन्न प्रकार की कल्पनाएँ की हैं। श्री पंचकौड़ी बनर्जी इस भाषा को 'संध्या देश' की भाषा मानते हैं। यह देश आर्यावर्त और मुख्य बंग देश के संधि प्रदेश में पड़ता है। महामहोपाध्याय पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने उपरोक्त दोनों मतों को अस्वीकार कर तथा प्रायः समस्त भारतीय साहित्य में इस शब्द का विचार कर इसका रूप 'संधा भाषा' निश्चित किया है।[५] बौ० गा० दो० में संध्याभाषा, संध्यावचन और संध्यासंकेत शब्दों का प्रयोग चर्यापदों की टीका में मिलता है।[६] सद्धर्मपुंडरीक में संधाभाषित, संधाभाषा और संधावचन जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है।[७] ये सभी शब्द पर्याय हैं। बार्नौफ ने इसका अर्थ 'गूढ़भाषा' किया था और उसकी पुष्टि तिब्बती अनुवादों से की थी। कर्न और मैक्समूलर ने इसका अर्थ 'रहस्य' और 'गुप्तकथन' किया था।[८] पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने संधाभाष्य, संधाभाषित आदि शब्दों को संस्कृत 'संधाय' का संक्षिप्त रूप बताया है। अभिसंधाय, अभिप्रेत्य, उद्दिश्य आदि इस अर्थ को व्यक्त करने वाले दूसरे शब्द हैं।

'संध्या' शब्द का शुद्ध रूप 'संधा' है तथा इसका प्रयोग अभिप्रेत्य, उद्दिश्य आदि अर्थों में हुआ है। इसकी पुष्टि के लिये भट्टाचार्य महोदय ने लंकावतार, दशभूमिकशास्त्र, बोधिचर्यावतारपंजिका, जातक आदि से उद्धरण दिए हैं। हिंदू ग्रंथों में भगवद्गीता, भागवत पुराण में इसी प्रकार के शब्दों

४. ऐन इं० बु० ए०, भट्टाचार्य, पृ० ३५।
५. इं० हि० का, १९२८, पृ० २८७-२८८।
६. बौ० गा० दो, च० ६, मूल, पृ० ५; च० ५, पृ० ११; च० २१, पृ० ३७; च० २, पृ० ६ आदि।
७. इं० हि० का०, १९२८, पृ० २८८।
८. वही, पृ० २८८।

का प्रयोग मिलता है। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में 'अभिप्रायिक वचन या वचस्' शब्द का प्रयोग मिलता है जिसकी पुष्टि तत्वसंग्रह से होती है। अनेक चीनी प्रमाणों पर भी संधाभाष्य को आभिप्रायिक वचन सिद्ध किया जा सकता है। माध्यमिकवृत्ति में संधाभाषा और आभिप्रायिक वचन को नेयार्थ वचन का पर्याय माना गया है। इस प्रकार संधाभाषा या आभिप्रायिक भाषा वह भाषा है जिसमें रचयिता का कोई न कोई गूढ़ अभिप्राय निहित हो।[९] किंतु यह अर्थ 'संध्या' शब्द से नहीं निकलता। मूल शब्द 'संधा' ही है। बौ० गा० दो० का जो संस्करण अभी उपलब्ध है, वह अवैज्ञानिक और अप्रामाणिक है। यह संभव है कि लिपिकों ने 'संध्या' शब्द से अधिक परिचित होने के कारण 'संधा' शब्द को 'संध्या' में परिवर्तित कर दिया हो। अतः चीनी अनुवादों के आधार पर जो शब्द और अर्थ निश्चित किया जाय वही प्रामाणिक होगा। इन्हीं कारणों से डा० प्रबोधचंद्र बागची ने भी पं० विधुशेखर भट्टाचार्य के मतवाद को स्वीकार कर लिया है।[१०]

अब यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन साधकों अथवा धार्मिक साहित्य-रचयिताओं ने एक ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जिसमें कहीं कहीं दार्शनिक अथवा साधनात्मक परिभाषिकता रहती है तथा सामान्य शब्दों का भी प्रयोग रहता है। किंतु सब मिला कर उसका कोई न कोई गूढ़ या साधनात्मक या आध्यात्मिक अर्थ हुआ करता है। तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य का जो विवरण पहले प्रस्तुत किया गया है, उससे स्पष्ट है कि यह साधना और साहित्य अन्य भारतीय साधनाओं और साहित्यों से अछूता नहीं है। अनेक बातों में विरोध करते हुए भी बौद्धमत ने योग, ध्यान, ज्ञान आदि की बातों को स्वीकार किया था। बौद्ध धर्म और साधना ने परंपराओं को

---

९. वही, पृ० २८९-२९६।

१०. वही, पृ० २९५; स्ट० तं०, बागची, पृ० २७।

तोड़ नहीं दिया, उसमें परिष्कार किया है। ऐसी अवस्था में विद्वानों ने संधाभाषा या उसी वर्ग की रचनाओं की विभिन्न शैलियों का अध्ययन करते समय ऋग्वेद, उपनिषद्, पुराण आदि का जो अध्ययन किया है वह सर्वथा महत्वपूर्ण है। बौद्धों में तांत्रिकता के प्रवेश तथा प्रचार के पूर्व चाहे जिस रूप में भी भारत में तांत्रिक साधना प्रचलित रही हो, किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि इन विभिन्न साधना प्रणालियों में आदानप्रदान होता रहा है। उद्धरणों और विद्वानों के विवेचित प्रमाणों का पुनर्विवेचन-पिष्टपेषण न कर हिंदू तांत्रिक साहित्य में प्रयुक्त वर्णन शैली और शब्दावली का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

तांत्रिक साधना में, जैसा पहले कहा गया है, सामान्यतया तीन प्रकार के आचार माने गए हैं। पश्वाचार, वीराचार और दिव्याचार नाम के तीन आचारों में एक क्रमिक विकास है। कुछ तांत्रिकों के अनुसार दिव्याचार की साधना सर्वश्रेष्ठ है। इनके शास्त्रीय ग्रंथों में प्रत्येक की साधना के लिये अलग अलग विधान हैं। और एक एक शब्द के, आचार के अनुसार, कई अर्थ बताए गए हैं। किंतु इन विवेचनों में काव्यात्मकता की गंध भी नहीं मिलती। शिव अथवा पार्वती के स्तोत्र ग्रंथों में कभी कभी काव्यात्मकता तथा कल्पना का उच्च निदर्शन मिलता है। पश्वाचार की अवस्था में साधक कभी भी उपास्य के इतने समीप नहीं पहुँच पाता कि प्रगल्भ होकर स्तवन कर सके। अतः वीराचार और दिव्याचार उच्चतर मानसिक श्रेष्ठता की अपेक्षा रखते हैं। हिंदू तांत्रिक साहित्य में वीराचार और दिव्याचार के साधकों के लिये प्रायः एक ही स्तुतिग्रंथ हैं। प्रत्येक आचार का साधक अपनी अपनी अवस्था के अनुसार अर्थ कर अपनी भावनाशक्ति का उद्दीपन करता है। 'कर्पूरादिस्तोत्र' जैसे ग्रंथों में इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग है जिसका अर्थ दोनों आचारों में ठीक बैठता है। पंचमकारों का अर्थ तीनों आचारों के लिये भिन्न भिन्न है। कर्पूरादिस्तोत्र में वीराचाररत भक्त साधक के लिये, टीका के अनुसार, 'नक्त' का सामान्य अर्थ 'रात्रि', 'रतासक्त' का अर्थ 'मैथुनरत' है। किंतु दिव्या-

चाररत भक्त साधक के लिये दोनों का अर्थ भिन्न है। यहाँ 'नक्त' का अर्थ सामान्य न होकर, वह रात्रि है जो ब्रह्मविद्या के लक्षणों से युक्त होती है तथा अन्य सभी प्राणियों के लिये वही निशा होती है। 'रति' का अर्थ है 'नित्य युवती रूपवाली कुलकुंडलिनी के साथ जीवात्मा का परमात्मा में लीन करना।'[११] हिंदू तांत्रिक साहित्य से इसी प्रकार के अनेक उदाहरण संकलित कर हिंदुओं और बौद्धों की साधना, भाषाशैली, अभिव्यक्ति आदि की परंपरा सिद्ध की जा सकती है।

हिंदू तांत्रिक साहित्य से जो उदाहरण दिए गए हैं, उनसे स्पष्ट है कि धार्मिक आध्यात्मिक साधना में भी इस प्रकार के पंचमकारों का उपयोग आवश्यक है। ये मकार (मद्य, मुद्रा, मैथुन, मत्स्य और मांस) यद्यपि सामान्य दृष्टि से प्रयोग के लिये गर्हित हैं तथापि अर्थवैभिन्य के कारण तांत्रिक साधना में ये गर्हित नहीं हैं। तात्पर्य यह कि तांत्रिकों में जनसामान्य में प्रचलित गर्हित अर्थवाले शब्दों का प्रयोग कर उनसे अपना विशिष्ट अभिप्रेत्य अर्थ लेने की शैली प्रचलित थी। निश्चय ही इसे हम शब्दों का पारिभाषिक प्रयोग कहेंगे जिसमें अर्थ सामान्य पद्धति से नहीं, अपितु विशेष साधनात्मक अर्थज्ञान से लगता है। जिस श्लोक से ऊपर उद्धरण दिया गया है, उसकी शब्दावली पर ध्यान देने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त शब्दों के साथ कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है जिनसे संपूर्ण श्लोक की पूरी अर्थपरंपरा

---

११. तांत्रिक टेक्स्ट्स, वा० ९, कर्पूरादिस्तोत्र, सं० आर्थर एवेलेन, मूल, श्लोक १०, पृ० १६-१८।

समन्तादापीनस्तनजघनधृग् यौवनवती—
रतासक्तः नक्तं यदि जपति भक्तस्तव मनुं।
बिवासा स्त्वां ध्यायन् गलितचिकुर स्तस्य वशगाः
समस्ताः सिद्धौघा भुवि चिरतरं जीवति कविः॥

बदल जाती है। उदाहरण के लिये 'भक्त' 'महाकालसुरता' 'जननि' 'पुरहर-वधू' आदि शब्दों को ध्यान में रखा जा सकता है।[१२] अतः स्पष्ट है कि इस प्रकार की भाषा में सामान्य शब्द भी, कुछ विशिष्ट शब्दों के संपर्क से, अपना सामान्य अर्थ छोड़कर सामान्य से भिन्न साधनात्मक अर्थ देने लगते हैं।

बौद्ध सिद्धों ने अपनी लोकभाषा की रचनाओं में इस प्रकार की भाषा शैली का प्रयोग किया है। पहले ही कहा जा चुका है कि इस प्रकार की रचनाओं का मूल उद्देश्य है आध्यात्मिक विचारानुभव कथन। बौ० गा० दो० की रचनाओं में जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया गया है उसकी प्रकृति इससे भिन्न नहीं है। लोकभाषा की रचनाएँ होने के साथ-साथ उनके प्रयुक्त प्रतीक भी लोक जीवन से ही गृहीत हैं। कुछ प्रतीक परंपरा से प्राप्त हैं। पंचमकारों से संबद्ध प्रतीक भी पारंपरिक हैं। कुछ बौद्ध संहिता से ग्रहण किए गए हैं। इन रचनाओं को देखने से यह स्पष्ट होता है कि इनमें प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग किया गया है जिसके सहायक रूप में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार प्रयुक्त हुए हैं। सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग कर जहाँ आध्यात्मिक अनुभवों को अधिक स्पष्ट किया गया है वहीं कुछ रचनाओं में विपर्यय, विपरीत लक्षणा आदि का उपयोग कर विचारों और अनुभवों को अधिक गुप्त और गुह्य बनाने का प्रयत्न किया गया है। कुछ विद्वानों का विचार है कि इस प्रकार की विरोधाभासमूलक शब्दयोजना जनसामान्य को चमत्कृत करने के लिये की जाती थी। इन विरोधाभासमूलक शब्दयोजनावाली रचनाओं में एक बात यह ध्यान देने योग्य है कि प्रायः सभी में पंडितों और विद्वानों को उनका गूढ़ आध्यात्मिक अर्थ खोलने के लिये चुनौती दी गई है।[१३] बौद्ध सिद्धों ने दोनों प्रकार की

१२. वही, मूल, श्लो० १०, पृ० १६-१८।

१३. बौ० गा० दो०, मूल, च० २—कोड़ि मझें एकुडि अहिँ समाइड (समाइड)। च० २७—जो एथु बूझइ सो एथु बुध। च० ३३—ढेंढण-पाएर गीत बिरले बूझअ।

शब्दयोजनाएँ की हैं। प्रथम में तो सामान्य सिद्धांतकथन अथवा अनुभव-कथन, समधिक पारिभाषिक शब्दों के सहयोग से किया गया है और दूसरे में किसी आध्यात्मिक अथवा साधनात्मक तथ्य को उद्भासित करने के लिये विरोधाभासमूलक शब्दयोजना का अवलंबन किया गया है। टीका में इन दोनों प्रकार की रचनाओं को संधाभाषा की रचना माना गया है। शब्दों का सामान्य अर्थ लेकर, दोनों प्रकार की रचनाओं में संपूर्ण रचना की पूरी पूरी अर्थसंगति नहीं बैठती। दोनों प्रकार की रचनाओं में सिद्धों का कुछ न कुछ विशिष्ट अभिप्रेत्य रहता है। इसलिये दोनों प्रकार की रचनाओं को संधाभाषा की रचना कहना उचित ही है। सादृश्यमूलक शब्दयोजना में विरोधाभास नहीं मिलता—

काआ तरुवर पंच वि डाल
चंचल चीए पइठो काल ॥ ध्रु० ॥
दिढ करिअ महासुह परिमाण।
लूइ भणइ गुरु पुच्छिअ जाण ॥ ध्रु० ॥

यहाँ शरीर को श्रेष्ठ वृक्ष और पंचस्कंधों को पाँच डालों के रूप में कल्पित किया गया है।[१४] इसमें साधना की बात 'चित्त' 'महासुख', 'गुरु' इत्यादि शब्दों को रखकर कही गई है। बिना इन शब्दों के पारिभाषिक अर्थज्ञान और तांत्रिक बौद्धों की चित्तसाधना का ज्ञान प्राप्त किये इन पंक्तियों के मर्मार्थ तक पहुँचना कठिन है। कहना यह है कि संधाभाषा जनसामान्य की भाषा नहीं है। वह प्रतीकात्मक, पारिभाषिक और विशिष्ट अभिप्रेत्य अर्थ निहित रखनेवाली भाषा है। ऊपर के उद्धरण में काया और तरुवर तथा पंचस्कंधों और डालों को समतुल्यता बतलाई गई है। उनमें रूप, गुण, धर्म, क्रिया आदि का विचार करने पर किसी प्रकार की असंगति नहीं मालूम पड़ती। इन

---

१४. बौ० गा० दो०, मूल, च० १, पृ० १।

रचनाओं का सांवृतिक और पारमार्थिक अर्थ प्रायः संगत मालूम पड़ता है। संधाभाषा के अंतर्गत इन रचनाओं को इसलिये ग्रहण करना उचित है कि इनमें भी रचयिता का अभिप्रेत अर्थ, सामान्य अर्थ नहीं, अपितु सामान्य से भिन्न पारमार्थिक अर्थ है। ऊपर की प्रथम शैली से भिन्नता इसमें यह है कि इसमें सांवृतिक दृष्टि से वस्तुओं में विषय तथा विरोधी गुण, धर्म, रूप, क्रिया आदि का आरोप किया जाता है किंतु पारमार्थिक दृष्टि से उनमें कोई विपर्यय या विषमता नहीं रहती।

उदाहरणार्थ—

(१) अधराति भर कमल विकसअ।[१५]

(२) बलद बिआएल गविआ बाँझे॥[१६]

प्रथम उद्धरण में अर्द्धरात्रि में कमल के विकास की बात कही गई है। सामान्य प्रसिद्ध काव्यरूढ़ि के अनुसार सूर्योदय होने पर पद्मविकास होता है। प्राकृतिक नियमों और काव्यरूढ़ियों को ध्यान में रखने पर सांवृतिक दृष्टि से इस वर्णन में असंगति है। इसी प्रकार दूसरे उद्धरण में बैल प्रसव करता है और गाय बाँझ रहती है। सांवृतिक दृष्टि से यह भी असंगत है। सांसारिक दृष्टि से जो कुछ असंगत है, वही पारमार्थिक दृष्टि से संगत संभव है। साधना के विकास और सिद्धों के अनुभवप्रसार के साथ साथ उनका यह सिद्धांत दृढ़ होता गया। यही दृढ़ता ही इस प्रकार के कथन का कारण बनी। संसार के पोथी पढ़नेवाले पंडित, वाह्याडंबर के समर्थक, सभी सांवृतिक सत्य को सत्य कहते हैं। इन विपर्यय के कथनों में ऐसे पंडितों, अहंवादियों को, जिन्हें इन सिद्धों ने अपनी रचनाओं में खूब फटकारा है, खुले मैदान में ललकारा है और इन आध्यात्मिक कथनों के अर्थ समझने-समझाने के लिये चुनौती दी है।

---

१५. बौ० गा० दो०, मूल, च० २७, पृ० ४२।

१६. वही, च० ३३, पृ० ५१।

उपरोक्त रचनाओं में बौद्ध सिद्धों का अभिप्रेत्य (पारमार्थिक) अर्थ निम्नलिखित है—

(१) पूर्ण अर्द्धरात्रि (चतुर्थी संध्या) में (वज्ररूप सूर्यरश्मि द्वारा) हमारा कमल (उष्णीष कमल अथवा मस्तकस्थ सहस्रदल कमल) विकसित हुआ।

(२) बोधिचित्त रूप बैल ज्ञानरूप संतान का प्रसव करने लगा और योगींद्र की ज्ञानरूपिणी गृहिणी संवृत्तिबोधिचित्त रूपी संतान को उत्पन्न करने में असमर्थ (वंध्या) हो गई।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संधाभाषा में दो प्रकार की विचारकथन की पद्धति दिखाई देती है। प्रथम तो सादृश्यमूलक अलंकारों के सहारे और दूसरे विपर्यय अथवा वस्तुओं में विपरीत गुणों, रूपों, धर्मों और क्रियाओं के आरोप से। हिंदी के प्रारंभिक साहित्य में प्राप्त इस प्रकार की विषमतामूलक अथवा विपर्ययुक्त रचनाओं को 'उलटवाँसी' या 'उलटी-वाणी' नाम से अभिहित किया गया है। इन बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में इस प्रकार के किसी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। 'उलटवाँसी' शब्द में 'उलटा' या विपर्यय विशेष महत्वपूर्ण है। 'गोरखबानी' जैसी नाथ सिद्धों की रचनाओं में अनेक ऐसी ही विपर्ययुक्त रचनाओं का दर्शन होता है।

बौद्ध सिद्धों की रचनाओं की भाषा इतनी गहन, गुह्य और प्रतीकात्मक है कि बिना संस्कृत टीका की सहायता के उनके मर्म को पाना कठिन है। मुनिदत्त, अद्वयवज्रादि ने संधाभाषात्मक अर्थों को खोलकर अनेक प्रतीकों की परंपरा का उद्घाटन कर दिया है। चर्यापदों के टीकाकार ने दोनों प्रकार की शैली के चर्यापदों को संधाभाषा के अंतर्गत स्वीकार किया है। इस प्रकार की रचनाओं की भाषा प्रतीकों, रूपकों, सादृश्यमूलक तथा विरोधमूलक अलंकार आदि के प्रयोग से एक विचित्र और गुह्य भाषा बन

गई है। डा० प्रबोधचंद्र बागची ने यह स्पष्ट किया है कि वास्तव में व्याज और उत्प्रेक्षा का प्रयोग संधाभाषा के लिये किया गया है।[१७] संधाभाषा की प्रकृति को भलीभाँति मर्मस्थ करने के लिये तथा शब्दावली की रहस्यात्मकता प्रकाशित करने के लिये नीचे कुछ प्रतीकों और रूपकों का विचार संक्षेप में किया जा रहा है।

इन रूपकों में यह ध्यान देने योग्य है कि किसी आध्यात्मिक भाव, अवस्था, सिद्धांतविशेष के लिये सिद्धों ने लोक-जीवन से कोई न कोई वस्तु, प्राणी या क्रिया विशेष को चुन लिया है और फिर उसी के व्याज से अपना संपूर्ण सिद्धांत, साधना अथवा अनुभव का वर्णन किया है। विरोधमूलक शब्दयोजना में इन प्रतीकों का दूरगामी विस्तार और संधान नहीं मिलता। इस प्रकार परोक्ष सिद्धांतों के लिये जिन प्रत्यक्ष वस्तुओं का चयन कर उनके माध्यम से परोक्ष को भी प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न किया गया है, उन्हें प्रतीक मान लिया गया है।

नौका का रूपक—नौका सिद्धों का प्रिय रूपक है। कंबलांबरपाद, कृष्णाचार्यपाद, डोंबीपाद और सरहपाद ने इस सांग रूपक से साधनात्मक और दार्शनिक तथ्यों का प्रकाशन किया है।[१८] इन लोगों ने नौका को क्रमशः करुणा या बोधिचित्त, काय, वाक् और चित्त के परमाश्रय महासुख-काय, शुक्रनाड़िका और काया के पारमार्थिक अर्थ में स्वीकार किया है। इन सभी सिद्धों ने नौका का सांग रूपक बाँधा है। कंबलांबरपाद ने नौका को बोधिचित्त या करुणा का, नौका बाँधने के दो स्तंभों को भौतिक जगत् के आभासदोष का, मझधार को वाम-दक्षिण-रहित मध्यमपथ का और उद्देश्य या पहुँचने के स्थान या उस पार को महासुख का प्रतीक माना है।

---

१७. स्ट० तं०, बा० १, बागची, पृ० ७६।

१८. बौ० गा० दो०, मूल, च० ८, १३, १४ और ३८; पृ० १६, २४, २५ और २८।

उस नौका में स्वर्ण, सद्गुरु का प्रसाद रूप शून्यता है। उसमें रूपा या चाँदी को, जो रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कारादि का प्रतीक है, कोई स्थान नहीं है। शून्यता के लिये स्वर्ण और रूपादि के लिये 'रूपा' शब्द का प्रयोग समध्वन्यात्मकता की दृष्टि से कौशलपूर्ण है।

कान्हुपाद ने नौका को उस महासुखकाय का प्रतीक माना है जिसमें काय, वाक् और चित्त का विलय हो जाता है। यहाँ पाँच डाँड़े ही पंचतथागत हैं। ये पंचतथागत पंचेंद्रियों अथवा पंचविषयों के अधिपति अथवा शुद्ध सार-रूप काय हैं। कर्णधार चित्त का प्रतीक माना गया है। गंतव्यस्थान महासुखचक्रद्वीप है जो शून्यसमुद्र में स्थित है।

डोंबीपाद ने नौका पर अधिक स्पष्ट और संगत रूपक बाँधा है। इन्होंने नौका को उस शुक्रनाड़िका का प्रतीक माना है जो मध्यस्था नाड़ी है तथा जिसे अवधूतिका भी कहते हैं। इस नौका का रज्जु, सांवृतिक-बोधिचित्त या अशुद्ध सांसारिक अवस्था या अविद्यासूत्र का प्रतीक है जिससे प्राणी स्तंभ से बँधा रहता है। नौका में बाहर से प्रविष्ट होनेवाले अशुद्ध विषयजल को पुनः बाहर फेंकने के लिये प्रयुक्त सेचनी, शून्य का प्रतीक है। गंगा यमुना के बीच का मार्ग ही मध्यमपथ है। गंतव्यस्थान, महासुखस्थान जिनपुर है। इसी प्रकार सरहपाद ने नौका को काया या शरीर का, डाँड़ों को मन और परिशुद्ध पंचेंद्रियों का, विपत्तियों से पूर्ण मार्ग को अनेक-पानाहारविषयासक्ति की धारा का प्रतीक स्वीकार किया है।

इन सांग रूपकों का अध्ययन करने से यह यौगिक प्रक्रिया स्पष्ट हो जाती है कि सहजयानियों की सहज साधना का साध्य महासुख स्थान या जिनपुर या महासुखचक्रद्वीप है। इस साधना में गंगा यमुना या इसी प्रकार के अन्य द्वैत भावापन्न तटों का तिरस्कार और मध्यमपथ की स्वीकृति आवश्यक है। बोधिचित्त की दो अवस्थाएँ होती हैं। सांवृतिक अवस्था से उस शुक्र रूप चित्त को उत्थित कर शिरस्थान में पारमार्थिक अवस्था में

पहुँचाया जाता है। चित्तोत्थान या शुक्रोत्थान का पथ, मध्यमपथ या अवधूती-पथ है। शून्यताज्ञान का विषयजल को बहिष्कृत करने के लिये प्रयोग स्वाभाविक और संगत है।

भूषण का रूपक—इस रूपक के माध्यम से वर्णित साधनापद्धति का संबंध श्वाससाधना अथवा बौद्धों की प्राचीन 'अनापानसति' से है। यहाँ उसका तांत्रिक रूप है। इस रूपक में मूषक को चित्तपवन का प्रतीक माना गया है।[19] मूषक के समान ही यह पवन भी चंचल रहता है। साधक का उद्देश्य इसको अचंचल बनाना है। अंधकार को अज्ञानांधकार से तथा उसके चारे को अमृत से तुलित किया गया है। मूषक की चंचलावस्था ही चित्त की या पवन की सांवृतिक अवस्था है। चित्त या पवन के चंचल रहने पर साधक की अमरता की हानि होती है। प्रकाश होने पर मूषक स्तब्ध और अचंचल हो जाता है। उसी प्रकार गुरुज्ञानोदय होने पर पवन का नियंत्रण होता है, चित्त अचंचल होता है, ऊर्ध्वमुख होता है और अमरता की रक्षा होती है। इस पारमार्थिक अवस्था में सहज सुख की प्राप्ति होती है।

वीणा का रूपक—वीणापादने इस रूपक में वीणा की तुंबी को सूर्याभास और ताँत को चंद्राभास, डंडी को अवधूती और उसकी ध्वनि को अनाहत ध्वनि माना है।[20] सिद्ध वीणापाद ने इसे हेरुकवीणा कहा है। आलि और कालि उसके दो स्वर हैं। मस्ती को समरसता के रूप में कल्पित किया गया है। सुननेवाला गजेंद्र ही चित्त है। गजेंद्र की मादकता ही समरसता है। नृत्य करनेवाला यहाँ स्वयं योगी है और गायिका नैरात्मा योगिनी।

गजेंद्र का रूपक—नौका के सामान ही गजेंद्र या गजवर भी बौद्ध सहजिया सिद्धों का प्रिय प्रतीक है। कान्हूपाद, कृष्णपाद, महीधरपाद और

---

१९. बौ० गा० दो०, मूल, च० २१, पृ० ३६–३७।

२०. बौ० गा० दो०, मूल, च० १७, पृ० ३०।

वीणापाद ने इस प्रतीक का प्रयोग किया है।[२१] इनमें से कान्हूपाद, कृष्णपाद और वीणापाद ने केवल प्रतीक रूप में इसका प्रयोग किया है। किंतु महीधरपाद ने इस पर सांगरूपक बाँधा है। कान्हूपाद या कृष्णपाद ने गजेंद्र को ज्ञानगजेंद्र और चित्तगजेंद्र या साधक का प्रतीक माना है। उन्होंने एक दूसरे स्थान पर गज को अविद्या का भी प्रतीक माना है। एक अन्य चर्यापद में गजेंद्र को साधक के चित्त का प्रतीक माना है। वीणापाद ने भी गजवर या गजेंद्र को साधक के चित्त का प्रतीक स्वीकार किया है। महीधर के सांग रूपक में गजेंद्र जो घन घन शब्द सुनता है, वही अनाहत ध्वनि या शून्यताशब्द है। गजेंद्र को प्रमत्त बनानेवाला आसव ज्ञानासव है। तुष (तृष्णा ?) आदि ही असार चंद्रसूर्यादि विकल्प हैं जिनका वह ध्वंस करता है। सरोवर ही महासुख सरोवर या गगन है। दो खंभे जिनसे वह बँधा हुआ है, संसारपाश हैं। शृंखला अविद्या है।

गजेंद्र संबंधी इन प्रतीकार्थों से भी तांत्रिक बौद्ध योग की वही साधना अभिप्रेत्य है जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। शून्यता ज्ञान या शब्द को प्राप्त कर चित्त ऊर्ध्वमुख होता है और ज्ञानासव का पान कर प्रमत्त होकर महासुख सरोवर रूप गगन में प्रवेश करता है। ऐसी अवस्था में सभी सांवृतिक बंधन शिथिल और नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। चित्त सब से परे हो जाता है। बाह्य संसार की सुध बुध उस पारमार्थिक चित्त को नहीं रहती।

हरिण का रूपक—भुसुकुपाद ने अपनी साधना की अभिव्यक्ति के लिये हरिण को प्रतीक रूप में ग्रहण कर उस पर सांग रूपक बाँधा है।[२२] अन्य चर्यापदों की रूपककल्पना की तुलना में भुसुकुपाद की हरिण की

---

२१. वही, मूल, च० ९, १२, १६, १७, पृ० १७, २२, २९, ३०।

२२. वही, मूल, च० ६, पृ० १२।

रूपककल्पना रहस्यात्मक की अपेक्षा दार्शनिक अधिक है।[२३] यहाँ हरिण को चित्त या चित्तपवन का, अहेरियों को मृत्यु और मार (कामदेव) का प्रतीक, हरिण के मांस को उसी की अविद्या मात्सर्य आदि के रूप में उसके वैरी का, हरिणी को ज्ञानमुद्रा नैरात्मा का, हरिण के शरीर को वन का प्रतीक स्वीकार किया गया है। इस रूपक के माध्यम से भी उपरोक्त चित्तसाधना अभिप्रेत्य है।

संयोग और विवाह का रूपक—इसी प्रकार काण्हपाद ने डोंबी के साथ संयोग का रूपक बाँधा है जिसमें डोंबी को परिशुद्धावधूतिका नैरात्मा का, नगर को रूपादि विषयों के समूह का, नौका को संवृत्ति बोधिचित्त का, तंत्री को अविद्या का, चंगेरा को विषयाभास रूप आवरण का, नटपेटिका को संसार का प्रतीक माना है। यह रूपक न पूर्ण ही है और न दूरगामी ही। एक दूसरे चर्यापद में डोंबी के साथ विवाह का पूरा सांग रूपक बाँधा गया है जिसमें डोंबी को अपरिशुद्धावधूतिका का, विवाह को उसके वहिर्मुखी प्रवाह को भंग करने का, योगिनीजाल को ज्ञानरश्मि का, रजनी को क्लेशांधकार का प्रतीक माना है।[२४]

मदिरा और रूई धुनने के प्रतीक—इन रूपकों की कल्पना क्रमशः विरुवापाद और शांतिपाद ने की है।[२५] मदिरा और शुंडिनी का रूपक पूर्ण, सांग और दूरगामी नहीं है। इन्हीं दो शब्दों से कुछ कल्पना की जा सकती है। यहाँ शुंडिनी अवधूतिका है, द्वैत चंद्र और सूर्य हैं। घर मध्यम-पथ है। चिकण ही अविद्यामलराहित्य है। वारुणी बोधिचित्त है। चित्त को सांवृतिक अवस्था से पारमार्थिक अवस्था में ले जाने की साधना इससे भी

---

२३. स्ट० तं०, वा० १, बागची, पृ० ८३।

२४. बौ० गा० दो०, मूल, च० १०, १९, पृ० १९, ३३।

२५. वही, मूल, च० ३, २६, पृ० ७, ४१।

वर्णित की गई है। शांतिपाद ने रूई धुनने के रूपक में काय, वाक्, चित्त तथा तदुद्भूत त्रैलोक्य का प्रतीक रूई को माना है।

यदि इन रूपकों और प्रतीकों की पूरी पूरी व्याख्या की जाय तो सहज-यानी बौद्ध सिद्धों की चित्तसाधना का पूरा विवरण उनके आधार पर उपस्थित किया जा सकता है। इन रूपकों और प्रतीकों के समान ही संधा भाषा के मर्मार्थ को उद्घाटित करने के लिये चर्यापदों में तथा अन्य रचनाओं में प्रयुक्त शब्दों का संग्रह और उनकी व्याख्या भी सहायक और लाभप्रद हो सकती है।

———

परिशिष्ट–६

पारिभाषिक शब्द और पद

संकेत—पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या में संदर्भ के लिये निम्नलिखित [संकेताक्षरों का प्रयोग किया गया है—

बौ० दो० = बौद्ध गान ओ दोहा—सं० म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्री।

च० = चर्यापद (चर्यागीति)।

सं० टी० = संस्कृत टीका (बौ० दो०)।

बं० टी० = बंगला टीका।

डा० = डाकार्णव, सं० डा० चौधरी।

स्ट० तं० = स्टडीज इन दि तंत्रज, वा० १, डा० बागची।

चर्या० = चर्यापद—श्री मणींद्रमोहन वसु।

× × × ×

अंकवाली = अङ्कं स्व चिह्नं साधकाय ददाति। तं पालयति च (बौ० दो०, च० ४, सं० टी०)। साधक को अपना अंक, चिह्न वा स्वरूपता प्रदान करती है तथा उसका पालन करती अर्थात् आनंद प्रदान करती है। (वही, बं० टी०; चर्या०, पृ० २०)।

अंधारि = सकलक्लेशान्धकारं (बौ० दो०, च० ५०, सं० टी०)। क्लेशरूप सकल अंधकार (वही, बं० टी०)।

अग्नि = तिब्बती में इसका प्रयोग सार या हृदय के अर्थ में किया गया है। इसे वज्र के सार या हृदय के अर्थ में भी ग्रहण किया जा सकता है (डा० पृ० ४२)।

अठकमारी = अठकुमारीति बुद्धैश्वर्यादिसुखम् (बौ०दो०, च० १३, सं०टी०)। अष्टकुमारी अर्थात् अष्टप्रकृति के ऊपर आधिपत्य रूप बुद्धैश्वर्य सुख (वही, बं० टी०)। स्कंध, धातु, आयतनादि आठ प्रकार के विकल्पात्मक ज्ञानों का परिहार (चर्या०, पृ० ६६)।

अणाह = अनाहतमिति शून्यताशब्दं (बौ० दो०, च० १६, सं० टी०)। अनाहत ध्वनि अर्थात् शून्यता का शब्द या घोष (वही, बं० टी०)। सहज स्वभाव में प्रवेश करने पर सुनाई देनेवाला भयंकर शून्यता का घन गर्जन (चर्या०, पृ० ८३)

अधराति = सेकपटलोक्तविधानात् अर्द्धरात्रौ चतुर्थीसंध्यायां प्रज्ञाज्ञानाभिषेकदान समये (बौ० दो०, च० २७, सं० टी०)। प्रज्ञाज्ञानाभिषेकदान का वह समय जब शून्यता या प्रज्ञा रूप सूर्य की किरणों का प्रकाश उष्णीषकमल या सहस्रार में होता है (चर्या०, पृ० १३०)।

अनहा डमरू = अनाहतं डमरू शब्दं (बौ० दो०, च० ११, सं० टी०)। अनाहत डमरू (वही, बं० टी०)।

अपा = चित्तराजस्य (बौ० दो०, च० ३१, सं० टी०)। आत्मा (चित्तराज) (वही, बं० टी०; चर्या० पृ० १५१)।

अपान = अपान पंचवायुओं में से एक है जो गुदामार्ग से निःसृत होता है (डा०, पृ० ८३)।

अमिअ = बोधिचित्तामृतास्वादाहरं (बौ० दो०, च० २१, सं० टी०)। सहजानंद (वही, च० ३६, सं० टी०)। विचित्र क्षण में कुलिशारविंदसंयोग में कायानंदादि द्वारा चित्तरूपी अमृतभक्षक मूषक उस विचित्र आनंद का भक्षण करता है (वही, च० २१, बं० टी०)।

अवधूती = अनादिभवविकल्पञ्च धूत्वा (बौ० दो०, च० २, सं० टी०)। "अवहेलया क्लेशादिपापान् धुनोति इत्यवधूती"—दो० १२४, टीका। वह जिसकी सहायता से सभी क्लेशों का हरण करने वाले

निर्वाण की प्राप्ति होती है (चर्या०, पृ० ११)। अवधूती मध्यदेशे तु महासुखाधाररूपिणी (साधनमाला, ४४८.१४)।

अस्थ्याभरण = अस्थ्याभरणं निरंशुकं। रत्न (स्ट० तं०, पृ० २९-३०)।

अहंकार = वज्रयान की उपासना में अहंकार सिद्धांत साधक की साध्य से अभिन्नता को कहते हैं (डा०, पृ० ५६)।

अहेरि = भुसुकु व्याध, साधक (बौ० दो०, च० ६, बं० टी०)।

आनंदचउत्थइ = चार प्रकार के आनंद—(१) आनंद, २—परमानंद, ३—सहजानंद, ४—विरमानंद। आनंद चउत्थ—विरमानंद (डा०, पृ० १४), (अद्वय वज्रसंग्रह, पृ० ३२)।

आलाजाला = संकल्पविकल्पजालं (बौ० दो, च० ४०, सं० टी०)। इंद्रजाल (तिब्बती टीका, चर्या०, पृ० १९७)।

आलिकालि = आलिना लोकज्ञानेन कालिना लोकभासेन (बौ० दो०, च० ७, सं० टी०)। लोकज्ञान, स्वरवर्ण या चंद्रनाड़ी। लोकभास, व्यंजनवर्ण या सूर्यनाड़ी (वही, बं० टी०, स्ट० तं०, पृ० ३१)।

आसव=एषां त्रयाणामनुपलम्भासव (बौ० दो, च० ६, सं० टी०)। ललना, रसना और अवधूती—इन तीनों का अनुपलंभ रूप आसव (वही, बं० टी०)। ज्ञानासव, आध्यात्मिक मद्य (चर्या०, पृ० ८५-८६)।

उजूबाट=विरमानन्दावधूतिमार्गं (बौ० दो०, च० १५, सं० टी०)। विरमानंदावधूतीरूप सरल पथ (वही, बं० टी०)। सहज पथ (चर्या० पृ० ७७, ७९)।

उपाय=उपाय ही करुणा है। दे० अद्वयवज्रसंग्रह, पृ० २ (डा०, पृ० ७०)।

एवंकार=एकारश्चन्द्राभासं वंकारः सूर्यः (बौ० दो०, च० ६, सं० टी०)। एकार वंकार, चंद्र सूर्य, दिवा रात्रि, इन सब शब्दों से द्वंद्वात्मक विपरीत ज्ञान को लक्ष्य किया गया है। द्वंद्वात्मक ज्ञान ही संसार के बंधन का प्रधान कारण है। इसलिये इसे दृढ़स्तंभ

कहना संगत ही है। इसीलिये परम तत्व को 'द्वंद्वातीत' कहा गया है। नाड़ी का अर्थ 'ज्ञान प्रवाह' है (बौ० दो०, च० ६ की पाद-टिप्पणी)। एकार=चंद्रनाड़ी, वंकार=सूर्यनाड़ी (वही, बं० टी०)

ओड्डियाण=महासुखचक्रे (बौ० दो०, च० ४, सं० टी०)।

कंगुरिना (कंगुचिना)=कं सुखं संवृत्तिबोधिचित्तं तेन यस्य अङ्कचिनमिति (बौ० दो०, च० ५०, सं० टी०)। कंगुचिनाफल, संवृत्तिबोधिचित्त (वही, बं० टी०)। धान्यादि वर्ग का शस्य विशेष। शबर जाति का प्रिय खाद्य (चर्या०, पृ० २३४)।

कंठ=कण्ठेति सम्भोगचक्रे (बौ० दो०, च० २८, ५०, सं० टी०)। संभोग चक्र।

कक्कोल=पद्म (स्ट० तं०, पृ० ३०)।

कन्नु (कर्णतारा)=अष्टभुजा कुरुकुल्ला देवी की संगिनी (डा०, पृ० १००)।

कपाल=पद्मभाजन (स्ट० तं०, पृ० ३०)।

कपाली=कापालिकः। चर्याधरश्च। कं तव सुखं पालितुं समर्थः (बौ० दो०, च० १०, सं० टी०)। "कं सवृत्तिबोधिचित्तं पालयतीति कापालिकः" (वही, च० १४, सं० टी०)। संवृत्ति बोधिचित्त को पालने वाला या सुख प्रदान करने वाला।

कपासु=ककारस्य पार्श्ववर्ती खकारश्चतुर्थशून्यं (बौ० दो, च० ५०, सं टी०)। प्रभास्वर होने के कारण, कपास के समान शुभ्रवर्णवाला कह कर चतुर्थ शून्य की ओर संकेत किया गया है (चर्या०, पृ० २३४)।

कमल=कमलं उष्णीषकमलं (बौ० दो०, च० २७, सं० टी०)। उष्णीष-कमल, मस्तकस्थ सहस्रदल कमल (वही, बं० टी०)। पद्म। शक्ति। प्रज्ञा।

कमलरस=उष्णीषकमलमधुमदनं परमार्थबोधिचित्तं (बौ० दो०, च० ४,

सं० टी०)। बोधिचित्त रूप कमलरस (वही, बं० टी०)। परमार्थ मधु, मस्तकस्थ कमल का परमार्थ मधु (चर्या०, पृ० २०, २२)।

कमलिनि=कमलरसं महासुखरसस्यास्तीति कमलिनी। सैव प्रकृति परिशुद्धावधूतिका नैरात्मा (बौ० दो०, च० २७, सं० टी०)। प्रकृति परिशुद्धावधूतिका नैरात्मा (वही, बं० टी०)।

कम्म कुंभ=बौद्ध उपासना कार्य में दो प्रकार के जलपात्र काम में लाए जाते हैं; एक तो कर्मकुंभ कहलाता है और दूसरा विजयकुंभ (दे० टिबेटेन इंगलिश डिक्शनरी, एस० दास,पृ० ८७४; डा०, पृ० ६८)।

करिण करिणी=यथा वाह्यकरी करिण्यामीर्ष्यामदं वहति। तद्भगवती नैरात्मासङ्गतया चित्तगजेन्द्र कृष्णाचार्यपादः तथतामदं प्रवर्षति (बौ० दो०, च० ६, सं० टी०)। वाह्यजगत् में हाथी जिस प्रकार हथिनी को देखकर ईर्ष्यामद को वहन करता है, उसी प्रकार भगवती नैरात्मा का संग लाभकर चित्तगजेन्द्र (जिसका चित्त गजेंद्रवत् मत्त है) कृष्णाचार्यपाद तथतामद धारा या तथागत के ऐश्वर्य की वर्षा करने लगते हैं करिणी=भगवती नैरात्मा, करिण=चित्तगजेंद्र कृष्णाचार्य (वही, बं० टी०)।

करुण=करुणेति संवृति सत्यं (बौ० दो०, च० ३४, सं० टी०)। संवृति सत्य।

करुणा=करुणेति। स्वाधिष्ठानचित्तरूपाचित्तं बोद्धव्यं (बौ० दो०, च० १२, सं० टी०)। करुणा रूप स्वाधिष्ठान बोधिचित्त (वही, बं० टी०)। स्वरूप में अवस्थित तथा अविद्या से उत्पन्न विभिन्न दोषों से मुक्त चित्त (चर्या०, पृ० ६१-६२)।

काछि=कच्छिकासु विद्यासूत्रञ्च (बौ० दो०, च० ८, सं० टी०)। अविद्या रूपी रस्सी (वही, बं० टी०)।

काघवियाएँ=स्कंधाभावात् (बौ० दो०, च० ४२, सं० टी०)। स्कंधवियोग

(वही, बं० टी०)। रूप, वेदना संज्ञा, संस्कार, विज्ञान नाम के पांच स्कंधों का वियोग अर्थात् मृत्यु (चर्या०, पृ० २०५-२०६)।

कानेट=प्रवेशादिवातदोषविभव (बौ० दो०, च० २, सं० टी०)।

कामचंडाली=कर्मस्थ साधनोपाय चण्डाली (बौ० दो०, च० १८)। डोंबी अस्पृश्य होने के कारण चंडाली है तथा विभिन्न रूपों में कार्य करने के कारण कर्म कुशल चंडाली कहलाती है (चर्या०, पृ० ९८)।

कामरूप=महासुखस्थान (बौ० दो०, च० २, सं० टी०)।

कालिंजर=भव्य (स्ट० तं०, पृ० ३३)।

कावाली = कं संवृत्तिबोधिचित्तं पालयतीति (बौ० दो०, च० १८, सं० टी०)। संवृत्ति या सांसारिक (बोधि)चित्त का पालन करने वाली या आनंद प्रदान करनेवाली।

कुंदुर=द्वीन्द्रिय संयोग (स्ट० तं०, पृ० ३३)।

कुंदुर वीर=द्वीन्द्रियसमापत्तियोगाद्यरसुखेन क्लेशारिमर्दनाद्वीरः (बौ० दो०, च० ४, सं० टी०) प्रज्ञा और उपाय के योग से प्राप्त होने वाले अक्षर सुख से क्लेश रूपी शत्रु का मर्दन करने वाला वीर।

कुंभीर=कुम्भक समाधि (बौ० दो०, च० २, सं० टी०)।

कुलिण=कौ शरीरे लीनं यत्प्रभास्वरं यदज्ञानरसेनान्ते वाह्ये कृतं (बौ० दो०, च० १८, सं० टी०)। कु अर्थात् शरीर में लीन प्रभास्वर ज्योतिः-स्वरूप (वही, बं० टी०)। वस्तुजगत् वा रूपादि विषय समूह में लीन (चर्या०, पृ० ९६)।

कुलें कुल=नैरात्मधर्म्मपरिचयेन वहिःशास्त्राभिमानिनो ये योगिनस्तेऽपि कुले शरीरे भ्रमन्तीति अाज्ञानेनावृता वाला इत्यादि (बौ० दो०, च० १४, सं० टी०)। नैरात्म धर्म से जिनका परिचय नहीं होता तथा जो साधन रूप इस नौका पर चढ़ते हैं और खेना नहीं जानते, उनकी कुल अर्थात् साधनशक्ति शरीर में या कुल में ही निमज्जित रहती है (वही, बं० टी०)। कुलें=शरीर में, कुल=साधन शक्ति।

कोंचाताल=तालसम्पुटीकरणे मणिमूलद्वारनिरोधं (बौ० दो०, च० ४, सं० टी०)। तिब्बती अनुवाद में 'कोंचा' शब्द का अर्थ वक्र अर्थात् दृढ़ दिया हुआ है। कोंचाताल = दृढ़ ताला। अथवा "अभेदितमभेद्यतालसम्पुटीकरणं सूर्यचन्द्रयोर्मार्गनिरोधं दीयते।" अभेद्य ताला द्वारा इस प्रकार बंध दिया जाय कि सूर्यचंद्रादि का भी प्रवेश न हो (चर्या०, पृ० २४)।

खट्टे=खट्वाङ्गमिति खं शून्यता, प्रभास्वरेण सहखं सम्पृष्य (बौ० दो०, च० ११, सं० टी०)। शून्यता (वही, बं० टी०)।

खमण भतारे=खमणेति सर्व्वशून्यं मनःस्वामी (बौ० दो०, च० २०, सं० टी०)। शून्य स्वरूप मन ही स्वामी है (वही, बं० टी०)।

खसम=प्रभास्वर तुल्यभूता (बौ० दो०, च० ५०, सं० टी०)। आकाश के समान (वही, बं० टी०)। प्रभास्वराशून्यता के समान (चर्या०, पृ० २३४)।

खुंटि=खुण्टिका आभासदोषं (बौ० दो०, च० ८, सं० टी०)।

गंगा जउना=गंगायमुनेति सन्ध्यया चन्द्राभाससूर्य्याभासौ ग्राह्यग्राहकौ (बौ० दो०, च० १४, सं० टी०)। चंद्र और सूर्य, ग्राह्य और ग्राहक (वही, बं० टी०)

गअणंत=गगनोपदेश चतुर्थानन्दोपदेशं गृहीत्वा गच्छतीति महासुखराशि निरन्तरं (बौ० दो० च० १६, सं० टी०) महासुख सरोवर रूप गगन या शून्यता की ओर (वही, बं० टी०, चर्या० पृ० ८६)।

गअण=गगनसमुद्र (बौ० दो०, च० ८, सं० टी०)। महासुखचक्रे (वही, च० ४७, सं० टी०)। महासुखचक्ररूप गगन में (वही, च० ४७, बं० टी०)।

गअणात=गगनमिति आलोकादिशून्यत्रयं (बौ० दो०, च० ३४, सं० टी०)। गगनेति प्रभास्वर समुद्रे (वही, च० ३५, सं० टी०)। गमणेत्युक्ति-

द्वयेन शून्यातिशून्यं बोद्धव्यं (वही, च० ५०, सं० टी०)। शून्य, अतिशून्य और महाशून्य नाम के तीन शून्य (चर्या०, पृ० १६६)।

गअण दुखोलें=शून्यता रूप सेचनी द्वारा (बौ० दो, च० १४, बं० टी०)।

गअण समुदे=प्रकृति प्रभास्वर रूप गगन समुद्र में (बौ० दो०, च० ३५, बं० टी०)।

गअवर=चित्त रूप गजेंद्र (बौ० दो०, च० १७, बं० टी०)।

गअवरेँ=तथता चित्तगजेन्द्रेण (बौ० दो०, च० १२, सं० टी०)। निर्वाणारोपित चित्तरूप गज द्वारा (चर्या०, पृ० ६४)।

गविआ=गावीति योगीन्द्रस्य गृहिणी वंध्या नैरात्मा (बौ० दो०, च० ३२, सं० टी०)।

गराहक=गन्धर्वसत्त्व (बौ० दो०, च० ३, सं० टी०)। अंतराभवसत्त्व; जन्म मरण के बीच में स्थिर रहने वाला, जो न मृत होता है, न कायांतर को प्राप्त करता है और न जन्म लेता है। उसे अंतराभवसत्व या गंधर्वसत्त्व कहते हैं। साधक जिस समय परमार्थ सत्य का संधान कर लेता है, उस समय बोधिचित्त की प्रसुप्त अवस्था महासुख के ग्राहक की होती है। ग्राहक (चर्या०, पृ० १७)।

गो=गो इति इंद्रियं (बौ० दो०, च० ३६, सं० टी०)।

घड़ली सरुई नाल=सैव पूर्वोक्तावधूतिका संवृत्तिपरमार्थसत्यद्वयं घटतीति कृत्वा घटी आभासद्वयनिरोधात् सूक्ष्मरूपा (वही, च० ३, सं० टी०)। संवृति और परमार्थ सत्य का संघटन करने वाली अवधूती है। ग्राह्य ग्राहक रूप दोनों आभासों का निरोध करने के कारण इस मार्ग को सूक्ष्म कहा गया है (चर्या०, पृ० १८)।

घर=सुमेरु शिखरं (बौ० दो०, च० ४, सं० टी०)। मध्यमार्गं (वही, च० ३, सं० टी०)।

घरिणी=निजगृहिणी ह्यपरिशुद्धावधूती वायुरूपा (बौ० दो०, च० ४६, सं० टी०)। अपरिशुद्धावधूतिका रूपा अपनी गृहिणी (वही, बं० टी०)।

चंचाली = चंचल विषय और इंद्रियगण (बौ० दो०, च० ५०, बं० टी०)।

चंडाली = प्रकृतिप्रभास्वररूपिणी चण्डाली (बौ० दो०, च० ४६, बं० टी०)। स्वशक्ति (वही, च० ४७, बं० टी०)। रत्नकुली (स्ट० तं०, पृ० ३०)। वह वायुरूपा प्रकृति शक्ति जो नाभि में प्रवाहित होती है (चर्या०, पृ० २३३)।

चउषट्टिकोठा=चतुष्षष्टि कोष्ठके निर्माणचक्रे (बौ० दो०, च० १२, सं० टी०)।

चतुर्धातु = बौद्ध मत में केवल चार धातु (एलिमेंट्स) स्वीकार किए गए हैं। "चत्वारि महाभूतानि··· कथम् ? पठवी धातु, आपो धातु, तेजो धातु, वायो धातु, भूतरूपं नाम।"—अभिधम्मत्थसंगहो, पृ० ३०। बौद्ध लोग आकाश को तत्व के रूप में स्वीकार नहीं करते—"आकास धातु परिच्छेदरूपं नाम।"—अभिधम्मत्थसंगहो, पृ० ३०।—(डा०, पृ० १२६)।

चांगेड़ा=चङ्कितमित्यादि। तस्य पल्लवं विषयाभासं (बौ० दो०, च० १०, सं० टी०)। विषयाभास रूप आवरणकारी टोकरी (वही, बं० टी०)।

चांदे=सहजानंदरूपचन्द्रेण द्वारा मोहान्धकारं नाशितमिति (बौ० दो०, च० ३०, सं० टी०)। मोहांधकार नाश करने वाला सहजानंदरूप चंद्रमा।

चारि = चतुर्थसन्ध्यया चतुरानन्दा बोद्धव्याः (बौ० दो०, च० ५०, सं० टी०)।

चिह्न = महारागसुखप्रमोदचिह्नं (बौ० दो०, च० ३, सं० टी०)। महासुख प्रमोद रूपी चिह्न (चर्या०, पृ० १५)।

चीअणवाकलअ = चिकना अविद्यामलरहित वल्कल (बौ० दो० च० ३, बं० टी०)।

चोर = सहजानंद चौरेण (बौ० दो०, च० २, सं० टी०)। समाधिस्थ अवस्था में अनुभूत सहजानंद जो निश्वास प्रश्वास, प्रवेशादिवातदोष का अपहरण करता है। (चर्या०, पृ० ११)।

जिनपुर=जिनपुरं महासुखपुरं (बौ० दो०, च० ७, सं० टी०)।

जिनरश्रण=जिनरत्नं रतिमनन्तमनुत्तरसुखं तनोतीति रत्नं चतुर्थानन्दं बोद्धव्यं (बौ० दो०, च० ४०, सं० टी०)। चतुर्थानंदरूप जिनरत्न (वही, बं० टी०)। अतींद्रिय सहजानंद (चर्या०, पृ० १६८)।

जोइणिजाल=ज्ञानरश्मि (बौ० दो०, च०, १६, सं० टी०) ज्ञानयोगिनी की ज्योति (चर्या०, पृ० १०३)।

जोइनि=नैरात्मयोगिनी (बौ० दो०, च० ४, सं० टी०)।

जोन्हावाड़ी=ज्ञानेन्दुमण्डल (बौ० दो०, च० ५० सं० टी०)।

टांगी=युगनद्ध परशुना (बौ० दो०, च० ५, सं० टी०)।

टालत=टा इति टमलमसद्रूपं कायवाक्चित्तस्य षष्ट्युत्तरशतप्रकृतिदोषं यस्मिन् समये महासुखचक्रे (बौ० दो०, च० ३३, सं० टी०)। टा, अर्थात् काय, वाक् और चित्त के १६० प्रकार के प्रकृतिदोष हैं। ये जिसमें लीन होते हैं वह महासुखचक्र। टालत=महासुखचक्र (वही, बं० टी०)।

ठाकुर=ठकुरमविद्याचित्तं (बौ० दो०, च० १२, सं० टी०)। राजा अथवा अविद्याग्रस्त चित्त (वही, बं० टी०)।

डमरुक=कुपीट (ढोलक) (स्ट० तं०, पृ० ३०)।

दुआ=आभासद्वयम् (बौ० दो०, च० १२, सं० टी०)। लोकज्ञान और लोकाभास रूप दो आभास (चर्या०, पृ० ६१)।

दुआंत=अन्तद्वयं पारावारं वामदक्षिणं (बौ० दो०, च० ५, सं० टी०)। वाम और दक्षिण।

दुर्दुर=अभव्य, दुर्जन (स्ट० तं०, पृ० ३०)।

दुलि=द्वयाकारं यस्मिन् लीनं गतं महासुखकमलं (बौ० दो०, च० २, सं० टी०)। कच्छप। द्वैतभाव जिसमें लीन हो जाते हैं, वह महासुखकमल।

द्विजा=तथागती (स्ट० तं०, पृ० ३०)।

धमण चमण = धवनं शशिशुद्ध्यालिना चवनं रविशुद्ध्या कालिना तदुभाभ्याम् (बौ० दो०, च० १, सं० टी०)। लोकज्ञान और लोकभास। शशि, रवि। आलि, कालि।

धर्म = पथ, निर्वाण। वज्र और धर्म (=निर्वाण) अभिन्न हैं। वज्र और निर्वाण भी एक हैं (डा०, पृ० ४–५)।

धर्मधातु = सभी बुद्धों का आलय। प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि में—'तदेव सर्वबुद्धानामालयं परमाद्भुतम्। श्रेयः सम्पत्करं दिव्यं धर्मधातु प्रकीर्तितम्' (डा०, पृ० २१)।

धातु = तत्व (एलिमेंट)। बौद्धों ने छः धातुएँ मानी हैं—(१) चक्षुधातु, (२) श्रोत्रधातु, (३) घ्राणधातु, (४) जिह्वाधातु, (५) कामधातु, (६) मनोधातु। इसी प्रकार इनके छः विषय तथा इनके छः प्रकार के विज्ञान भी माने गए हैं (डा०, पृ० ११०-१११)।

धाम=धर्म। पदार्थ। वस्तुजगत् (बौ० दो०, च० १२)।

नअबल=नयं मन्त्रनयरहस्यं चतुर्थानंदबलं (बौ० दो०, च० १२, सं० टी०)। दावा या मंत्रनयरहस्यात्मक चतुर्थानंदबल (वही, बं० टी०)। काय, वाक् और चित्त—इन तीनों से अतीत चतुर्थ आनंद रूपी बल (चर्या०, पृ० ६२)।

नगर=नगरिकेति रूपादिविषयसमूहं बोद्धव्यं (बौ० दो०, च० १०, सं० टी०)। इंद्रियों से अनुभूत होनेवाला रूपादिविषयसंवलित वस्तुजगत्।

नटी=पद्मकुली (स्ट० तं०, पृ० ३०)।

नड़पेड़ा=नटवत् संसारपेटकं (बौ० दो०, च० १०, सं० टी०)। संसाररूप नटपेटिका (वही, बं० टी०) संसार की समानतावाला शर नामक घास से बना हुआ पिटारा।

नणाद=चक्षुरिन्द्रियादि विज्ञानवातं नानाप्रकारं बोद्धव्यं (बौ० दो०, च० ११, सं० टी०)। अनेक प्रकार के आनंदों में लीन रहनेवाली चक्षु आदि इंद्रियाँ।

नलिनीवन=नलिनीबनं महासुखकमलवनम् (बौ० दो०, च० ६, सं० टी०)। महासुखकमल का बन।

नवगुण=नवगुणमिति नवपवनश्च (बौ० दो०, च० ४७, सं० टी०)। नौ पवन रूप नौ गुण। नौ प्रकार की प्राणवायु।

नाई=यस्याः शुक्रनाड़िका विरमानंदावधूतिकाया मध्ये वर्तते। सा एव नौ सन्ध्याभाषया बोद्धव्या (बौ० दो०, च० १४, सं० टी०)। गंगा और यमुना के बीच शुक्रनाड़िका विरमानंदावधूतिका रूप नौका (वही, बं० टी०)।

नाड़िशक्ति=नाड़िशक्तिनाड़िका द्वात्रिंशनाड़िकाः शक्तिस्तासां मध्ये प्रधानावधूतिका विरमानंदरूपा (बौ० दो०, च० ११, सं० टी०)। ३२ नाड़ियों में प्रधान विरमानंदरूपा अवधूतिका नाड़ी शक्ति।

नाद = प्रज्ञाग्राह्यज्ञानविकल्पः नादः (बौ० दो०, च० ४४, सं० टी०)। ग्राह्य संबंधी ज्ञान के विकल्प को नाद कहा गया है (चर्या०, पृ० २१३)।

नादविंदु = नादविन्द्वादिविकल्प (बौ० दो०, च० ३२, सं० टी०)। नाद, विंदु आदि विकल्प हैं।

नावेँ=बोधिचित्तनौका (बौ० दो०, च० २०, सं० टी०)। संवृत्ति बोधिचित्त रूप नौका (वही, बं० टी०)।

निघिण=लज्जादिदोषरहित (बौ० दो०, च० १०, सं० टी०)।

निद=चतुर्थानंदं योगनिद्रां (बौ० दो०, च० २, सं० टी०)। तुरीयानंद प्राप्त करते समय की योगनिद्रा।

निरासी=भगवती नैरात्मा निरासा। आसंगरहिता (बौ० दो०, च० २०, सं० टी०)। वासनारहित।

निर्वाण=बौद्ध शास्त्रों में निर्वाण चार प्रकार का माना गया है—(१) साधारण निर्वाण, (२) उपाधिशेष निर्वाण, (३) अनुपाधिशेष निर्वाण तथा (४) महानिर्वाण । इनमें से महानिर्माण केवल बुद्ध लोग ही प्राप्त कर पाते हैं। इसे ही कभी कभी प्रभास्वर चतुर्थ शून्य भी कहते हैं (चर्या०, पृ० २३२–२३३)।

निसि=निसि प्रज्ञा कर्माङ्गना वा बोद्धव्या (बौ० दो०, च० २१, सं० टी०)। रात्रि, कायजकर्मशक्तिरूपा प्रज्ञा (वही, बं० टी०)। क्लेशांधकारमयी रात्रि (चर्या० पृ० ११२)।

निःस्वभाव = शून्य (डा०, पृ० ८२)।

नैरामणिदारी = क्लेशान् दारयतीति दारिका नैरात्मा (बौ० दो०, च० २८; सं० टी०)। क्लेशों को विदीर्ण करनेवाली निज गृहिणी नैरात्मा।

पंचकेडुआल=पञ्चक्रमोपदेशं (बौ० दो०, च० १४, सं० टी०)। गुरु के पाँच उपदेश रूप पाँच डाँड़े (वही, बं० टी०)।

पंचजण=पाँच स्कंध रूप पाँच जन (बौ० दो०, च० २३, बं० टी०)। पञ्चस्कन्धात्मक पञ्चविषयस्याहंकारादिभूषणं (वही, च० १२, सं० टी०)। पंचस्कंधात्मक पंचविषयगत अहंकार आदि (वही, बं० टी०)। पाँच ज्ञानेंद्रियाँ (चर्या०, पृ० १२४)।

पंचघाट (पंचपाट) = पञ्चस्कंधाश्रिताहंकारममकारादिकं इंद्रियविषयञ्च (बौ० दो०, च ०४६, सं० टी)। रूपादि विषय स्कंध (चर्या०, पृ० २२८)।

पंचनाल = हरि, हर, ब्रह्मा, नौ गुण और विषयेंद्रिय—ये पाँच नाड़ियाँ हैं (बौ० दो०, च० ४७, बं० टी०)। विष्ठानाड़ी, मूत्रनाड़ी, शुक्रनाड़ी, ललना तथा रसना नाम की पाँच नाड़ियाँ (चर्या०, पृ० २२४)।

पँउआ=प्रज्ञारविंदं (बौ० दो०, च० ४६, सं० टी०)। प्रज्ञा रूप पद्म (वही, बं० टी०)।

पणाल=प्रकृष्ट मार्ग, अवधूती मार्ग (बौ० दो०, च० ४७, बं० टी०)।

पद्म=संधाभाषा में इसका अर्थ है—स्वसृष्टि (सेल्फ क्रिएशन)। यह नारी सिद्धांत का भी प्रतीक है। यथा—'स्त्रीद्रियं च यथा पद्मं।' (डा०, पृ० ५१)।

पद्मवण=महासुखकमलवन (बौ० दो०, च० २३, बं० टी०)।

पदुमा=पद्मैकं निर्माणचक्रं चतुष्षष्टिदलयुक्तं (बौ० दो०, च० १०, सं० टी०)। ६४ दलों से युक्त निर्माणपद्म (चक्र)।

पाणी=पानीयं, विषयाह्लोलनं (बौ० दो०, च० १४, सं० टी०)। विषय रूप जल (वही, बं० टी०)। विषयों की तरंग या लहर (चर्या०, पृ० ७४)।

पारिमकुलें=तस्य पारं प्रभास्वरो महासुखेन (बौ० दो०, च० ३४, सं० टी०)। परमकुल-स्वरूप प्रभास्वर शून्य (वही०, बं० टी०)।

पावत=योगींद्रस्य स्वकायकंकालदंडमुन्नतं सुमेरुशिखराग्रे महासुखचक्रे (बौ० दो०, च० २८, सं० टी०)। पर्वत। योगी के शरीर का मेरुदंड ही सुमेरु पर्वत है।

पिटा=पीठके वज्रमणौ (बौ० दो०, च० २, सं० टी०)। शरीर में २४ पीठ कल्पित हैं। यथा—'चतुर्विंशतिभेदेन पीठाद्यत्रैव संस्थितम्।' इसमें वज्रमणिपीठ अन्यतम है। इसमें शून्यतारूप वज्र का अधिष्ठान है (चर्या०, पृ० १०)।

प्रज्ञोपाय=सिद्धि प्राप्त करने का मार्ग प्रज्ञा और उपाय का उचित संयोग है। प्रज्ञा ही शून्यता है जो सभी प्रपंचों से मुक्त है। उपाय ही करुणा है। मोक्ष की प्राप्ति के लिये दोनों की एक साथ ही प्राप्ति आवश्यक है। वे दोनों उसी प्रकार अभिन्न हैं जिस प्रकार प्रदीप और उसका आलोक (अद्वयवज्रसंग्रह, पृ० २; डा०, पृ० १२३)।

प्रपंच = एवं तावत्कर्मक्लेश विकल्पतः प्रवर्तन्ते। ते च विकल्पा अनादिमत्-संसाराभ्यस्तात ज्ञानज्ञेयवाच्यवाचककर्तृकर्मकरणक्रियाघटपटमुकुटर्थ-रूपवेदनास्त्रीपुरुषलाभालाभेसुखदुःखयशोऽयशोनिन्दाप्रशंसादिलक्षणा-द्विचित्रात्प्रपञ्चादुपजायते (माध्यमिक वृत्ति, पृ० ३५०, पृ० १३–१५, द्वा०, पृ० २)। कर्मक्लेश विकल्प यथा ज्ञान–ज्ञेय, लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि।

बंगाली = अद्वैतज्ञानारूढ़ (बौ० दो०, च० ४६, बं० टी०)। अद्वय ज्ञान को धारण करने वाला (चर्या०, पृ० २२७)।

बड़िया=बडिकेतिसन्ध्याभाषया षष्ट्युत्तर प्रकृतयः (बौ० दो०, च० १२, सं० टी०)। प्रकृति के दोष रूप में १६० प्रकार की अभिव्यक्तियाँ।

बतिस जोइणी = द्वात्रिंशद् योगिनी द्वात्रिंशन्नाड़िका बोधिचित्रवहा ललनारस-नावधूती अभेद्याः सूक्ष्मरूपादिका बोद्धव्याः (बौ० दो०, च० २७, सं० टी०)। ललना, रसना, अवधूती आदि नाम की बोधिचित्तवहा सूक्ष्म ३२ नाड़ियाँ (वही, बं० टी०)।

बन = कायपर्वतबने (बौ० दो०, च० २८, सं० टी०)। शरीर रूप पर्वत के बन में (वही, बं० टी०)।

बलंदें = दुष्ट बलदमिति। दुष्टविषयं बलं ददाति इति दुष्ट बलद चित्तराजो बोद्धव्यः (बौ० दो०, च० ३६, सं० टी०)। दुष्ट विषयों को देने वाला चित्त रूपी बैल।

बल=मांस (स्ट० तं०, पृ० ३०)।

बलद=बलं मानसोद्देहविग्रहं ददातीति बलदस्तदेव बोधिचित्तं आभासत्रय प्रस्तुतं (बौ० दो०, च० ३३, सं० टी०)। बोधिचित्त रूप बलद (वही, बं० टी०)। सक्रिय मन से रूपजगत् की सृष्टि होती है। इसीलिये बोधिचित्त को बलद कहा गया है (चर्या०, पृ० १६१–१६२)।

बहुड़ी = अवधूति शब्द सन्ध्यया (बौ० दो०, च० २, सं० टी०)। योगीन्द्रस्य गृहिणी नैरात्मा (वही, च० २८, सं० टी०)। नैरात्मा अवधूती, नैरात्मा (चर्या०, पृ० १२)। योगिनीगण (बौ० दो०, च० २, बं० टी०)।

बाट=अवधूतीमार्ग (बौ० दो०, च० ७, सं० टी०)। निर्वाणलाभ का पथ (चर्या०, पृ० ३५)।

बापुड़ी=जगद्वीजवपनकर्त्री (बौ० दो०, च० १०, सं० टी०)। पार्थिव संपत्ति का परित्याग करने वाली (चर्या०, पृ० ५३)।

बाह्म = बाह्मेतिसन्ध्यावचने विटनाड़िका बोद्धव्या (बौ० दो०, च० ४७, सं० टी०)। मलनाड़ी (वही, बं० टी०)।

बाह्मनाड़िआ (बाह्मण नाड़िआ) = ब्रह्मणेतिब्रह्महुंकारवीजजातं चपलयोगत्वात् चित्तबटुकं असम्प्रदाययोगिनां बोधिचित्तम् (बौ० दो०, च० १०, सं० टी०)। चपलता के कारण, अबौद्ध योगियों के चित्त को बटुक कहा गया है।

बिंदु=उपायग्राहकज्ञान विकल्पः बिंदुमिति (बौ० दो०, च० ४४, सं० टी०)। ग्राहक के ज्ञान संबंधी विकल्प को बिंदु कहा गया है (चर्या०, पृ० २१३)।

बोधिचित्त=शुक्र का प्रतीक है। बोधिचित्तं हइ = बोधिचित्तं जायते = शुक्रं उत्पद्यते। कान्ह के ७वें दोहे की टीका द्रष्टव्य (डा०, पृ० १६)

बोधिसत्त्व = यह एक रहस्यात्मक शब्द है जिसका अर्थ है वस्तु (आब्जेक्ट)। बुद्ध और बोधिसत्त्व, दोनों ही रहस्यात्मक शब्द हैं। इनकी व्याख्या डाकार्णव में मिलती है—कः बुद्धं कः बोधिसत्त्वकं विशेषं नात्र विद्यते। वस्तुबोधनाद् बुद्धोऽहन्तद्वस्तु बोधिसत्त्वकम् ॥—चतुर्दश पटल (डा० पृ० १३३–१३४)।

बोल = वज्र (स्ट० तं०, पृ० ३०)।

भवणइ = पूर्वोक्तललनारसनाद्याभावत्रय पारवारगभीरत्वेन नदी सन्ध्यया बोद्धव्यम् (बौ० दो०, च० ५, सं० टी०)। भवनदी।

भवनिव्वाणेँ = संसार में पुनः पुनः जन्ममृत्युरूप भव तथा उससे मुक्तिरूप निर्वाण। (बौ० दो०, च० १६, बं० टी०)। भव निर्वाणं मनपवनादि विकल्पं (वही, च० १६, सं० टी०)।

भवबल = भवबलं विषयाभासबलं (बौ० दो०, च० १२, सं० टी०)।

भात=भक्तं तस्य संवृत्तिबोधिचित्तविज्ञानाधिरूपम् (बौ० दो०, च० ३३, सं० टी०)। संवृत्ति बोधिचित्त (वही, बं० टी०)।

भूमिहइ = दशभूमियाँ, आध्यात्मिक पूर्णता या सिद्धि की दस अवस्थाएँ (डा०, पृ० ७५)।

मणि = बुद्ध और उनके उपदेशों का प्रतीक (डा०, पृ० ३७)।

मणिकुले = मणिमूले (बौ० दो०, च० ४, सं० टी०)। तांत्रिक हिंदू मत की शब्दावली में मूलाधारचक्र में (चर्या०, पृ० २०)।

मध्यम = हीनयान में इसका अर्थ है भौतिकवाद और आत्मवाद के बीच का मार्ग। महायान में इसका अर्थ है सापेक्षता, जो शून्यता है (डा०, पृ० ५०)।

मलयज = मिलन (स्ट० तं०, पृ० ३३)।

महामांस = आलिज ? शुभ्रवर्ण। हेवज्रतंत्र के चीनी अनुवाद के आधार पर अर्थ है योग, युक्त (स्ट० तं०, पृ० ३०)।

महासुखलीला = लीलेमिति क्रीड़या योगनिद्रामतः (बौ० दो०, च० १८, सं० टी०)। महासुखलीला, योगनिद्रा (वही, बं० टी०)। सहजानंद महासुखलीला (चर्या०, पृ० ६४)।

माँगत = मार्गं विरमानंदं (बौ० दो०, च० ८, सं० टी०)। विरमानंद या निर्वाणपथ (चर्या०, पृ० ४३)।

माँसे = कृताविद्यामात्सर्यदोषेण (बौ० दो०, च० ६, सं० टी०)। अविद्या मात्सर्य आदि दोष।

माअ = अविद्यां च मायारूपां (बौ० दो०, च० ११, सं० टी०)। मायारूपा अविद्या (चर्या०, पृ० ५६)।

मातंगी = सहजयानप्रमत्ताङ्गी सुतरां मातङ्गी डोम्बी (बौ० दो०, च० १४, सं० टी०)। मत्तता के कारण हस्तिनी के रूप में कल्पित अवधूती (चर्या०, पृ० ७३)।

मालइ इंधनं = व्यंजन (स्ट० तं०, पृ० ३३)।

मुसा = मूषकः सन्ध्यावचने चित्तपवनः बोद्धव्यः (बौ० दो०, च० २१, सं० टी०)। पवन के समान चंचल चित्त को मूषक कहा गया है (चर्या०, पृ० ११२)।

मूत्र = कस्तूरिका (स्ट० तं०, पृ० ३०)।

मेलें = प्रज्ञोपायमेलके (बौ० दो०, च० २७, सं० टी०)। मिलन, प्रज्ञा और उपाय का मिलन।

मोलाण = सरोवरं कायपुष्करं तन्मूलं तदेव बोधिचित्तं संवृत्या शुक्ररूपं (बौ० दो०, च० १०, सं० टी०)। मृणाल; कायारूपी सरोवर का मूल बोधिचित्त वा शुक्र (चर्या०, पृ० ५५)।

मोहतरु = संवृत्तिबोधिचित्तं (बौ० दो०, च० ५, सं० टी०)। मोहरूप तरु जिसका अधिष्ठान बोधिचित्त में है (चर्या०, पृ० २६)।

यम = उत्तर वैदिक कथाओं में यम न्यायकर्ता या दंडविधान करनेवाले के रूप में दिखाई देते हैं और इसी कारण उन्हें धर्मराज या केवल धर्म कहा जाता है। धर्म या यम परवर्ती युग में बौद्ध धर्म के त्रिरत्नों के धर्म से अभिन्न हो गए। इसलिये यमदूत का अर्थ धर्मदूत (बौद्धधर्म में धर्म का दूत) है। रामाइ पंडित के शून्य पुराण में

'यमदूत संवाद' शीर्षक एक अध्याय है जिसमें यम और धर्म को अभिन्न माना गया है। उसी ग्रंथ में यमदूत के स्थान पर धर्मदूत शब्द का प्रयोग मिलता है। बौद्ध धर्म के धर्म संप्रदाय नाम के एक उपसंप्रदाय में यम को अत्यधिक ऊँचा स्थान दिया गया है (डा०, पृ० १३२)।

याब-युम (युगनद्ध)=यह एक तिब्बती शब्द है। तिब्बती में याब का अर्थ पूज्य पिता तथा युम का अर्थ पूज्या माता होता है। दोनों का संयुक्त रूप 'याब-युम' या युगनद्ध या पिता-माता का संपरिष्वक्त रूप है (देखिए—बुद्धिष्ट इकोनोग्रैफी, भट्टाचार्य, पृ० १६६; डा० पृ० १०१)।

योनि=रहस्य भाषा में इसका अर्थ है सभी वस्तुओं का स्रोत और वह वस्तु जिससे संपूर्ण संसार प्रकाशित हुआ है (डा०, पृ० ४३)।

रएखि क्लेशान्धकारं (बौ० दो०, च० १६, सं० टी)। क्लेशांधकार रूप रजनी (वही, बं० टी०)।

रजकी=कर्मकुली (स्ट० तं०, पृ० ३१)।

राति=स्वकाय क्लेशतमः (बौ० दो०, च० २८, सं० टी०)। क्लेशांधकार रूपा रजनी (चर्या०, पृ० १४०)।

रूअ=रूप इति भावग्रहः (बौ० दो०, च० ४६, सं० टी०)। रूप या भाव-ग्रह (वही, बं० टी०)। सोन या शून्यताग्रह का विरोधी। दो विकल्पों में से एक।

रूपा=रूपेत्यादि रूपवेदनासंज्ञासंस्कार विज्ञानादीनां (बौ० दो०, च० ८, सं० टी०)। वस्तुजगत; पंचस्कंधों में से एक।

ललना-रसना-अवधूती=३२ नाड़ियों में प्रमुख तीन नाड़ियाँ—ललना प्रज्ञा-स्वभावेन रसनोपाय संस्थिता। अवधूती मध्यदेशे तु ग्राह्यग्राहक वर्जिता॥ (हेवज्रतंत्र, प्रथम पटल; स्ट० तं०, पृ० ३१)।

वज्र=हीरा। सामान्यतया इसका अर्थ बिजली है। यह शून्य का प्रतीक है; यथा अद्वयवज्रसंग्रह में 'दृढं सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम्। अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते'–पृ० २३, ३७। उत्तरी बौद्धों का विश्वास है कि बुद्ध ने इसे इंद्र से छीनकर बौद्ध प्रतीक के रूप में स्वीकार कर लिया। वज्र के तीन शूल, बुद्ध, धर्म और संघ नामक त्रिरत्नों के प्रतीक हैं (डा०, पृ० ४–५)।

वज्रधर=वह व्यक्ति जो योगिनी-सत्य पर, जो सबका सार है, आरूढ़ रहता है, वही वज्रधर कहलाता है (डा०, पृ० १२८)।

वज्रसत्त्व=वज्र=बोधिचित्त=अद्वय=संबुद्ध=बोधि=प्रज्ञापारमिता=समता। प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि (पृ० १७८) में कहा गया है—एतद्द्वयमित्युक्तं बोधिचित्तमिदं परम्। वज्रश्री वज्रसत्त्वश्च सम्बुद्धो बोधिरेव च॥ (डा०, पृ० ३३)।

वज्रसत्त्वोगुह्यक=यह वज्रसत्त्व का पौराणिक रूप है। संधाभाषा में वज्र का अर्थ है शून्यता और सत्त्व का अर्थ है ज्ञान। अतः वज्रसत्त्व का अर्थ है—शून्यता का ज्ञान। अद्वयवज्रसंग्रह (पृ० २४) में—वज्रेण शून्यता प्रोक्ता सत्त्वेन ज्ञानमात्रता। तादात्म्यमनयोः सिद्धं वज्रसत्त्वस्वभावतः॥ (डा० पृ० १०६)।

वाजनाव=वज्र रूप नौका, शून्यता रूपी नौका (बौ० दो०, च० ४६)।

वाजुल=वज्रकुलेन वज्रगुरुणा (बौ० दो०, च० ३५, सं० टी०) वज्रकुल या वज्रगुरु (वही, सं० टी०)।

वामदहिण=वामदक्षिणाभासद्वयं (बौ० दो०, च० ८, सं० टी०)। चंद्रसूर्याभासौ (वही, च० ५, सं० टी०)। ग्राह्यग्राहक भाव (चर्या०, पृ० ४३)।

वाराही=६४ योगिनियों में से एक (डा०, पृ० २६)।

वारुणी=वारुणीति सन्ध्यावचने तदैव संवृत्तिबोधिचित्तं बोद्धव्यं (बौ० दो०, च० ३, सं० टी०)। 'वारुणीति सुखप्रमोदत्वात् बोधिचित्तं।' जिस प्रकार मद्यपान से सुखप्रमोद की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार धर्म-कार्य से उत्पन्न बोधिचित्त में आनंद प्रवाहित होता है। इसी से चित्त की वारुणी से तुलना की गई है (चर्या०, पृ० १६)।

विगोआ=विशिष्ट संयोगात्तरसुखानुभव (बौ० दो०, च० २०, सं० टी०)। विज्ञान। चित्त के अचित्तता में लीन होने पर जागतिक दुःख का अवसान तथा असीम महानंद का अनुभव होता है (चर्या०, पृ० १०६)।

वितर्क=यह मन की अर्द्धचेतन क्रिया है। यह एक प्रकार की मनोजल्पना है जो किसी न किसी विषय से संबद्ध रहता है। प्रारंभिक अवस्था में यह चेतना विशेष ही रहता है। सर्वथा चेतन अवस्था में आने पर यह विचार या प्रज्ञाविशेष में परिवर्तित हो जाता है (देखिए—'सेंट्रल कांसेप्शन आव बुद्धिज्म ऐंड दि मीनिंग आव दि वर्ड धर्म'—श्चेरवाट्स्की) वितर्क और विकल्प प्रायः समानार्थी हैं (डा०, पृ० ७२)।

विमन = विशिष्टमनसो परिशुद्धभूताः (बौ० दो०, च० ७, सं० टी०)। परिशुद्ध मन (वही, बं० टी०)।

विवाह = बहिर्मुखी प्रवाह का भंग करना (बौ० दो०, च० १६, बं० टी०)।

विषय = छः विषय हैं—(१) रूप धातु, (२) शब्दधातु, (३) गंधधातु, (४) रसधातु, (५) स्प्रष्टव्य धातु, (६) धर्मधातु या धर्म (डा०, पृ० १०३)।

विस = रूपादिविषयविपाकान् (बौ० दो०, च० ३६, सं० टी०)। विषय रूप विष (वही, बं० टी०) अमृत अर्थात् सहजानंद का विरोधी।

विहणि = ज्ञानोदय रूप प्रभात (बौ० दो, च० २३, बं० टी०)।

विज्ञान = (कांशसनेस) छः विज्ञान हैं—(१) चक्षुविज्ञान धातु, (२) श्रोत्रविज्ञान धातु, (३) घ्राणविज्ञान धातु, (४) जिह्वाविज्ञानधातु, (५) कायविज्ञानधातु (स्पर्श), (६) मनोविज्ञानधातु (डा०, पृ० १०३)।

वीर = वामाचार की साधना से सिद्धि प्राप्त करनेवाला साधक वीर कहलाता है (डा०, पृ० १३०)।

वीरनादे=शून्यतासिंहनादेन (बौ० दो, च० ११, सं० टी०)। शून्यता का सिंह के समान घोष।

वैरोचन = वैरोचन पंचध्यानी बुद्धों में प्रधान हैं। वैरोचन, विलोचन या विरोचन से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है नेत्र या ज्योति। वे सभी को ज्ञानज्योति से प्रकाशित करते हैं तथा निर्वाणमार्ग की ओर प्रेरित करते हैं, इसीलिये, उन्हें विरोचन कहते हैं। आर्यदेव के 'चित्त-विशुद्धिप्रकरण' में बताया गया है कि इनका अधिष्ठान नेत्रों पर है। इनका वर्ण उज्ज्वल है, जो ज्ञान का प्रतीक है (यथा सरस्वती का वर्ण) वे ज्ञान और धातु के युगनद्ध के प्रतीक के रूप में धर्मचक्रमुद्रा धारण करते हैं (डा०, पृ० ८)।

शशहर (षषहर) = ससहरबोधिचित्तचन्द्रः (बौ० दो०, च०२७, सं० टी०)। सद्गुरुप्रसादात् विलक्षणपरिशोधितं संवृत्तिबोधिचित्तं (वही, च० ४७, सं० टी०)। परिशुद्ध चित्त।

शासन=शासनमिति चक्षुरिन्द्रिय विषयरूपं (बौ० दो०, च० ४७, सं० टी०)। इंद्रियादि विषयसमूह।

शासु=श्वासं (बौ० दो०, च० ११, बं० टी०)। श्वासं पूर्वोक्तमनःपवनं (वही, बं० टी०)।

शुंडिनी = सा अवधूतिका शुण्डिनी (बौ० दो०, च० ३, सं० टी०)। अस्पृश्य या अतींद्रिय होने के कारण इसे कभी कभी डोंबी, चंडाली, शबरी आदि नामों से भी संबोधित करते हैं (चर्या पृ० १६)।

शुक=कर्पूरक (स्ट० तं०, पृ० ३०)। संधाभाषा में शुक का अर्थ वैरोचन है—शुक्रं वैरोचनं ख्यातं वज्रोदकं तथाऽपरम्। स्त्रीन्द्रियं च यथा पद्मं वज्रं पुंसेन्द्रियं तथा॥ —ज्ञानसिद्धि, २-२ ॥ (डा०, पृ० ५१)।

षिआल (शृगाल)=मरणादितः सर्व्वत्र बिभेति इति कृत्वा स एव संसार-चित्तः शृगालतुल्यः (बौ० दो०, च० २३, सं० टी०)। संसरणशील चित्त (वही, वं० टी०)। मृत्यु आदि से सर्वत्र शृगाल के समान भयभीत रहनेवाला सांसारिक चित्त।

षिहे=युगनद्धसिंहेन (बौ० दो०, च० ३३, सं० टी०)। युगनद्ध रूप सिंह।

सत्त्वयान = सत्त्वयान या बोधिसत्त्वयान अर्थात् महायान। महायान को ही सत्त्वयान या बोधिसत्त्वयान कहते हैं क्योंकि महायान का प्रत्येक नियमित अनुयायी बोधिसत्त्व है (डा०, पृ० १४५)।

सबरीवाली=सकार परो हकारः स एव पविधरः। तस्य गृहिणी ज्ञानमुद्रा नैरात्मा अंकारजा वसति (बौ० दो०, च० २८, सं० टी०)। बालिका शबरी, वज्रधर शबर की गृहिणी, ज्ञानमुद्रा नैरात्मा (वही, वं० टी०)।

समलोक=समलोक समाधि का लोक है जहाँ करुणा और शून्य या उपाय और प्रज्ञा या वज्र दोनों संयुक्त होते हैं (डा० पृ० १३८)।

सरवर=सरोवरं कायपुष्करं (बौ० दो०, च० १०, सं० टी०)। सरोवर रूप काया।

ससहर=शशहरं संवृत्तिबोधिचित्तं (बौ० दो०, च० १८, सं० टी०) (देखिए—"शशहर")।

सासु=श्वासम् (बौ० दो०, च० ४, सं० टी०)।

सुणमेहेली=नैरात्मा ज्ञानमुद्रा (बौ० दो०, च० ५०, सं० टी०)।

सुने=चतुर्थ पद शून्यं (बौ०, दो०, च० ४४, सं० टी०)। प्रभास्वर शून्य (चर्या०, पृ० २१२)।

सुने=तृतीयस्वाधिष्ठानशून्ये (बौ० दो०, च० ४४, सं० टी०)। आलोकादि-शून्यत्रय; स्वरूपस्थित चित्त (चर्या०, पृ० २१२)।

सुसुरा = श्वसुर, स्वरितादि श्वास (बौ० दो०. च० २, बं० टी०)। श्वासवायु।

सोन=सोनमिति शून्यताग्रहः (बौ० दो०, च० ४२, सं० टी०)। दो विकल्पों में से एक। भवग्रह का विरोधी (चर्या० पृ० २२८)।

सोने = स्वर्ण में, शून्यता में (बौ० दो०, च० ८, बं० टी०)।

स्कंध=संधाभाषा में पंचस्कंध पंचध्यानी बुद्धों के प्रतीक हैं किंतु मूलतः उनका अर्थ है—१–रूप, २–वेदना, ३–संज्ञा, ४–संस्कार, ५– विज्ञान। ज्ञानसिद्धि (पृ० ४१) में स्कंध की व्याख्या पूर्णतया पारिभाषिक रूप में की गई है—'पञ्चबुद्धस्वभावत्वात् पञ्चस्कंधा जिनाः स्मृताः'। (डा०, पृ० १३४)।

स्वभाव=शब्दतः इसका अर्थ है, अपना भाव। स्वाभाविक संप्रदाय आदि बुद्ध को स्वभाव कहता है। वैरोचन ही आदि बुद्ध हैं; अतः वैरोचन भी स्वभाव है (डा० पृ० २०)।

स्वर्गमर्त्यपाताल (तिनि)=बाह्ये स्वर्गमर्त्यरसातलमध्यात्मे कायवाक्चित्त-दिवारात्रिसन्ध्यायोगियोगिनीतन्त्रादिकं बोद्धव्यं (बौ० दो०, च० ७, सं० टी०)। बाह्य स्वर्ग, मर्त्य और पाताल आध्यात्मिक अर्थ में काय वाक् और चित्त हैं (वही, बं० टी०)।

हर=हर इति शुक्रनाडिका (बौ० दो०, च० ४७, सं० टी०)। शुक्रनाड़ी।

हरि=हरिरिति मूत्रनाड़ी (बौ० दो०, च० ४७, सं० टी०)। मूत्रनाड़ी।

हरिण=चित्त हरिणेन (बौ० दो०, च० ६, सं० टी०)। चंचलता, मात्सर्य आदि दोषों से युक्त होने के कारण चित्त को हरिण से तुलित किया गया है।

हरिणी=हरिणीति सन्ध्याभाषया सैव ज्ञानमुद्रा नैरात्मा (बौ० दो०, च० ६, सं० टी०)। हरिणी रूपी नैरात्मा।

हाँड़ी (त)=हन्डीते स्वकायाधारं (बौ० दो०, च० ३३, सं० टी०)। अपना देह रूप आधार (चर्या०, पृ० १६३)।

हूंभव—हूंकारबीजोद्भव चित्तराज (बौ० दो०, च० ३६, सं० टी०)। 'हूँकार' वज्रसत्व का बीज है। इससे उत्पन्न अर्थात् वज्रशून्यता या तथता से उत्पन्न बोधिचित्त (चर्या० ४०, पृ० १६२)।

हेय (हृदय)=रहस्य भाषा में हृदय ज्ञान का प्रतीक है—ज्ञानसिद्धि १५, पृ० ८१ (डा० पृ० ४५)।

हेरुक=बौद्ध देवताओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध देवता हैं। इनका नाम साधारणतया इनकी शक्ति के साथ आता है जो इनको संपरिष्वक्त रखती है और युगनद्ध अवस्था में रखती है। इनकी पूजा स्वतंत्र रूप से भी होती है और जब युगनद्ध अवस्था में रहते हैं तो इनकी दो या चार भुजाएँ होती हैं (बुद्धिष्ट इकोनोग्रैफी, भट्टाचार्य, पृ० ६१; डा०, पृ० १०१)।

———

७—कुछ महत्वपूर्ण उद्धरण

पतिते बोधिचित्ते तु सर्व्वसिद्धिनिधानके ।
मूर्च्छिते स्कन्धविज्ञाने कुतः सिद्धिरनिन्दिता ॥
—(रतिवज्रे) बौ० दो०, पृष्ठ २ ।

अनल्पसंकल्पतमोभिभूतं
प्रभञ्जनोन्मत्ततडिच्चलञ्च ।
रागादिदुर्वारमलावलिप्तं
चित्तं हि संसारमुवाच वज्री ॥
—(सम्पुटोद्भवतन्त्रराजे) बौ० दो०, पृष्ठ २ ।

न विना वज्रगुरुणा सर्व्वक्लेशप्रहाणकं ।
निर्व्वाणञ्च पदं शान्तमवैवर्तिकमाप्नुयात् ॥
—(श्री समाजे) बौ० दो०, पृष्ठ ३ ।

रागेण बध्यते लोको रागेणैव विमुच्यते ।
विपरीतभावना ह्येषा न ज्ञाता बुद्धतीर्थिकैः ॥
—(श्री समाजे) बौ० दो०, पृष्ठ ४ ।

पञ्चकामान् परित्यज्य तपोभिन्न च पीड़येत् ।
सुखेन साधयेद् बोधिं योगतन्त्रानुसारतः ॥
—(श्री समाजे) बौ० दो०, पृष्ठ ४ ।

यथा चित्रकरो रूपं यक्षस्यातिभयङ्करम् ।
समालिख्य स्वयं भीतः संसारे ह्यबुधस्तथा ॥
—(आगमः) बौ० दो०, पृष्ठ ६ ।

दृढं सारमशौषीर्य्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम् ।
अदाही अविनाशी च शून्यता वज्रमुच्यते ॥

—(योगरत्नमालायां) बौ० दो०, पृष्ठ ८ ।

भवस्यैव परिज्ञाने निर्व्वाणमिति कथ्यते ।

—(आगमः) बौ० दो०, पृष्ठ १५ ।

तस्मात् सहजं जगत् सर्व्वं सहजं स्वरूपमुच्यते ।
स्वरूपमेव निर्व्वाणं विशुद्धाकारचेतसा ॥

—(श्री हेवज्रे) बौ० दो०, पृष्ठ २० ।

प्राणी वज्रधरः कपालवनितातुल्यो जगत्स्त्रीजनः
सोहं हेरुकमूर्तिरेष भगवान् यो नः प्रभिन्नोऽपि च ।
श्रीपद्मं मदनश्च णोकुदहनं (?) कुर्व्वन् यथा गौरवात्
एतत् सर्व्वमतीन्द्रियैकमनसा योगीश्वरः सिध्यति ॥

—(दङ्तीपादाः) बौ० दो०, पृष्ठ २२ ।

येन चित्तेन ते बाला संसारे बन्धनं गताः ।
योगिनस्तेन चित्तेन सुगतानां गतिं गताः ॥

—(नागार्ज्जुनपादैः) बौ० दो०, पृष्ठ २३ ।

वज्रोत्थानं सदा कुर्य्याचन्द्रार्धगतिभञ्जनात् ।
अन्यथा नावधूत्यंशे विशति प्राणमारुतः ॥

—(विरूपाक्षपादाः) बौ० दो०, पृष्ठ २८ ।

यस्य स्वभावो नोत्पत्तिर्विनाशो नैव दृश्यते ।
तज्ज्ञानमद्वयन्नाम सर्व्वसंकल्पवर्ज्जितम् ॥

—(अद्वयसिद्धौ) बौ० दो०, पृष्ठ ३६ ।

यथा नदीजलात् स्वच्छात् मीने उत्पततिद्रुतम् ।
सर्व्वशून्यात्तथा स्वच्छात् मायाजालमुदीर्य्यते ॥

—(आगमः) बौ० दो०, पृष्ठ ६५ ।

———

सहायक ग्रंथ, पत्र तथा पत्रिकाएँ

संस्कृत

अद्वयवज्रसंग्रह—सं० हरप्रसाद शास्त्री, गायकवाड ओरियंटल सिरीज, बड़ौदा, १९२७।

अभिधर्मकोष—वसुबंधु प्रणीत, राहुल सांकृत्यायन की टीका सहित, काशी विद्यापीठ, काशी, सं० १९८८।

अमरकोष—The Namalinganusasana (Amarakosha) of Amarasimha, edited by Krishnaji Govind Oke, Poona, 1913.

अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता—Bibliotheca Indica, Asiatic Society of Bengal, edited by Rajendra Lal Mitra, Calcutta, 1888, Sambat 1945.

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प—सं० टी० गणपति शास्त्री प्रथमो भागः, अनन्तशयन संस्कृत ग्रथावलिः, ग्रन्थाङ्क ७०, त्रिवेन्द्रम १९२०। द्वितीयो भागः १९२१। तृतीयो भागः १९२५।

ऋग्वेद संहिता = पं० दामोदर भट्ट सम्पादित, औन्ध, द्वितीय संस्करण, खिष्टाब्द १९४०।

कठोपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २००६।

,, —Eight Upanishads, Sri Aurobindo, Pondichery, 1953.

कर्पूरादिस्तोत्र—Tantrik Texts, Vol. IX, edited by Aurthur Avelon, Luzac & Co., London, 1922.

कौलज्ञाननिर्णय—Edited by Dr. Prabodh Chandra Bagchi, Calcutta Sanskrit Series, 1934.

गुह्यसमाजतंत्र—Edited by Dr. Benoytosh Bhattacharyya, Gaekwad's Oriental Series, Oriental Research Institute, Baroda, 1931.

छान्दोग्योपनिषद्—आनन्द संस्कृत ग्रंथावलि, काशी, शकाब्द १८३५, सन् १६१३ ।

ज्ञानसिद्धि—Two Vajrayana Works, Dr. B. Bhattacharyya, G. O. S., Baroda, 1929.

तंत्रालोक—अभिनवगुप्त, प्रथमो भागः, सं० मुकुन्द राम शास्त्री, Kashmir Series of Texts and Studies, Srinagar, 1918.

तत्वसंग्रह—शांतिरक्षित रचित, edited by Dr. Benoytosh Bhattacharyya, Gaekwad's Oriental Series, Baroda, Vol. I, II, Translated into English by, Ganganath Jha, Baroda, Oriental Institude, 1937.

तैत्तिरीयोपनिषद् – गीताप्रेस, गोरखपुर ।

" —Eight Upanishads, Sri Aurobindo, Pondichery, 1953.

दीघ निकाय—Pali Text Seciety, edited by Prof. T. W. Rhys Davids and Prof. J. S. Carpenter; Vol I, II, III; London, Published for the Pali Text Society by Henery Frowde, Oxford University Press, Ware House, Amen Corner, E. C. 1890.

धम्मपद—Translated and edited by Dr. S. Radhakrishnan, Oxford Univertity Press, 1950.

पातञ्जलयोग सूत्रीय व्यास भाष्य—श्री ताराचरण तर्करत्न परिशोधिता, श्री युक्त बाबू अविनाशी लालस्य आज्ञया, मुंशी हरिवंशलालेन मुद्रिता, सम्वत् १९३२ सूरे, वाराणसी इष्टाराख्य मन्त्रालये, लक्ष्मीकुण्डे।

प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि—Two Vajrayana Works, Dr. B. Bhattacharya, G. O. S., Baroda, 1929.

बृहदारण्यकोपनिषत् - आनन्द संस्कृत ग्रन्थावलिः, काशी, शकाब्द १८२४, सन् १९०२।

मज्झिम निकाय—Pali Text Society, Vol. I London, Published for the Pali Text Society by Henry Frowde, University Press, Ware House, Amen Corner, E. C. 1888.

मध्यान्तविभागसूत्रभाष्यटीका—of Sthiramati (Being a subcommetary on Vasubandhu's Bhasya on the मध्यान्तविभागसूत्र of Maitreyanath), Part I edited by Mm. Vidhushekhar Bhattacharya and Guiseppe Tucci, Calcutta Oriental Series, No. 24, 1932, Published by Luzac & Co., London, 1932.

मानमेयोदय—नारायण रचित, सं० सी० कुन्हन राजा और एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री, थियोसोफिकल पब्लीशिंग हाउस, आड्यार, मद्रास, १९३३।

मूलमाध्यमिककारिकावृत्ति—(Mula Madhyamik karikas-Madhyamika Sutras) De Nagarjune avee la प्रसन्नपदा Commentarre de Candrakirti, Public Par,—Louio La Vallie Poussin, Petersbourg, 1903.

मेघदूत—कालिदास ग्रंथावली, सं० पं० सीताराम चतुर्वेदी ।

योग दर्शन—(पातञ्जल योग दर्शन)—महर्षि पतंजलि कृत, हिंदी व्याख्या सहित, गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २०११ ।

योगसूत्र—चौखंबा संस्कृत सिरीज, भोजवृत्ति सहित, चौखंबा, काशी, सं० १९८७ ।

लंकावतार सूत्र—Edited by Sri Sarat Chandra Das and Satis Chandra Acharya, B. T. Society of India, 1900.

वज्रसूची—(The Vajrasuci of Asvaghosa), Sujitakumar Mukhopadhyaya, The Sino—Indian Cultural Society, Santiniketan, India, 1950.

शतपथब्राह्मण—माध्यन्दिनशाखीय, द्वितीय भाग, अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, काशी, सं० १९९७ ।

शारदातिलकम्—लक्ष्मण देशिकेन्द्र विरचित, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, बनारस सिटी, १९३४ ।

श्री चक्रसंभारतंत्रम्—Tantrik Texts, Vol. 7, General editor-Arthur Avelon, editor—Kazi Dawasam Dup, Luzac & Co., London, 1919.

श्रीमद्भगवद्गीता—गीताप्रेस, गोरखपुर ।

षटचक्रनिरूपण—Tantrik Texts, Vol. II, edited by Taranath Vidyaratna, Luzac & Co., London, 1941.

सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रम् Romanized and revised Text of Bibliotheca Buddhica by consulting a Skt. Ms. and Tibeten and Chinese Translations by Prof. U. M. Wogihrra and C. Touchida, I Tokiyo, 1934.

सर्वदर्शनसंग्रह—श्रीमन्माधवाचार्य प्रणीतः, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथावलि, ग्रंथांक ५१, पुण्याख्यपत्तन (पूना), शालिवाहन शकाब्दाः १८२८, खिस्ताब्दाः १९०६।

साधनमाला—Part II, edited by Dr. B. Bhattacharyya, G. O. S., Baroda (Part I in 1925, Part II in 1928).

सुवर्णप्रभास—edited by Rai Sarat Chandra and Pt. Sarat Chandra Shastri, Buddhist Society of India.

सुवर्णप्रभास सूत्रम्—Prof. Bunyen Nanjio and Hokei Idzumi, the Eastern Buddist Society, Kyoto, 1931.

सेकोद्देशटीका—नाड़पाद रचित, edited by M. E. Karelli, G. O. S., Baroda, 1941.

सौंदरनंद—आर्यभदन्त अश्वघोष प्रणीतम्। महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्रिणा सम्पादितम्। एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित १ पार्क स्ट्रीट, कलकत्ता, १९१०।

हठयोगप्रदीपिका—स्वात्माराम योगीन्द्र विरचित, क्षेमराज श्रीकृष्णदास वेङ्कटेश्वर प्रेस में मुद्रित तथा प्रकाशित, मुम्बई, संवत् २००६, शकाब्द १८७४।

× × ×

अपभ्रंश, हिंदी, बँगला

चौरासी सिद्ध कौन थे ?—पं० परशुराम चतुर्वेदी, आल इंडिया ओरियंटल कांफ्रेंस, १६५० में पठित तथा साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग से पृथक्तः मुद्रित एवं प्राप्य।

डाकार्णव—Edited by Dr. Nagendra Narayana Chaudhari, Metropolitan Printing and Publishing House Ltd., Calcutta, 1935.

तिब्बत में बौद्ध धर्म—राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९४८।

दीघ निकाय—अनुवादक—राहुल सांकृत्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप, प्रकाशक—महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, बुद्धाब्द २४७६, १६३६ ई०।

दोहाकोश—सं० राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशक-बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, बिहार, १६५७ ई०।

दोहाकोष—Edited and Translated into English by Dr. P. C. Bagchi, Calcutta University, Calcutta, 1935.

नाथ संप्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदुस्तानी एकेडेमी, उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद, १६५०।

नाथ संप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधना-प्रणाली (बंगला)—डा० कल्याणी मल्लिक, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, १६५० ।

पुरातत्व निबंधावली—राहुल सांकृत्यायन, इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, १६३७ ।

प्राचीन बांगाला साहित्येर इतिहास (बंगला)—डा० तमोनाशचंद्र दासगुप्त, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, १६५१ ।

बौद्ध गान ओ दोहा (बंगाक्षरों में)—सं० महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री । बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता, द्वितीय मुद्रण (संस्करण), भाद्र, बंगाब्द १३५८ ।

बौद्ध दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय, शारदा मंदिर, बनारस, १६४६ ई० ।

बौद्ध दर्शन—राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, १६४८ ।

बौद्ध-धर्म-दर्शन—आचार्य नरेंद्रदेव, भूमिका लेखक महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १६५७ ।

भागवत संप्रदाय—पं० बलदेव उपाध्याय, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१० ।

भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय, शारदा मंदिर, काशी, द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण; १६५४ ।

मज्झिम निकाय—अनुवादक—राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशक—महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, बुद्धाब्द २४७७, १६३३ ई० ।

महायान—भदंत शांतिभिक्षु, प्रकाशक श्री पुलिन विहारी सेन, विश्वभारती, ६।३, द्वारकानाथ ठाकुर लेन, कलकत्ता ।

राजगुरु योगिवंश (बंगला)—श्री सुरेशचंद्रनाथ मजुमदार, प्रकाशक—श्री प्रमथनाथ नाथ, राणाघाट, नदीया, आग्रहायण, १३५१ (बंगाब्द), तृतीय संस्करण ।

वर्णरत्नाकर—ज्योतिरीश्वर कविशेखराचार्य प्रणीत, edited by Suniti Kumar Chatterji and Babua Misra, Published by the Royal Asiatic Society of Bengal, Calcutta, 1940.

विशुद्धिमार्ग, पहला भाग—अनुवादक, भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, बुद्धाब्द २५००, ईस्वी सन् १९५६।

Siddha Siddhanta Paddhati and Other Works of Nath Yogis—edited by Dr. Kalyani Mallik, Poona Oriental Book House, Poona, First Impression, 1954.

हिंदी साहित्य की भूमिका—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बंबई, चतुर्थ संस्करण, १९५०।

अंग्रेजी

A Historical Study of the Terms Hinayana and Mahayana and the Origin of Mahayana Buddhism—R. Kimur, University of Calcutta 1927.

A History of Indian Literature—H. H. Gowen.

A History of Indian Literature—Maurice Winternitz, Vol. II, English Translation by Mrs. S. Ketkar and Miss M. Kohn, Published by University of Calcutta, 1933,

A History of Indian Philosophy—S. K. Belvalkar and R. D. Ranade, Vol. II, Poona, 1927,

A History of Indian Philosophy—S. N. Dasgupta, Cambridge, Vol. I, 1922; Vol. II, 1932.

A History of Sanskrit Literature—A. A. Macdonall, William Heinemann Ltd., London, 1925.

An Introduction to Buddlist Esoterism—Dr. Benoytosh Bhattacharya, Humpery Milford, Oxford University Press, 1932.

An Introduction to Tantric Buddhism—Dr. Shashibhushan Dasgupta, University of Calcutta, 1950.

Aspects of Mahayana Buddhism and its Relation to Hinayana—N. Dutta, Luzac & Co., London, 1930.

Buddha and the Gospel of Buddhism—A. Coomarswami, George G. Harrip & Company, London, 1916.

Buddhism in Translation—Waren, Clarke Henery.

Buddhist Remains in Andhra and the History of Andhra Between 225 and 600 A. D.—K. R. Subrahmanian, Madras, 1932.

Eight Upanisads—Sri Aurobindo, Pondichery, 1953.

Encyclopedia of Religion and Ethics—James Hastings, Vol. 12, Edinburgh, 1921.

Handbook of the History and Development of Philosophy—Rev. I. O, Bevan, Chapman & Hall Ltd., London, 1916.

Hinduism and Buddhism, An Historical Sketch—Sir Charles Illiot, Vol. I., London, Edward Arnold & Co., 1921.

Historical Grammar of Apabhramsa—G. V. Tagare, Daccan Callege, Dissertation Series, 5; Daccan College Post Graduate and Research Institute, Poona, 1948, First edition.

Indian Philosophy—Dr. S. Radhakrishnan, George Allen Unwin Ltd., London; Vol I, 1927; Vol II, 1951.

Introduction to Tantrashastra—Sir John Wood roffe, Ganesh & Co., (Madras), Ltd., Madras, 17, 2nd. edition, 1952.

Kashmira Shavism—Jagadish Chandra Chatterji, Part I., The Kashmire Series of Texts and Studies, Srinagar, Kashmira, 1914.

Manual of Indian Buddhism—H. Kern, Grundriso Der Indo—Arichen Philologie and Altertums-kunde—Von George Bulher, Stresburg, Verlog Von Karl J. Trubner, 1896.

Modern Buddhism and its Followers in Orissa—Nagendra Nath Bose, Calcutta, 1911.

Mystic Tales of Lama Taranath—Translated into English by Dr. Bhupendre Nath Dutt, Ram-krisna Vedanta Math, 19B, Raja Rama-krishna Street, Calcutta, 1944.

Obscure Religious Cults—Dr. Shashibhushan Dasgupta, University of Calcutta, 1946.

On some Aspects of the Doctrines of Maitraya (nath) and Asanga—G. Tucci, University of Calcutta, 1930.

Outlines of Mahayana Buddhism—D. T. Suzuki, London, 1907.

Philosophy of Hindu Sadhana—Sri Nalinikanta Brahma, Kegan Paul, French, Trubner & Co., Ltd., 38, Russell Street, W. C. I. London, 1932.

Post Chaitanya Sahajiya Cult—Manindra Mohan Bose, Calcutta, 1930.

Siksa Samucchaya—Compiled by Santideva, Translated from Sanskrit by Cecil Bendall and W. H. D. Rouse, London, 1922.

Studies in the Lankavatara Sutra—Daisety Teitars Suzuki, London, George Routledge & Sons Ltd., 1930.

Studies in the Tantras, Part I, Dr. Prabobh Chandra Bagchi, University of Calcutta, 1939.

Systems of Buddhistic Thought—Yamakami Sogen, Published by the University of Calcutta, 1912.

The Indian Buddhist Iconography (mainly based on the Sadhanamala and other cognate

Tantrik texts of rituals)—Dr. B. Bhattacharyya, Oxford University Press, Calcutta, 1925.

The Origin and Development of Bengali Language, Part I, Dr. Suniti Kumar Chatterji, Calcutta University Press, 1926.

Two Vajrayana Works—edited by Dr. B. Bhattacharyya. G. O. S., 1929

Yuganaddha (The Tantrik view of life), Dr. Herbert Guenther, The Chaukhambha Sanskrit Series, Vol III, Banaras, 1952.

बँगला तथा अंग्रेजी की पत्र पत्रिकाएँ—

उत्तरा, वर्ष ३, ४—"बौद्ध तांत्रिक धर्म"—म० म० गोपीनाथ कविराज ;
शनिवारेर चिठि (बँगला), आश्विन, १३५१ बंगाब्द ।

Jha Research Institute Journal,. Vol II. Part I. 1449—"The Mystic Significance of 'Evam—' M.M. G. N. Kaviraj.

Journal of Asiatic Society of Bengal—1833, 1898,
Journal of Royal Asiatic Society—1915.

Journal of the Department of Letters, Calcutta University Press, Calcutta, Vols, XXVIII, XXX, 1935, 1938

The Indian Historical Quarterly 1925, 1928, 1931, 1933, 1934, 1935, 1939, 1915, 1951

अन्य सहायक ग्रंथ —

ऊहापोह—भदंत शांतिभिक्षु, बुद्धविहार, लखनऊ।

An Outline of the Religious Literature of India—Farquhar and Griswold.

Early History of the Spread of Buddhism and Buddhist Schools—N. Dutt.

Encylopeadia of Religion and Ethics—James Hastings, Vols. 9, 12.

Assamese—Its Formation and Development, Vanikant Kakati, Gauhati, 1914.

Shakti and Shakta—Woodroff.

The Philosophy of the Upanishads—Dr. P. Deussen, Edinbergh, 1919.

Yoga Philosophy—S. N. Dasgupta.

———

अनुक्रमणिका

आ

छ

ज

तुरीय १६०, १६१

श

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	८	भिक्षुक	भिक्षु
६	२२	१७७३	१७७'३
१६	१८	जिस योग को ने	ने जिस योग को
२०	२०	आर्यमाग	आर्यमार्ग
२३	१२	समाघान	समाधान
२६	६	लोभों	क्षोभों
३०	११	अघक	अंधक
३४	१२	शताद्धी	शताब्दी
३६	१	(जोड़िए)	६-समाधिराजसूत्र (४५० ई०)
४०	१५ तथा आगे बोधिसत्व		बोधिसत्त्व
४१	२५	पादटिप्पणि	पादटिप्पणी
४२	२३	अमिताभ	अमिताभ
४२	२६	मेद	भेद
४४	६	समाघि	समाधि
४७	१७	महा-	महायान
५५	१३	समुद्य	समुदय
५६	१३	प्रत्यद्ध	प्रत्यक्ष
६७	१६	उपलब्घ	उपलब्ध
६७	१७	पूण	पूर्ण
६८	१२	मैत्रेयनाथ	मैत्रेयनाथ और असंग
७६	१	अमिताम	अमिताभ
७६	१२	सारसत्व	सारतत्व

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७६	४ तथा आगे	उपरोक्त	उपर्युक्त
८०	१०	निर्माण	निर्वाण
८६	१५	विनयतोष	बिनयतोष
८७	२	विमुक्त	विमुत्व
९१	१८	साधनामाला	साधनमाला
९३	२२	वाण	बाण
९३	२३	एस० वी०	सी० वें०
९३	२५	पादटिप्पणि	पादटिप्पणी
९४	१०	साधना	साधन
९४	२२	वाणभट्ट	बाणभट्ट
९५	१३	साधनाओं	साधनाओं
९६	२१	बज्रयान	वज्रयान
९६	२४तथाआगे	रिलिजस (रि०)	रेलिजस (रे०)
९८	१५	मंत्रधारिणी, धर्मधारिणी	मंत्रधारणी, धर्मधारणी
९९	२४	विजयतोष	विनयतोष
१०१	१०	बोधिचित्तोत्साद	बोधिचित्तोत्साद
१०३	१५	१९९८	१८९८
१०५	२	संस्थापक	के संस्थापक
१०७	१९	सिद्धो	सिद्धों
१०८	५	मट्टाचार्य	भट्टाचार्य
१०८	१०	निर्साणकाल	निर्माणकाल
११२	७	आदिक्रमप्रदीप	आदिकर्मप्रदीप
११२	१०	व्रतो	व्रतों
११६	१८	मोजनादि	भोजनादि
११८	२१	विनिश्चयसिद्धि	विनिश्चयसिद्धि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२६	१२	दाशनिक	दार्शनिक
१२६	१६	अछेद्य	अच्छेद्य
१३३	३	व्यक्तियों	व्यक्तियों
१३५	२२	बिहार	विहार
१३८	१३	अपने अविद्या	अविद्या के
१४०	६	मथुन-पिंड	मैथुन-पिंड
१४१	३	नैरात्म	नैरात्मा
१४६	१८	बौद्धों	बौद्धों ने
१५१	१६	विनयतोप	विनयतोष
१५३	७	गुह्यममाज	गुह्यसमाज
१६३	५	उसमें गृहस्थ	गृहस्थ
१६६	१५	नरेंद्रनारायण	नगेंद्रनारायण
१७०	१	बौद्ध	बौद्ध
१७१	१५	गुरू	गुरु
१७४	१	कृष्णपाद	कृष्णपाद
१७५	२५	दोहाकोष	दोहाकोश
१७८	२	शिप्य	शिष्य
१९२	२२	स्रोतापत्र	स्रोतापन्न
१९३	१८	वाद	बाद
१९६	२०	धर्ममेधा	धर्ममेघा
१९७	७	माध्यम मार्ग	मध्यम मार्ग
२०२	७	साधाना	साधना
२०२	१०	सभी सिद्ध	सभी सिद्धियाँ
२०५	१३	विद्याधराप्सरो	विद्याधरोऽप्सरो
२०७	१८	काव्यव्यूह	कायव्यूह

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१३	१७	शवरानंद	शाबरानंद
२१६	१	सूवियों	सूचियाँ
२४०	७	व्यूह	व्यूह
२५५	३	२१	२२
२६१	१६	ग्रथों	ग्रंथों
२६३	१५	"दोहाकोषों"	"दोहाकोश"
२६५	१३	डकार्णव	डाकार्णव
२७२	२४-२५	चनंतीहैव	जानन्तीहैव
२८५	१	अधिक के अधिक	अधिक से अधिक
२६२	१७	चर्यांगीतियों	चर्यांगीतियों
२६६	२०	प्रमाण	प्रमाण
३०३	११	दिव्याचार	दिव्याचार
३१५	६	बं० टी०	बं० टी०
३२०	२२	आज्ञानेनावृता	अज्ञानेनावृता

